बी.कॉम./बी.ए (प्रोग्राम) प्रथम वर्ष अर्थशास्त्र

प्रश्नपत्र 4 / अनुशासन पाठ्यक्रम
अर्थशास्त्र के सिद्धान्त/व्यष्टिगत अर्थशास्त्र के सिद्धान्त
अध्ययन सामग्री : 1

मुक्त शिक्षा विद्यालय
(मुक्त शिक्षा परिसर)
दिल्ली विश्वविद्यालय

अर्थशास्त्र-विभाग

सम्पादक : जन्मेजॉय खूंटिया

स्नातक पाठ्यक्रम

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त/व्यष्टिगत अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

विषय सूची

I. अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याएँ

II. उपभोक्ता माँग का सिद्धान्त

1. कीमत प्रकिया : माँग तथा पूर्ति विश्लेषण
2. उपयोगिता विश्लेषण
3. अधिमान वक्र विश्लेषण
4. माँग की लोच

संपादक : जन्मेजॉय खूंटिया

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

शिक्षा सत्र 2012-13

© मुक्त शिक्षा विद्यालय

कार्यकारी निदेशक, मुक्त शिक्षा विद्यालय, 5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007 द्वारा प्रकाशित।
लेज़र टाईपसैटिंगः गेटवे एसाइन्मेंट। 16/2022-13

अर्थव्यवस्था की केंद्रीय समस्याएँ
(Central Problems of an Economy)

मानवीय इच्छाओं को संतुष्ट करने के लिए भौतिक साधनों के उत्पादन, वितरण एवं उपभोग से संबंधित संस्थागत व्यवहार ही किसी आर्थिक प्रणाली का विशिष्ट लक्षण है। किंतु ऐसी किसी भी प्रणाली के मूल में सदैव ही कुछ सामान्य आर्थिक समस्याएँ पाई जाती हैं। यद्यपि प्रत्येक आर्थिक प्रणाली की अपनी विशेषताएँ होती हैं फिर भी ये आर्थिक समस्याएँ ऐसी हैं जो कि सभी अर्थव्यवस्थाओं में पाई जाती हैं।

सभी आर्थिक समस्याओं की जड़ अल्पता है

किसी भी अर्थव्यवस्था को, चाहे वह सरल हो या जटिल, विकसित हो या अल्पविकसित, मुक्त हो या नियंत्रित इन तीन मूलभूत तथा परस्पर संबंधित (interdependent) आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है :

(1) किन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाए तथा कितनी मात्रा में?

(2) किस प्रकार इन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाए अर्थात् किन विधियों या तकनीकों या किन साधन मिश्रणों द्वारा इसका उत्पादन किया जाए?

(3) किस प्रकार उत्पादित वस्तुओं का समाज के सदस्यों में वितरण किया जाए अर्थात् किन लोगों के लिए वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाए?

यदि साधन असीमित होते तथा उनके वैकल्पिक प्रयोग होते, तो किन वस्तुओं का, किस प्रकार तथा किन लोगों के लिए उत्पादन किया जाए, ये सब समस्याएँ उत्पन्न ही नहीं होती। साधनों की सीमितता तथा वैकल्पिक प्रयोग की संभावना के कारण ही चुनाव की समस्याएँ पैदा होती हैं। आजकल की दुनिया में मनुष्य की आवश्यकताएँ, जिन्हें कि वस्तुओं के उपभोग द्वारा संतुष्ट किया जा सकता है, असीमित हैं। व्यक्ति की इच्छाओं की तुलना में विद्यमान साधनों (अच्छा खाना, कपड़ा, मकान, पढ़ाई-लिखाई, मनोरंजन आदि) की पूर्ति बहुत ही अपर्याप्त है।

मान लीजिए कि अर्थव्यवस्था के पास भूमि, श्रम व पूंजी के रूप में असीमित साधन हैं। ऐसी स्थिति में वहां पर कोई भी आर्थिक समस्या नहीं होगी क्योंकि ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था पर्याप्त मात्रा में वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन कर सकती है जिससे कि सभी व्यक्तियों की सभी इच्छाओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से पूरा किया जा सकता है। तब वहां पर कोई भी आर्थिक वस्तु नहीं होगी। अर्थात् कोई भी वस्तु मांग की तुलना में सीमित नहीं होगी और इस प्रकार अर्थशास्त्र के अध्ययन की संभवतः आवश्यकता ही न होगी। सभी वस्तुएँ वायु अथवा धूप की भांति निःशुल्क (free) होंगी। किंतु वास्तविकता यह है कि व्यक्तियों द्वारा इच्छित वस्तुओं व सेवाओं का थोड़ी मात्रा में ही उत्पादन करना संभव है।

1. क्या उत्पादन किया जाए? (What to produce)

साधनों को एक से अधिक प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रम की इकाई को एक भूमि के टुकड़े पर कृषि के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है अथवा फैक्ट्री निर्माण या मकान बनाने के लिए भी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उत्पादन साधनों को उन सारी क्रियाओं के लिए जिनके लिए यह आवश्यक है, एक ही समय में उपलब्ध नहीं कराया जा सकता और इसीलिए समाज को इन विभिन्न क्रियाओं के प्रयोग में से चुनाव करना पड़ता है। साधन के 'अ' प्रयोग का चुनाव करने का अर्थ हुआ प्रयोग 'ब', 'स', 'व', 'द' को अस्वीकारना। यदि किसी उत्पादन साधन अथवा उत्पादन साधनों के ही मिश्रण को एक वस्तु (जैसे कि स्टील) के उत्पादन में प्रयोग किया जाए, तब यही उत्पादन साधन किसी दूसरी वस्तु (जैसे कि खाद्यान्नों) के उत्पादन में उपलब्ध नहीं होंगे। अतः खाद्यान्न का उत्पादन अपेक्षाकृत कम होगा। इसी प्रकार यदि समाज वर्तमान में अधिक उपयोग करने का निर्णय करता है, तो भविष्य के लिए उपभोग कम करना होगा अर्थात् मशीनरी तथा पूंजीगत वस्तुओं के लिए (जो कि भविष्य में अधिक उपभोग वस्तुओं का उत्पादन कर सकती है) कम उत्पादन सोधन बचेंगे। अतः यह प्रश्न कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया

जाए तथा किन वस्तुओं का नहीं, सीमित साधनों के वैकल्पिक प्रयोगों (alternative uses) में आवंटन (allocation) की समस्या से संबंधित है।

साधनों के आवंटन या वितरण (resource allocation) के लिए हमें दो प्रकार की सूचनाएँ चाहिए। एक तो हमें लोगों की इच्छाएँ, इनकी अधिमान तीव्रता (preference intensity) के अनुसार ज्ञात होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में साधनों के युक्तियुक्त आवंटन (systematic allocation of resources) के लिए समाज को अपनी आवश्यकताओं की प्राथमिकतानुसार (according to priority) निश्चित करना चाहिए। दूसरे दिए गए साधनों की सहायता से वस्तु की विभिन्न उत्पादन संभावनाओं (production possibilities) के बारे में भी सूचना उपलब्ध होनी चाहिए। इस प्रकार की सूचना-उत्पादन संभावना वक्र (Production Possibilities Curve) से उपलब्ध होती है। ये दोनों कारक (अर्थात्-अधिमान तथा उत्पादन संभावनाएँ) मिल कर कीमतों का निर्धारण करते हैं। इन कीमतों के आधार पर ही साधनों का विभिन्न प्रयोग में आवंटन संभव होता है।

2. कैसे उत्पादन किया जाए? (How to Produce)

दूसरी समस्या साधनों के संगठन से संबंधित है अर्थात् तकनीक के चुनाव की समस्या। यह समस्या तब पैदा होती है जबकि वस्तुओं के उत्पादन के एक से अधिक संभव तरीके हों। उदाहरण के लिए कृषि वस्तुओं का उत्पादन दो तरीकों से किया जा सकता है। पहला तरीका है अधिक भूमि पर विस्तृत खेती (Extensive cultivation) जिसमें कि मशीन और खाद जैसे साधनों का अल्प मात्रा में प्रयोग किया जाता है और भूमि का अधिक दूसरा तरीका है कम भूमि पर गहन खेती (Intensive cultivation) जिसमें की खाद, श्रम व मशीन जैसे साधनों का अधिक मात्रा में तथा भूमि का कम मात्रा में प्रयोग किया जाता है। किसी वस्तु की समान मात्रा उत्पादन करने के लिए दोनों तरीकों का प्रयोग किया जा सकता है। एक तरीका भूमि की बचत करता है तथा अन्य साधनों का अधिक मात्रा में प्रयोग करता है जबकि दूसरा तरीका भूमि की अधिक मात्रा का प्रयोग करता है तथा पूंजी आदि अन्य साधनों की बचत करता है। औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रायः इस प्रकार की संभावनाएँ होती हैं अर्थात् इस क्षेत्र में भी किसी वस्तु का कई विभिन्न तकनीकों के द्वारा उत्पादन करना संभव है। यह विभिन्न तकनीकें उदाहरण के तौर पर दो प्रकार की हो सकती हैं, एक तो अति 'श्रम प्रधान' (Highly Labour Intensive) जिसमें श्रम अधिक तथा पूंजी उपकरण कम और दूसरी 'पूंजी प्रधान' (Capital Intensive) जिसमें कि मशीनें अधिक तथा श्रम कम मात्रा में प्रयुक्त होता है। परंतु यह विकल्प केवल उस सीमा तक उपलब्ध होगा जहाँ तक कि उत्पादन के एक साधन के स्थान पर दूसरे को प्रतिस्थापित (substitute) किया जा सके।

3. किसके लिए उत्पादन किया जाए? (For whom to produce)

तीसरी समस्या राष्ट्रीय आय के समाज के सदस्यों में वितरण से संबंधित है। क्योंकि एक अर्थव्यवस्था केवल सीमित मात्रा में ही वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन कर सकती है (साधनों की परिमितता के कारण), अतः सभी व्यक्तियों को सभी इच्छाओं को पूर्ण करना संभव नहीं हो पाता। यह बात समाज के लिए उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं की सीमित मात्रा को विभिन्न व्यक्तियों व समुदायों में वितरण करने का आधार ढूंढ़ने की समस्या को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था को यह निर्णय करना पड़ेगा कि इस सीमित उत्पादन को कौन लोग प्राप्त करेंगे और कितनी मात्रा में तथा कौन लोग इससे वंचित रहेंगे अथवा दूसरे शब्दों में, किस सिद्धांत के आधार पर राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण होगा।

उत्पादन संभावना वक्र
(Production Possibilities Curve)

अब प्रश्न यह है कि कोई अर्थव्यवस्था कितनी वस्तुएं और सेवाएं उत्पन्न कर सकती है? यह इस बात पर निर्भर करेगा कि (अ) अर्थव्यवस्था में भूमि, श्रम व पूंजी कितनी मात्रा में उपलब्ध है, (ब) ये साधन कितने कार्यकुशल हैं, (स) समुदाय के पास उपलब्ध तकनीक का स्वरूप क्या है? प्रयत्न करने से संभव है अतिरिक्त भूमि को खेती योग्य बनाया जा सके। जनसंख्या में वृद्धि द्वारा अधिक श्रम की प्राप्ति तथा पूंजी निर्माण से यंत्रों तथा पूंजीगत साजो-सामान में वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन के साधनों की कार्यकुशलता को भी बढ़ाया जा सकता है तथा तकनॉलॉजी को नये सुधारों तथा आविष्कारों द्वारा आगे बढ़ाया जा सकता है। वस्तुओं के उत्पादन की कुल मात्रा इन सब परिस्थितियों तथा संभावनाओं पर निर्भर करेगी।

प्रत्येक अर्थव्यवसथा अपने साधनों की सहायता से वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा उत्पन्न कर सकती है। क्योंकि उन्हीं साधनों को एक से अधिक वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त किया जा सकता है, इसलिए साधनों को एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर स्थानांतरित

करके वस्तुओं के विभिन्न, मिश्रणों का उत्पादन किया जा सकता है। प्रत्येक मिश्रण एक निश्चित उत्पादन संभावना का प्रतिनिधित्व करता है।

भारत में गेहूं तथा कपास के उत्पादन की संभावनाओं को समझाने के लिए हम एक साधारण-सा उदाहरण लेते हैं। हम यह कल्पना करते हैं कि हमारा देश गेहूं तथा कपास उत्पन्न करने के लिए अपने समस्त साधनों का प्रयोग कर रहा है तथा हम यह भी मान लेते हैं कि ये समस्त साधन दोनों वस्तुओं के उत्पादन में समान रूप से कार्यकुशल हैं। नीचे दो वस्तुओं (गेहूँ और कपास) की वेकल्पिक उत्पादन संभावनाएं दी हुई हैं।

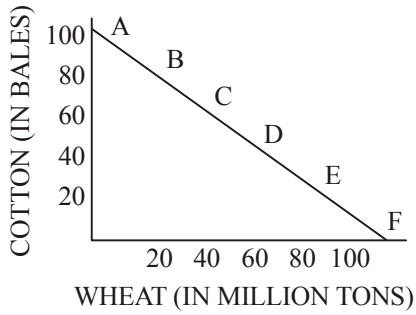
तालिका 1.1 गेहूँ तथा कपास के उत्पादन की वैकल्पिक संभावनाएं

संभावना	गेहूं (लाख टन)	(कपास लाख गांठ)
प्रथम	0	100
द्वितीय	20	80
तृतीय	40	60
चतुर्थ	60	40
पंचम	80	20
छठी	100	0

आप यहां पर दो अंतिम छोर की संभावनाएं (प्रथम व छठी) देख सकते हैं। प्रथम संभावना के अनुसार भारत यदि सभी साधन कपास के उत्पादन में लगाए तो कपास की केवल 100 लाख गांठें उत्पन्न कर सकता है और छठी संभावना यह प्रदर्शित करती है कि भारत अपने संपूर्ण साधनों से केवल 100 लाख टन गेहूं उत्पन्न कर सकता है। इन दो अंतिम छोर की संभावनाओं के बीच गेहूं और कपास की विभिन्न मात्राएं उत्पन्न की जा सकती हैं। उदाहरण के तौर पर, दूसरी संभावना के अनुसार देश की कपास की 80 लाख गांठ 20 लाख टन गेहूं पैदा कर सकती है। तृतीय संभावना 60 लाख गांठें कपास तथा 40 लाख टन गेहूं के उत्पादन को व्यक्त करती है और इस, प्रकार अन्य संभावनाएं भी हो सकती हैं। उपरोक्त तालिका में आप एक बात पर ध्यान देंगे कि कपास के उत्पादन के लिए उपयुक्त होने वाले साधनों को यदि गेहूं के उत्पादन कार्य में लगाया जाय तो उनकी उत्पादिता समान रहती है। गेहूं के उत्पादन में प्रत्येक 20 लाख टन की वृद्धि के लिए कपास के उत्पादन में 20 लाख गांठों की कमी होती है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि हमारे साधन विशिष्ट नहीं हैं तथा इसीलिए किसी भी वस्तु के लिए उनको समान कार्य क्षमता से प्रयोग में लाया जा सकता है। उपरोक्त तालिका को हम रेखाचित्र की सहायता से भी व्यक्त कर सकते हैं।

रेखाचित्र संख्या 1.1

उत्पादन संभावना (एक सीधी रेखा जैसी)



उपरोक्त रेखाचित्र को बनाने का तरीका : पहले 'ओ' 'एक्स' तथा 'ओ' 'वाई' रेखाओं को खींचिए। 'ओ' 'एक्स' रेखा को 'एक्स' अक्ष या अनुप्रस्थ अक्ष तथा 'ओ' रेखा को 'वाई' अक्ष या शीर्ष अक्ष कहते हैं। गेहूं अनुप्रस्थ अक्ष (Y-axis) तथा कपास को शीर्ष अक्ष (X-axis) पर व्यक्त किया गया है। 'ओ' बिंदु से प्रारंभ करके 'एक्स' अक्ष को समान भागों में विभक्त किया गया है और प्रत्येक भाग 20 लाख टन गेहूँ को व्यक्त करता है। इसी प्रकार 'वाई' अक्ष को भी विभाजित किया गया है और प्रत्येक भाग कपास की 20 लाख गांठों को प्रदर्शित करता है। दोनों प्रथम अक्षों पर समान नापों का होना जरूरी नहीं है यद्यपि हमने ऐसा अपनी सुविध

ाा के लिए मान लिया है। इस उदाहरण में उत्पादन संभावना कपास की 100 गांठें तथा गेहूँ की शून्य मात्रा है। उपरोक्त चित्र में इसे 'अ' से दिखाया गया है। दूसरा जोड़ा कपास की 80 लाख गाठें तथा 20 लाख टन गेहूँ का है। अब आप 'वाई' अक्ष पर 80 के सम्मुख और 'एक्स' अक्ष पर 20 के सम्मुख एक बिंदु लीजिए। यह बिंदु 'B' है अन्य जोड़ों के लिए 'C' 'D' 'E' तथा 'F' बिंदुओं को अंकित कीजिए सब बिंदुओं को मिलाने से आपको आधोमुखी ढालू 'A' 'F' रेखा प्राप्त होगी। वह रेखा दो वस्तुओं की उत्पादन संभावनाओं को व्यक्त करती है तथा वह उत्पादन संभावना वक्र के नाम से जानी जाती है। इसे 'रूपांतरण वक्र' भी कहते हैं क्योंकि किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए जो साधन प्रयोग में आते हें उन्हें दूसरी वस्तु के उत्पादन के लिए भी लगाया जा सकता है अर्थात् साधनों के स्थानांतरण से एक वस्तु को दूसरी वस्तु में रूपांतरित किया जा सकता है। जैसे-जैसे हम 'C' से 'F' की ओर बढ़ते हैं, कपास के उत्पादन में लगे हुए साधन गेहूँ की ओर स्थानांतरित (Transformed) हो जाते हैं।

तालिकाओं व रेखाचित्रों पर ध्यानपूर्वक विचार कीजिए। 'A' 'F' वक्र नीचे की ओर जा रहा है। इसका स्वरूप यह व्यक्त करता है कि यदि एक समुदाय अधिक गेहूँ चाहता है तो ऐसा वह केवल कपास की मात्रा कम करके ही प्राप्त कर सकता है। रेखाचित्र 'A' 'F' एक सीधी रेखा है जो यह बतलाती है कि गेहूँ की जितनी अधिक मात्रा बढ़ाई जाएगी, कपास की मात्रा में उतनी ही कमी करनी पड़ेगी, क्योंकि हमने यह कल्पना की है कि उत्पत्ति के साधन कपास तथा गेहूँ के उत्पादन में एक जैसे कार्यक्षमता रखते हैं।

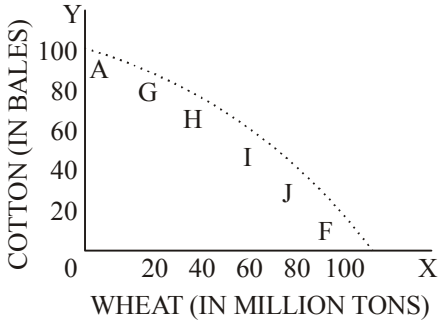
सामान्य वास्तविक जीवन में उत्पादन संभावना वक्र एक सीधी रेखा के बजाय 'ओ' 'बिंदु' से अवतल (Concave) वक्र होता है। अवतल वक्र सीधी रेखा वाले वक्र की अपेक्षा 'ओ' बिंदु से दूर रहता है। रेखाचित्र 1.2 में यह स्पष्ट देखा जा सकता है। एक अधिक वास्तविक उत्पादन-संभावना वक्र व तालिका निम्न प्रकार की होगी।

तालिका 1.2 : गेहूँ व कपास के उत्पादन की वैकल्पिक संभावनाएं

संभावना	गेहूं (टन)	कपास (गांठ)
प्रथम	0	100
द्वितीय	20	90
तृतीय	40	75
चतुर्थ	60	55
पंचम	80	30
छठी	100	0

रेखाचित्र संख्या 1.2

उत्पादन संभावना वक्र अवतल वक्र (Concave Curve) के रूप में।



उपरोक्त उदाहरण के लिए हम यह कल्पना करते हैं कि साधन विशिष्ट हैं तथा विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में समान रूप से कुशल नहीं हैं। हम यह मान लेते हैं—कृषि योग्य भूमि का कुछ भाग कपास के उत्पादन के लिए अन्य कुछ गेहूँ के उत्पादन के लिए। भूमि के समस्त टुकड़ों को केवल कपास उत्पादन के लिए उपयोग में लाने से यह अधिक उपयुक्त है तथा समुदाय कपास की 100 गांठें पैदा कर सकता है। अब यदि समुदाय 20 टन गेहँ चाहता है तो उसे भूमि के कुछ टुकड़ों को जो कि अभी तक कपास के उत्पादन के लिए काम में आ रहे थे, गेहूँ पैदा करने के लिए प्रयुक्त करना होगा। वे खेत जो कपास के लिए सबसे कम उपयुक्त हैं, गेहँ के

लिए सबसे पहले उपयोग में लाये जाएंगे। परंतु जब इस समुदाय को अधिकाधिक मात्रा में गेहूँ की आवश्यकता होगी, तब उसे भूमि के उन भागों को भी जो कि कपास के लिए अधिक उपयुक्त हैं, गेहूं के उत्पादन के लिए काम में लाना होगा। परिणामस्वरूप, कपास के रूप में गेहूं की उत्पादन लागत बढ़ जाएगी। उदाहरण के तौर पर, इस समुदाय को प्रथम 20 टन गेहूँ के उत्पादन के लिए कपास के लिए कपास की 10 गांठें छोड़नी पड़ती हैं, अगले 20 टन गेहूँ के लिए 15 तथा इसी प्रकार अधिकाधिक मात्रा में कपास त्यागनी पड़ेगी। अंत में गेहूँ की अंतिम 20 टन की मात्रा के लिए समुदाय को 30 गांठें कपास की छोड़नी पड़ेंगी। इससे स्पष्ट है कि किसी भूमि से जो कपास के उत्पादन के लिए उपयुक्त हैं, कपास की 30 गांठें उत्पन्न की जा सकती हैं। जब उसे गेहूं के उत्पादन कार्य में लगाया जाता है तो वह भूमि केवल 20 टन गेहूँ उत्पन्न कर सकती है। उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि कपास के रूप में गेहूं की उत्पादन लागत में निरंतर वृद्धि होती जाती है इस बात को निम्नतालिका 1.3 में भली प्रकार अंकित किया जा सकता है।

तालिका 1.3 कपास के रूप में गेहूँ की उत्पादन लागत

संभावना	प्रत्येक 20 टन अतिरिक्त गेहूं के उत्पादन की लागत (कपास की गांठों में)
प्रथम	—
द्वितीय	10
तृतीय	15
चतुर्थ	20
पंचम	25
छठी	30

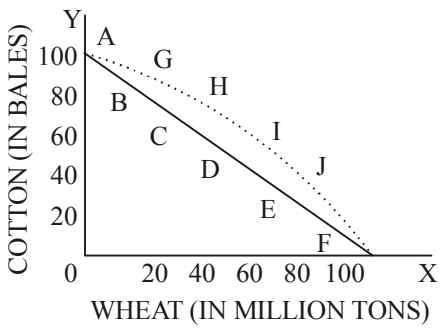
निम्न रेखाचित्र 1.3 दोनों प्रकार के उत्पादन संभावना वक्रों को व्यक्त करती है जिसे पृथक-पृथक रूप इसलिए दिया है ताकि आप आसानी से इनकी तुलना कर सकें।

यह देखा जा सकता है कि उपरोक्त दोनों वक्रों को इस कल्पना के आधार पर बनाया गया है कि गेहूँ तथा कपास के उत्पादन के लिए उपलब्ध समस्त साधना पूरी तरह से प्रयोग में लाए जा रहे हैं। यदि किसी कारणवश कुछ साधन बेकार रहते हैं तो उत्पादन-संभावना इस वक्र द्वारा व्यक्त नहीं की जाएगी, अपितु वह वक्र के नीचे किसी अन्य स्थान पर होगी। यदि समुदाय के पास उपलब्ध इन साधनों में गुणात्मक तथा परिणाम संबंधी सुधार हुआ है तथा उत्पादन की तकनीक में भी कोई सुधार हुआ है, तब इस स्थिति में उत्पादन-संभावना वक्र ऊपर की ओर उठ जाएगा और वह इस बात को व्यक्त करेगा कि साधनों के पूर्ण प्रयोग से इन दोनों वस्तुओं को और अधिक मात्रा में पैदा किया जा सकता है।

हमने देखा है कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था को उन विभिन्न प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं में से चुनाव करना पड़ता है जिसका कि उपलब्ध साधनों से उत्पादन किया जा सकता है। ऐसे उपलब्ध साधनों के सीमित होने के कारण होता है। साधनों के कई वैकल्पिक प्रयोग होते हैं। यदि इन्हें एक प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयोग में लाया जाता है, तो वे अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए उपलब्ध नहीं होंगे। उत्पादन-संभावना वक्र यह बताता है कि साधनों की एक निश्चित मात्रा की सहायता से वस्तुओं के किन-किन मिश्रणों का उत्पादन किया जा सकता है।

रेखाचित्र संख्या 1.3

उत्पादन संभावना वक्र (सीधी रेखा तथा अवतल वक्र)



2. उत्पत्ति का क्रमागत ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)

उत्पादन-संभावना वक्र के अध्ययन के पश्चात् हम आपको उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास नियम के विषय में बताना चाहेंगे। समस्त मानवीय प्रयत्न इस नियम के अधीन हैं। प्रत्येक अर्थव्यवस्था उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास नियम पर विजय पाने के लिए निरंतर तथा अथक प्रयास करती है। इस नियम की आर्थिक महत्ता बहुत अधिक है।

यह नियम बताता है कि यदि किसी वस्तु के उत्पादन में किसी एक साधन का उपयोग अधिकाधिक मात्रा में किया जाए और अन्य साधन न बढ़ाये जाएँ, तो उत्पादन में वृद्धि क्रमशः घटती दर से होगी। इस नियम को समझाने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं। मान लो कि हमारे पास 10 एकड़ भूमि का एक टुकड़ा है। इसे गेहूँ के उत्पादन के लिए काम में लाया जाता है। अगर हम उत्पादन कार्य के लिए किसी श्रमिक को नहीं रखते हैं तो उत्पादन शून्य होगा। मान लीजिए एक श्रमिक को काम पर लगाने से 10 क्विंटल गेहूं उत्पन्न होता है यदि हम एक और श्रमिक को उसी भूमि के टुकड़े पर काम करने के लिए नियुक्त करते हैं, (तथा अन्य साधनों की मेात्रा स्थिर रखते हैं) तब कुल उत्पादन 10 क्विंटल से बढ़कर 18 क्विंटल की ही अतिरिक्त वृद्धि हुई है। अर्थात् यदि भूमि के टुकड़े पर अधिकाधिक श्रमिक खेती के लिए नियुक्त किए जाएँगे, तो श्रम की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई उतना ही अतिरिक्त उत्पादन नहीं करेगी, बल्कि उत्पादन में वृद्धि की दर घटती जाएगीं। हम जानते हैं कि उत्पादन के साधन एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न नहीं होते हैं जिसके कारण उत्पत्ति का क्रमागत ह्रास नियम लागू होता है। निम्न तालिका द्वारा इस विचार को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जा सकता है।

तालिका 1.4 श्रम की इकाइयाँ बढ़ाने पर गेहूँ का उत्पादन

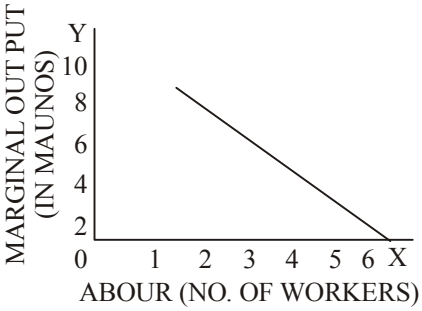
अवस्था	भूमि (एकड़)	श्रम (इकाई)	कुल उपज (क्विंटल)	सीमांत उपज अर्थात् कुल उत्पादन में अतिरिक्त वृद्धि (क्विंटलों में)
प्रथम	10	0	0	0
द्वितीय	10	1	10	10
तृतीय	10	2	18	8
चतुथ	10	3	24	6
पंचम	10	4	28	4
छठी	10	5	30	2
सप्तम	10	6	30	0

इस तालिका को रेखाचित्र द्वारा भी किया जा सकता है।

हमें इस रेखाचित्र को ध्यान से समझना चाहिए। श्रम की इकाइयाँ X अक्ष पर तथा सीमांत उपज को Y अक्ष पर व्यक्त किया गया है। श्रम की एक इकाई बढ़ाने पर कुल उपज में वृद्धि होती है, उसे सीमांत श्रमिक द्वारा उपज में की गई वृद्धि या सीमांत उत्पादन कह सकते हैं। जब हम श्रमिकों की संख्या एक से बढ़ाकर दो करते हैं तो हमारे उदाहरण के अनुसार उपज 10 क्विंटल से बढ़कर 18 क्विंटल हो जाती है अर्थात् उसमें 8 क्विंटल की वृद्धि होती है। दूसरे श्रमिक की नियुक्ति से उपज में जो 8 क्विंटल की वृद्धि हुई है, इसे सीमांत उत्पादन कहते हैं। जब तीन श्रमिकों को नियुक्त किया जाता है, तो तीसरा श्रमिक सीमांत है तथा सीमांत उत्पादन 6 क्विंटल है। इस रेखाचित्र व तालिका में यह स्पष्ट है जैसे-जैसे श्रमिकों की संख्या को बढ़ाते हैं, उस भूमि से गेहूँ की कुल उपज में वृद्धि क्रमशः घटती हुई दर से होती है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है यदि हम उत्पादन के एक साधन में वृद्धि करते हैं तथा अन्य को स्थिर रखते हैं, तो सीमांत उत्पादन (marginal product) क्रमशः घटता जाता है।

रेखाचित्र संख्या 1.4

उत्पत्ति का क्रमागत ह्रास नियम



उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास नियम की सार्वलौकिक (Universal) उपयुक्तता : क्या यह नियम केवल कृषि उपज पर ही लागू होता है? एक समय ऐसा था जब यह सोचा जाता था कि यह नियम केवल उन उद्योगों पर लागू होता है जिनमें भूमि का प्रमुख योगदान है तथा श्रम व पूँजी का महत्व कम है। इस श्रेणी में कृषि, खान उद्योग, मछली उद्योग, वन उद्योग आदि आते हैं। इन उद्योगों को निस्सारण उद्योग भी कहते हैं। ऐसा सोचा जाता था कि निर्माण उद्योगों में पूँजी व श्रम का उत्पादन कार्य में अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान होता है तथा भूमि तुलनात्मक रूप से कम महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए निर्माण उद्योग उत्पत्ति के क्रमागत वृद्धि (न कि ह्रास) नियम के अधीन हैं। इस धारणा के अनुसार निर्माण उद्योग में श्रम व पूंजी अधिकाधिक मात्रा में लगाने से सीमांत उत्पादन बढ़ता जाएगा। परंतु यह आंशिक रूप से ही सत्य है। अब ऐसा समझा जाता है कि उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास नियम की प्रवृत्ति सार्वलौकिक है। उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास नियम को टालते हुए सीमांत उत्पादन को सीमा तक ही बढ़ा सकते हैं। कुछ समय पश्चात् उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना अनिवार्य हो जाएगा। अन्ततोगत्वा इस प्रवृत्ति का कोई अपवाद (Exceptions) नहीं हो सकता।

कीमत प्रक्रिया-माँग तथा पूर्ति विश्लेषण
(Price Mechanism-Demand and Supply Analysis)

मानवीय इच्छाएं असीमित होती हैं लेकिन उन इच्छाओं को संतुष्ट करने के लिए उसके पास साधन सीमित होते हैं। साधनों के सीमित होने के कारण आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें हम केंद्रीय समस्याएँ कहते हैं। एक पूंजीवादी या स्वतंत्र बाजार अर्थव्यवस्था में इन समस्याओं का समाधान कीमत प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक वस्तु या सेवा की एक कीमत होती है। मुद्रा के चलन के पूर्व वस्तुओं का एक दूसरे के लिए आदान-प्रदान किया जाता था, जिसे वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter System of Exchange) कहते हैं, लेकिन मुद्रा के आविष्कार के बाद वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य कीमत के रूप में व्यक्त किया जाता है। वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों को संयुक्त रूप से कीमत प्रक्रिया (Price Mechanism) कहते हैं।

किसी वस्तु की कीमत उस वस्तु की माँग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारत होती है। बाजार में किसी वस्तु की कीमत उस वस्तु के सिर्फ एक क्रेता की मँग या एक विक्रेता की पूर्ति के द्वारा ही निर्धारित नहीं होती है। बाजार में किसी वस्तु के अनेक क्रेता था विक्रेता होते हैं। बाजार में किसी वस्तु की कीमत उस वस्तु के सारे क्रेताओं की सामूहिक माँग तथा उस वस्तु के सारे विक्रेताओं की सामूहिक पूर्ति के द्वारा निर्धारित होती है। बाजार में किसी वस्तु की कीमत उस बिंदु पर निर्धारित होती है जहाँ पर उस वस्तु की सारे क्रेताओं की कुल माँग उस वस्तु के सारे विक्रेताओं द्वारा की गई कुल पूर्ति के बराबर है। इस कीमत को हम संतुलन कीमत (Equilibrium Price) कहते हैं।

अब हम माँग तथा पूर्ति विश्लेषण को विस्तार से समझायेंगे तथा यह बतायेंगे कि किस प्रकार किसी वस्तु की माँग और पूर्ति उस वस्तु की संतुलन कीमत निर्धारित करते हैं।

1.1
माँग विश्लेषण
(Demand Analysis)

माँग का अर्थ

अर्थशास्त्र में माँग का तात्पर्य किसी वस्तु की उस मात्रा से है जो कि क्रेता किसी निश्चित कीमत पर प्रति इकाई समय पर खरीदने को तैयार है। इसलिए अर्थशास्त्र में माँग का तात्पर्य सिर्फ इच्छा या आवश्यकता से नहीं है जैसा कि प्रायः आमतौर पर समझा जाता है। आपकी इच्छा कार खरीदने की है लेकिन यदि आपके पास कार खरीदने के लिए पर्याप्त साधन नहीं है और यदि आपके पास कार खरीदने के लिए पर्याप्त साधन भी है लेकिन आप उन साधनों को कार खरीदने पर व्यय करना नहीं चाहते हैं तो आपकी इच्छा सिर्फ इच्छा से अधिक कुछ नहीं है। इसे आप माँग नहीं कह सकते। किसी वस्तु की माँग हमेशा निर्दिष्ट कीमत तथा समय की इकाई (Per unit of time) पर ही व्यक्त की जाती है। समय की इकाई एक दिन, एक सप्ताह, एक महीना, एक वर्ष आदि हो सकती है। यह कहना कि भारत में कारों की माँग 10,000 है, अर्थहीन है क्योंकि इसमें प्रति कार की कीमत तथा समय की इकाई के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। आप यदि यह कहें कि भारतवर्ष में 1,80,000 रुपये प्रति कार की कीमत पर कारों की माँग 10,000 है तो भी यह माँग को सही रूप में व्यक्त नहीं करता क्योंकि इसमें समय की इकाई का जिक्र नहीं किया गया है। यदि आप यह कहें कि भारतवर्ष में 1,80,000 रुपये प्रति कार की कीमत पर एक वर्ष में कारों की माँग 10,000 है तो यह माँग की धारणा को सही रूप में व्यक्त करता है। इसलिए एक इच्छा तभी माँग कहलाती है जबकि एक उपभोक्ता के पास उस इच्छा को पूरा करने के लिए साधन हैं और वह उन साधनों को उस वस्तु की किसी निर्दिष्ट कीमत तथा समय की प्रति इकाई पर खरीदने के लिए व्यय करने को तैयार है। आपकी कार खरीदने की इच्छा तभी माँग कही जा सकती है जबकि आपके पास कार खरीदने के लिए पर्याप्त साधन हैं तथा उन साधनों को कार की किसी निर्दिष्ट कीमत तथा समय की प्रति इकाई पर खरीदने के लिए व्यय करने को तैयार है। आपके पास दो लाख रुपये हो सकते हैं लेकिन यदि आप 1,80,000 रुपये प्रति कार की कीमत पर तथा समय की इकाई विशेष (एक दिन, एक सप्ताह, आदि) पर आप कार खरीदने को तैयार नहीं है तो हम यह नहीं कह सकते हैं कि आपकी कार की माँग है।

माँग को निर्धारित करने वाले तत्व : किसी वस्तु की माँग स्थिर नहीं रहती है। यह परिस्थितियों में परिवर्तन होने के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इसीलिए अब हम आपको उन तत्त्वों के बारे में बताएंगे जो किसी वस्तु की माँग निर्धारित करते हैं। पहले हम आपको एक उपभोक्ता या परिवार की माँग निर्धारित करने वाले तत्त्वों के बारे में बताएंगे और उसके बाद किसी वस्तु की बाजार में कुल माँग को निर्धारित करने वाले तत्त्वों को समझाएंगे।

व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग (Individual or Household Demand) :

किसी वस्तु की एक उपभोक्ता या पारिवारिक माँग निम्न तत्त्वों पर निर्भर करती है –

(i) **उपभोक्ता या परिवार की आय**–किसी वस्तु की माँग को निर्धारित करने वाले तत्त्वों में उपभोक्ता या परिवार की आय एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अन्य बातें समान रहने पर, यदि आय बढ़ रही है तो सामान्यतया वस्तुओं की माँग भी बढ़ जाएगी और यदि आय कम हो जाती है तो वस्तुओं की माँग भी कम हो जाती है। तो वस्तुओं की माँग भी कम होजाती है। उपभोक्ता या परिवार की आय बढ़ने पर सामान्य वस्तुओं, आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं की माँग बढ़ जाएगी लेकिन आय कम होने पर इन वस्तुओं की माँग भी कम हो जाएगी।

(ii) **वस्तु की कीमत**–सामान्यतया किसी वस्तु की कीमत और उसकी माँग में विपरीत संबंध होता है। अन्य बातें समान रहने पर, सामान्यतया किसी वस्तु की कीमत गिरने पर प्रायः उस वस्तु की अधिक मात्रा और कीमत बढ़ने पर उस वस्तु की कम मात्रा खरीदने को तैयार होते हैं।

(iii) **संबंधित वस्तुओं की कीमतें**–कई वस्तुएँ एक दूसरे से स्थानापन्न (substitutes) या पूरक (complements) वस्तुओं के रूप में संबंधित होती हैं। स्थानापन्न वस्तुएँ वे होती हैं जो कि एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग में लाई जा सकती हैं। जैसे चाय के स्थान पर कॉफी तथा कॉफी के स्थान पर चाय का प्रयोग किया जा सकता है इसलिए चाय तथा कॉफीस्थानापन्न वस्तुएँ हैं। यदि चाय की कीमत की तुलना में कॉफी की कीमत बढ़ जाए तो उपभोक्ता कॉफी के स्थान पर चाय कप्रतिस्थापन करने लगेंगे। इससे चाय की माँग बढ़ जाएगी, यद्यपि चाय की कीमत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। 'पूरक वस्तुएँ' वे वस्तुएँ होती हैं जिनका एक साथ प्रयोग किया जाता है। एक पूरक वस्तु की उपयेागिता तभी होती है तथा उसकी माँग उस समय ही की जाती है जबकि उसकी पूरक वस्तु भी उपलब्ध है। जैसे स्कूटर तथा पेट्रोल 'पूरक वस्तुएँ' हैं क्योकि बिना पेट्रोल के स्कूटर का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि पेट्रोल की कीमत बढ़ जाती है तो स्कूटर की माँग कम हो जाएगी। इसके विपरीत यदि पेट्रोल की कीमत बढ़ जाती है तो स्कूटर की माँग कम हो जाएगी। इसके विपरीत यदि पेट्रोल की कीमत कम हो जाए तो स्कूटर की माँग बढ़ जाएगी। इस प्रकार किसी वस्तु की संबंधित वस्तुओं–स्थानापन्न या पूरक वस्तुअें, की कीमतों में परिवत्रन आने पर उस वस्तु की माँग में परिवर्तन आ जाता है।

(iv) **उपभोक्ता की आदतें, रुचियाँ, प्राथमिकताएँ आदि**–उपभोक्ता की आदतें, रुचियाँ, प्राथमिकताएँ आदि भी किसी वस्तु की माँग को निर्धारित करते हैं। यदि उपभोक्ता की रुचि किसी वस्तु के पक्ष में बदल गई है तो उस वस्तु की मँग बढ़ जाती है। यदि कोई वस्तु फैशन के बाहर हो गई है तो उस वस्तु की माँग कम हो जाएगी।

बाजार माँग (Market Demand)

उपभोक्ता या पारिवारिक माँग को प्रभावित करने वाले उपरोक्त तत्त्व, उस वस्तु की बाजार माँग को भी प्रभावित करते हैं। लेकिन उपरोक्त तत्त्वों के अलावा, दो और तत्त्व भी बाजार माँग अर्थात् वस्तु की कुल माँग निर्धारित करते हैं। ये दो तत्त्व हैं–जनसंख्या का आकार तथा ढाँचा और आय का वितरण।

(v) **जनसंख्या का आकार तथा ढाँचा**–यदि देश में जनसंख्या का आकार अधिक है तथा जनसंख्या बढ़ रही है तो उस देश में आम प्रयोग में आने वाले विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की माँग ज्यादा होगी। इसी प्रकार जनसंख्या का ढाँचा (composition) जैसे स्त्री-पुरुष, बच्चे-जवान-वृद्ध आदि का अनुपात भी माँग को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए यदि किसी देश में बच्चों का अनुपात अधिक है तो उस देश में बच्चों के प्रयोग में आने वाली चीजें जैसे खिलौने, बिस्कुट, बेबी फूड्स आदि की मांग भी अधिक होगी।

(vi) **आय का वितरण**–किसी वस्तु की माँग इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस अर्थव्यवस्था में आय के वितरण में असमानताएँ काफी कम हैं या काफी ज्यादा। जिस अर्थव्यवस्था में आय का असमान वितरण है वहाँ पर कुछ व्यक्ति ज्यादा

धनवान होंगे जबकि बाकी व्यक्ति गरीब होंगे। ऐसी स्थिति में आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं की माँग अधिक होगी जबकि गरीब व्यक्ति की जरूरत की वस्तुओं की माँग कम होगी क्योंकि गरीब व्यक्ति कम आय होने से वस्तुएँ नहीं खरीद पाता। इसके विपरीत यदि एक अर्थव्यवस्था में आय की असमानताएँ काफी कम हैं तब उस अर्थव्यवस्था में आराम तथा विलासिता की वस्तुओं की माँग कम तथा आम जरूरत की वस्तुओं की माँग अधिक होगी।

माँग का नियम

(Law of Demand)

किसी वस्तु की माँग हमेशा उस वस्तु की किसी कीमत के संदर्भ में ही व्यक्त की जाती है। विभिन्न कीमतों पर वस्तु की माँगी गई मात्राएँ भिन्न-भिन्न होंगी। प्रायः किसी वस्तु की कीमत बढ़ने पर वस्तु की माँग कम होती है तथा कीमत कम होने पर उस वस्तु की माँग अधिक होती है। किसी वस्तु की कीमत और माँग के इस विपरीत संबंध (inverse relationship) को माँग का नियम कहते हैं।

किसी वस्तु की माँग उस वस्तु की कीमत के अलावा अन्य कई तत्त्वों पर निर्भर करती है। ये अन्य तत्त्व हैं—उपभोक्ता (या परिवार) की आय, संबंधित वस्तुओं की कीमतें, उपभोक्ता की रुचि, फैशन आदि। वस्तु की कीमत के साथ-साथ उपरोक्त तत्त्वों से भी परिवर्तन होता रहता है। इसलिए किसी वस्तु की सिर्फ कीमत में परिवर्तन का उस वस्तु की माँग पर प्रभाव तब तक मालूम नहीं किया जा सकता जब तक कि हम यह नहीं मान लें कि माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों (वस्तु की कीमत के अलावा) में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् वे यथास्थिर रहते हैं। उदाहरण के लिए किसी वस्तु की कीमत बढ़ रही है इसलिए माँग के नियम के अनुसार उस वस्तु की माँग कम होनी चाहिए लेकिन वस्तु की कीमत बढ़ने के साथ-साथ यदि उपभोक्ता की आय भी बढ़ जाती है तो उपभोक्ता वस्तु की कीमत बढ़ने पर भी उस वस्तु की अधिक मात्रा खरीद सकता है क्योंकि उसकी आय में वृद्धि ने कीमत बढ़ने के प्रभाव को समाप्त (off set) कर दिया हो। इसलिए माँग का नियम तभी लागू होगा जबकि हम मान लें कि वस्तु की सिर्फ कीमत में परिवर्तन होता है लेकिन उस वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्व समान रहते हैं। इसके लिए हम अर्थशास्त्र में ''अन्य बातें समान रहे'' वाक्यांश का प्रयोग करते हैं। यह वाक्यांश माँग के नियम की मान्यताऐं (assumptions) व्यक्त करता है जिन पर माँग का नियम आधारित है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यदि अन्य बातें यथासमान रहती हैं, तो सामान्यतया किसी वस्तु की ऊँची कीमत पर उसकी कम मात्रा तथा कम कीमत पर उसकी अधिक मात्रा खरीदने को तैयार होते हैं। इसे हम माँग का नियम कहते हैं।

माँग के नियम को हम माँग सारणी तथा माँग वक्र की सहायता से समझा सकते हैं।

माँग सारणी तथा माँग वक्र (Demand Schedule and Demand Curve) :

किसी वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की माँगी जाने वाली भिन्न-भिन्न मात्राओं को यदि हम तालिका के रूप में, जैसा कि तालिका 4.1 में दिखाया है, प्रस्तुत करें तो उस तालिका को माँग सारणी कहते हैं।

यदि हम माँग सारणी को एक रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत करें तो हम माँग वक्र मालूम कर सकते हैं। माँग वक्र किसी वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की माँग की भिन्न-भिन्न मात्राएँ दिखाती हैं। प्रायः माँग वक्र ऊपर से नीचे, बायें से दायें को गिरती हुई होती है।

माँग सारणी तथा माँग वक्र दो प्रकार की होती है—(i) व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग सारणी तथा माँग वक्र तथा (ii) बाजार माँग सारणी तथा बाजार माँग वक्र।

माँग सारणी तथा माँग वक्र (Demand Schedule and Demand Curve)

किसी वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की माँगी जाने वाली भिन्न-भिन्न मात्राओं को यदि हम तालिका के रूप में, जैसा कि तालिका 4.1 में दिखाया है, प्रस्तुत करें तो उस तालिका को माँग सारणी कहते है।

यदि हम माँग सारणी को एक रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत करें तो हम माँग वक्र मालूम कर सकते है। माँग वक्र किसी वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की माँग की भिन्न-भिन्न मात्राएं दिखाए हैं। प्रायः माँग वक्र ऊपर के नीचे, बायें से दायें को गिरती हुई होती हैं।

(i) **व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग सारणी तथा माँग वक्र**—व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग सारणी एक उपभोक्ता या परिवार द्वारा एक समय विशेष पर एक वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की माँग की विभिन्न मात्राएँ दिखाती हैं।

मान लें कि एक उपभोकता या परिवार अपनी आय, रुचि, अनुभव के आधार पर यह सोचता है कि यदि बाजार में संतरों की कीमतें क्रमशः 3 रुपए, 2.50 रुपये, 2 रुपये तथा 1.50 रुपये प्रति दर्जन हो, तो वह क्रमशः 1,2,3 तथा 4 दर्जन संतरे खरीदने को तैयार है। यदि संतरों की विभिन्न कीमतों पर उनकी माँग की मात्रा को निम्न तालिका के रूप में प्रस्तुत करें तो इस तालिका को हम व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग सारणी कहते हैं।

तालिका 4.1

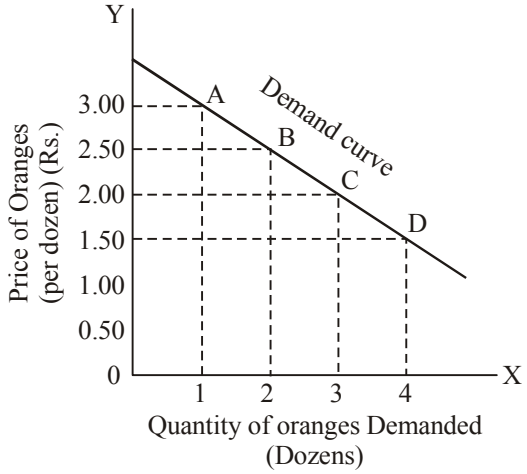
संतरों की व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग सारणी :

	संतरों की कीमतें (प्रति दर्जन) (रुपए)	संतरों की मांग की मात्रा(दर्जन)
A	3.00	1
B	2.5	2
C	2.0	3
D	1.50	4

इस माँग सारणी से स्पष्ट है कि अधिक कीमतों पर संतरों की माँग की मात्रा कम तथा कम कीमतों पर उनकी माँग की मात्रा अधिक होती है, अर्थात् संतरों की कीमत तथा उनकी माँग की मात्रा में विपरीत संबंध है।

यदि उपरोक्त माँग सारणी को एक रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग वक्र मालूम कर सकते हैं जैसा कि निम्न चित्र 4.1 में दिखाया है।

चित्र 4.1



चित्र में X-अक्ष पर संतरों की माँग की मात्रा तथा Y-अक्ष पर संतरों की कीमतें दिखाई गई हैं। बिंदु A, B, C तथा D विभिन्न कीमतों, क्रमशः 3.00 रुपये, 2.50 रुपये, 2.00 रुपये, तथा 1.50 रुपये पर संतरों की माँग की मात्रा क्रमशः 1, 2, 3, तथा 4 दर्जन जैसा कि माँग सारणी 4.1 में बताया है, बताते हैं। इन बिंदुओं को मिलाने पर एक वक्र बन जाता है जिसे माँग वक्र कहते हैं। यह माँग वक्र बताता है कि अधिक कीमतों पर कम तथा कम कीमतों पर अधिक मात्रा में संतरों की माँग होगीं माँग वक्र सीधी रेखा (जैसा कि चित्र में दिखाया है) या वक्र हो सकती है। इसकी आकृति कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की मात्रा में हुए परिवर्तन पर निर्भर करती है।

बाजार माँग सारणी तथा माँग वक्र (Market Demand Schedule and Demand Curve)

विभिन्न उपभोक्ता या परिवार किसी वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राओं की माँग करते हैं। हम सारे उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग सारणियों को जोड़कर उस वस्तु की बाजार माँग सारणी मालूम कर सकते हैं। उदाहरण के लिए सरलता के लिए यह मान लेते हैं कि बाजार में संतरों की माँग सिर्फ दो उपभोक्ता या परिवार A तथा B ही करते हैं। उनकी विभिन्न कीमतों पर संतरों की भिन्न-भिन्न माँग की मात्राएँ (व्यक्तिगत माँग सारणियाँ) तालिका 4.2 में दी गई हैं। यदि हम इन दोनों उपभोक्ताओं–A तथा B की माँग की सारणियों को जोड़ लें तो हम बाजार माँग सारणी मालूम कर सकते हैं–

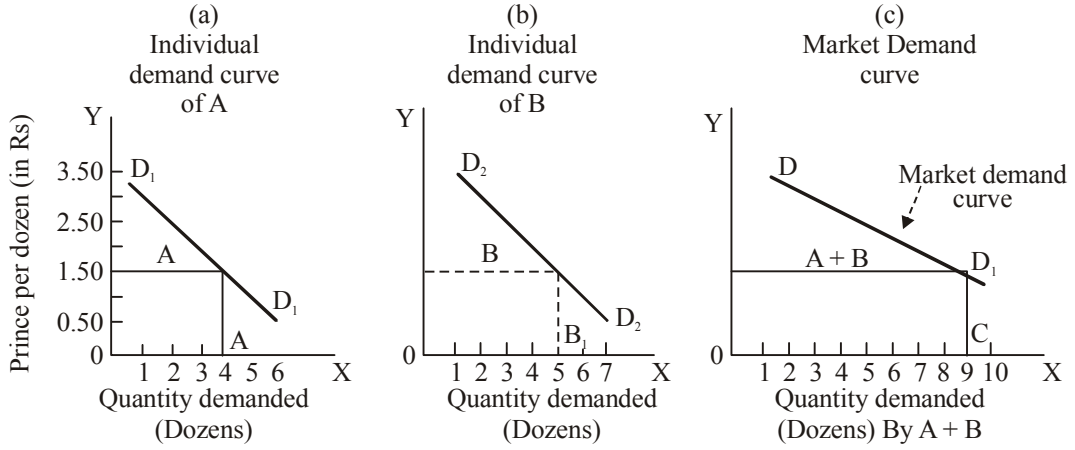
तालिका 4.2

संतरों की कीमतें (प्रति दर्जन) (रुपए)	व्यक्तिगत माँग सारणी (मांग की मात्राएँ) (दर्जन)		बाजार माँग सारणी (संतरों की माँग की कुल मात्रा) (दर्जन)
	A	B	A +B
3.00	1	2	3
2.50	2	3	5
2.00	3	4	7
1.50	4	5	9

इस प्रकार बाजार माँग सारणी सारे उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत माँग सारणियों का योग है। व्यक्तिगत माँग सारणी की तरह बाजार माँग सारणी भी यह बताती है कि किसी वस्तु की अधिक कीमत पर उसकी माँग की मात्रा कम तथा कम कीमतों पर माँग की मात्रा अधिक होती है।

यदि तालिका 4.2 को एक रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत करें तो बाजार माँग वक्र मालूम कर सकते हैं। यह हमने चित्र 4.2 में दिखाया है–

चित्र : 4.2



उपभोक्ता A की माँग वक्र (जैसा कि चित्र 4.2 (a) में दी गई है) तथा उपभोक्ता B की माँग वक्र (जैसा कि चित्र (b) में दी गई है) के क्षैतिज अक्ष को जोड़कर बाजार माँग वक्र मालूम कर सकते हैं, जैसा कि चित्र 4.2 (c) में दिखाया है। उदाहरण के लिए जब कीमत 1.50 रुपये प्रति दर्जन होती है तो उपभोक्ता A की माँग की मात्रा 4 दर्जन (A) तथा उपभोक्ता B की माँग की मात्रा 5 दर्जन (B) है, इसलिए बाजार माँग की मात्रा 9 दर्जन (A+B) होगी। इस प्रकार किसी वस्तु की बाजार माँग वक्र उस वस्तु के सारे उपभोकताओं की व्यक्तिगत माँग वक्रों का क्षैतिज जोड़ (Horizontal Summation) होता है। लेकिन व्यवहार में किसी वस्तु से सारे उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत माँग वक्रों का क्षैतिज जोड़ करके उस वस्तु की बाजार माँग वक्र मालूम करना काफी मुश्किल कार्य है क्योंकि किसी भी वस्तु के उपभोक्ताओं की संख्या बहुत अधिक होती है। बाजार माँग वक्र मालूम करने का एक दूसरा तरीका भी है। इस विधि के अनुसार किसी वस्तु से सारे उपभोक्ताओं में से किसी एक औसत या प्रतिनिधि (Average or Representative) उपभोक्ता की व्यक्तिगत माँग सारणी मालूम करके उसे उस वस्तु के सोर उपभोक्ताओं की संख्या से गुणा करके उस वस्तु की बाजार माँग सारणी मालूम कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, मान लें कि संतरे की कीमत 2.50 रुपये प्रति दर्जन होने पर एक औसत उपभोक्ता 2 दर्जन संतरों की माँग करता है। मान लें कि संतरों के उपभोक्ताओं की संख्या 100 है। इस स्थिति में 2 रुपये प्रति दर्जन कीमत पर संतरों की बाजार माँग 200 दर्जन संतरे होगी। फिर इसके आधार पर उस वस्तु की बाजार माँग वक्र मालूम कर लेते हैं। व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग वक्र की तरह बाजार माँग वक्र भी ऊपर से नीचे दाएँ की ओर गिरती हुई होती है जो वस्तु की कीमत और उसकी माँग की मात्रा के विपरीत संबंध को दिखाती है।

माँग सारणी तथा माँग वक्र का निर्माण करते समय हम यह मान लेते हैं कि किसी वस्तु की सिर्फ कीमत में ही परिवर्तन होता है, वस्तु विशेष की कीमत के अलावा वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों में कोई परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् 'अन्य बातें समान रहती हैं।

माँग सारणी तथा माँग वक्र किसी समय विशेष पर किसी वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उसकी माँग की मात्राएँ बताती हैं। वास्तव में बाजार में किसी समय विशेष पर किसी वस्तु की एक ही कीमत प्रचलित होती है। माँग सारणी तथा माँग वक्रका निर्माण इस मान्यता पर किया जाता है कि उपभोक्ता अपने भूतकाल के अनुभव के आधार पर यह बता सकता है कि 'अन्य बातें समान रहने पर' किसी समय विशेष पर बाजार में किसी-वस्तु की किन-किन कीमतें प्रचलित होने की दशा में वह उन भिन्न-भिन्न कीमतों पर उस वस्तु की कितनी-कितनी मात्राएँ खरीदने को तैयार होता। इस प्रकार माँग सारणी तथा माँग वक्र उपभोक्ता की कल्पना के आधार पर निर्मित की जाती है, अतः वे वास्तविक न होकर काल्पनिक होती है।

माँग के नियम का आधार या माँग वक्र के बाएं से दाएं नीचे की ओर झुकती होने के कारणः प्रायः माँग वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर झुकती हुई होती है। दूसरे शब्दों में प्रायः कीमत कम होने पर माँग की मात्रा अधिक तथा कीमत अधिक होने पर माँग की मात्रा कम होती है। कीमत कम होने पर किसी वस्तु की माँग की मात्रा अधिक तथा कीमत कम होने पर माँग की मात्रा कम क्यों हो जाती है? दूसरे शब्दों में माँग वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर गिरती हुई क्यों होती है? अर्थात् माँग का नियम लागू क्यों होता है? माँग वक्र के बाएँ से दाएँ नीचे की ओर झुकती हुई होने या माँग के नियम के लागू होने के निम्नलिखित कारण हैं–

(i) सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Marginal Utility) का लागू होनाः माँग नियम सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार एक उपभोक्ता जैसे-जैसे किसी एक वस्तु की अधिकाधकाधिक इकाइयों का उपभोग करता है वैसे-वैसे उत्तरोत्तर (Successive) इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता (सीमांत उपयोगिता) घटती जाती है। उदाहरण के लिए संतरों की प्रति दर्जन कीमत 3 रुपये होने पर एक उपभोक्ता एक दर्जन संतरे खरीदने को तैयार है। वह पहली दर्जन खरीदने के लिए 3 रुपये देने को तैयार है क्योंकि संतरों के पहली दर्जन से उसे 3 रुपये के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। (मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण के अनुसार किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को जो उपयोगिता प्राप्त होती है उसे मुद्रा के रूप में मापा जा सकता है। यदि पहली दर्जन को खरीदने के लिए एक उपभोक्ता अधिक-से-अधिक 3 रुपये देने को तैयार है तो पहली दर्जन संतरों की सीमांत उपयोगिता 3 रुपए के बराबर होगा)। लेकिन जब वह दूसरी दर्जन संतरों का उपभोग करता है तो संतरों की दूसरी दर्जन से उसे जो उपयोगिता (सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है वह संतरों की पहली दर्जन से प्राप्त सीमांत उपयोगिता से कम होगी इसीलिए वह संतरों की दूसरी दर्जन को खरीदने को तभी तैयार होगा जबकि संतरों की प्रति दर्जन कीमत बाजार में 3 रुपए से कम हो। दूसरे शब्दों में वह संतरों की अधिक मात्रा खरीदने के लिए तभी तैयार होगा जबकि बाजार में संतरों की कीमत कम हो अर्थात् कीमत कम होने पर भी माँग की मात्रा बढ़ती है। वास्तव में सीमांत उपयोगिता के बाएं से दाएं नीचे की ओर गिरते वक्र को माँग वक्र में परिवर्तत किया जा सकता है। इसे हम आपको बाद में विस्तार से समझायेंगे।

(ii) नये क्रेताओं द्वारा वस्तु का क्रय : जब बाजार में किसी वस्तु की कीमत बहुत अधिक होती है तो सिर्फ धनवान व्यक्ति ही उसे खरीद सकते हैं और गरीब व्यक्ति उसे नहीं खरीद पाते। जब कीमत कम हो जाती है तो बहुत-से व्यक्ति जो पहले उस वस्तु की अधिक कीमत होने पर नहीं खरीद पाते हैं, अब खरीदने लगेंगे और यदि कीमत और भी कम हो जाती है तब और अधिक लोग उस वस्तु को खरीदने लगेंगे। जो व्यक्ति पहले उस वस्तु को अधिक कीमत होने पर कम मात्रा में क्रय करते हैं, वे भी कीमत कम होने पर उसे अधिक मात्रा में क्रय करने लगेंगे। इस प्रकार कीमत कम होने से उस वस्तु के नये क्रेता बनते हैं। दूसरे शब्दों में कीमत कम होने पर माँग की मात्रा बढ़ जाती है।

(iii) आय प्रभाव (Income effect) : किसी वस्तु की कीमत से परिवर्तन होने के फलस्वरूप उपभोकता की वास्तविक आय या क्रय शक्ति में परिवर्तन आ जाता है। किसी वस्तु की कीमत कम हो जाने से उपभोक्ता की वास्तविक आय या क्रय शक्ति बढ़ जाती है क्योंकि वह अपनी दी हुई मौद्रिक आय से उस वस्तु की अधिक मात्रा खरीद सकता है। उसके विपरीत किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाने पर वह उस वस्तु की कम मात्रा खरीद सकता है अर्थात् उसकी वास्तविक आय या क्रय शक्ति कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में, कीमत कम या अधिक होने पर उसकी क्रय शक्ति (वास्तविक आय) के बढ़ने या कम होने के कारण वह उस वस्तु की अधिक या कम मात्रा खरीद सकता है। किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने के कारण वास्तविक आय (क्रयशक्ति) में परिवर्तन आने के कारण माँग की मात्रा में जो परिवर्तन आता है उसे आय प्रभाव (Income effect) कहते हैं।

(iv) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution effect) : जब किसी वस्तु की कीमत कम हो जाती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय या क्रय शक्ति बढ़ने के अलावा वह वस्तु अन्य वस्तु की तुलना में सस्ती हो जाती है। इसलिए उपभोक्ता इस वस्तु को अन्य वस्तुओं के स्थान पर प्रतिस्थापन करने लगते हैं इसके फलस्वरूप उसकी माँग बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए चाय की कीमत कम होने पर उपभोक्ता कॉफी के स्थान पर चाय का प्रयोग करने लगेंगे क्योंकि चाय तथा कॉफी दोनों एक-दूसरे की प्रतिस्थापन्न वस्तुए हैं। इसके कारण चाय की माँग बढ़ जाएगी। इसके विपरीत यदि चाय की कीमत कॉफी की कीमत की तुलना से अधिक बढ़ जाए तो उपभोक्ता चाय के स्थान पर कॉफी का उपभोग (प्रतिस्थापन) करेंगे और चाय की माँग कम हो जाएगी।

उपरोक्त कारणों से माँग वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर झुकती हुई होती है अर्थात् किसी वस्तु की कम कीमत पर उसकी माँग की मात्रा अधिक तथा अधिक कीमत पर माँग की मात्रा कम होगी।

माँग के नियम के अपवाद (Exceptions) : प्रायः माँग वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर झुकती हुई होती है। अर्थात् किसी वस्तु की कम कीमत पर अधिक मात्रा तथा अधिक कीमत पर कम मात्रा क्रय की जाती है। लेकिन कुछ ऐसी स्थितियां ऐसी भी हैं जिनमें कीमत कम होने पर माँग कम हो जाती है तथा कीमत बढ़ने पर माँग बढ़ जाती है। अर्थात् माँग का नियम लागू नहीं होगा या माँग वक्र नीचे की ओर झुकती हुई नहीं होती है। इसके विपरीत इन स्थितियों में माँग वक्र नीचे से ऊपर दाएँ की ओर उठती हुई होती है। ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं :

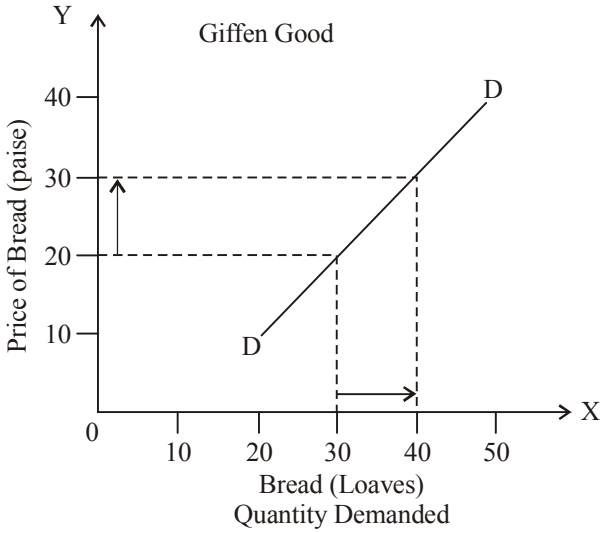
1. वे वस्तुएँ जिनके भविष्य में दुर्लभ (scare) होने की या जिनकी कीमत बहुत अधिक बढ़ जाने की या अधिक कम होने की संभावना हो तो ऐसी वस्तुओं की स्थिति में माँग का नियम लागू नहीं होगा। यदि किसी वस्तु की कीमत बढ़ गई हो लेकिन उपभोक्ता यह महसूस करता है कि भविष्य में उस वस्तु का मिलना मुश्किल होगा या उस वस्तु की कीमत बहुत अधिक बढ़ जाएगी, ऐसी स्थिति में उपभोक्ता उस वस्तु की इस समय कीमत बढ़ जाने पर भी उसको अधिक मात्रा में खरीदने को तैयार होगा। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु की कीमत इस समय गिर जाती है लेकिन उस वस्तु की कीमत के निकट भविष्य में और अधिक गिरने की आशा है तो इस समय कीमत कम होने पर भी उपभोक्ता उस वस्तु की कम मात्रा खरीदने को ही तैयार होंगे।

2. सामाजिक प्रतिष्ठा की वस्तुएँ (Goods Carrying Social Prestige)—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जैसे हीरे आदि, जिनको रखना सामाजिक प्रतिष्ठा की बात मानी जाती है और उन्हें धनवान व्यक्ति ही खरीद सकते हैं क्योंकि उनकी कीमतें काफी ऊंची होती हैं। ऐसी वस्तुओं की कीमतें कम होने पर उनकी माँग भी कम हो जाती है क्योंकि कीमत कम होने से उनकी प्रतिष्ठा कम हो जाती है। यदि उनकी कीमतें बढ़ जाएँ तो धनवान व्यक्ति उन्हें अधिक मात्रा में खरीदते हैं क्योंकि कीमत बढ़ने से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।

3. गिफिन वस्तुएँ (Giffen goods) : माँग के नियम का अपवाद कुछ घटिया किस्म की वस्तुएँ है जिन्हें गिफिन वस्तुएँ कहा जाता है। यदि किसी घटिया वस्तु की कीमत कम हो जाती है तो उसकी माँग भी कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि घटिया वस्तु की कीमतें कम होने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय (या क्रय-शक्ति) बढ़ जाती है। इसलिए उपभोक्ता घटिया वस्तु के स्थान पर अच्छी किस्म की वस्तुएँ खरीदने के लिए समर्थ हो जाते हैं। वे घटिया वस्तु के स्थान पर अच्छी किस्म की वस्तुओं का प्रयोग करने लगते हैं और परिणामस्वरूप घटिया वस्तु की माँग कम हो जाती है। इसके विपरीत घटिया वस्तुओं की कीमत बढ़ने पर उसकी माँग अधिक हो जाती है क्योंकि कीमत बढ़ने से उपभोक्ता पहले से कम मात्रा खरीद सकता है। इसलिए इसकी वास्तविक आय (या क्रय शक्ति) कम हो जाती है और वह मजबूर होकर घटिया वस्तु पर अधिक व्यय करता है अर्थात् उसकी माँग बढ़ जाती है। माँग के नियम के इस अपवाद को सर्वप्रथम राबर्ट गिफिन (Robert Giffen) ने मालूम किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में डबल रोटी (Bread) की कीमतें बढ़ रही थीं लेकिन फिर भी गरीब मजदूर डबल रोटी की अधिक माँग करने लगे क्योंकि डबल रोटी की कीमतें बढ़ने के कारण उन्हें डबलरोटी की दी गई मात्रा को खरीदने के लिए अपनी आय का पहले से अधिक भाग व्यय करना पड़ता था। इसलिए उनके पास माँस को खरीदने के लिए कम आय बच पाती थी, अतः वे माँस की पहले जितनी मात्रा खरीदने में असमर्थ थे। अपने भोजन की कुल मात्रा (Total food intake) को बनाये रखने तथा माँस की क्षतिपूर्ति के लिए माँस के स्थान पर डबलरोटी का उपभोग करने लगे। इस कारण से गरीब मजदूर डबलरोटी की कीमत बढ़ जाने पर भी डबल रोटी को अधिक मात्रा में खरीदने लगे। दूसरे शब्दों में डबलरोटी की कीमत तथा उसकी माँग की मात्रा को प्रत्यक्ष (direct) संबंध था। रोबर्ट गिफिन के पीछे ही ऐसी सब वस्तुओं, जिनकी कीमत बढ़ने पर माँग की मात्रा अधिक तथा कीमत कम होने पर माँग की मात्रा कम हो जाती है, 'गिफिन

वस्तुएँ' कहा जाता है। गिफिन वस्तुओं की स्थिति में माँग का नियम लागू नहीं होता। एक गिफिन वस्तु की माँग वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर चढ़ता हुआ होता है। जैसा कि रेखाचित्र 4.1 (i) में दिखाया गया है।

चित्र 4.1 (1)

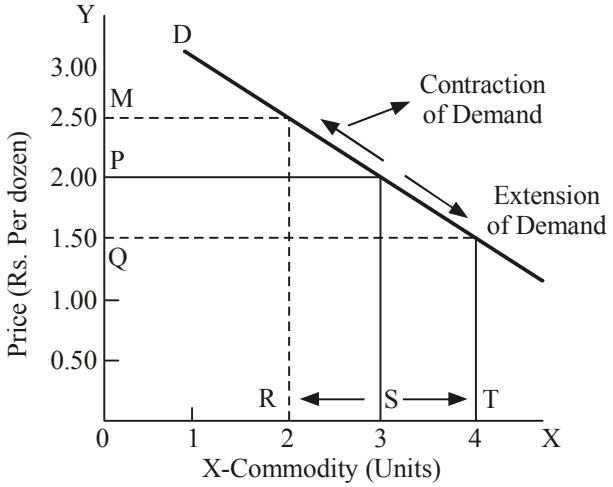


चित्र में जब प्रति डबलरोटी की कीमत 20 पैसे है तो एक उपभोक्ता 30 डबलरोटी खरीदने को तैयार है। लेकिन प्रति डबलरोटी की कीमत 30 पैसे हो जाने पर उपभोक्ता 40 डबलरोटी ही खरीदता है। इसका तात्पर्य है कि डबलरोटी की कीमतबढ़ जाने पर उपभोक्ता उसकी अधिक तथा कीमत कम हो जाने से उसकी कम माँग करता है। इस स्थिति में डबलरोटी की कीमत तथा उसकी माँग की मात्रा में प्रत्यक्ष संबंध है। इसलिए डबलरोटी की माँग वक्र बायें से दायें ऊपर की ओर चढ़ती हुई होती है, जैसा कि माँग वक्र DD के द्वारा दिखाया गया है। यहाँ डबलरोटी एक गिफिन वस्तु है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि एक गिफिन वस्तु 'घटिया वस्तु' (Inferior good) होती है, लेकिन प्रत्येक घटिया वस्तु को 'गिफिन वस्तु' नहीं कहा जा सका। दोनों में काफी अंतर है। सिर्फ उन्हीं घटिया वस्तुओं को 'गिफिन वस्तुएँ' कहा जा सकता है, जिनकी कीमत तथा माँग की मात्रा में प्रत्यक्ष संबंध होता है अर्थात् जिनकी कीमत तथा माँग की मात्रा में एक ही दिशा में परिवर्तन होता है—कीमत अधिक होने पर माँग की मात्रा अधिक तथा कीमत कम होने पर माँग की मात्रा कम हो जाती है। घटिया वस्तु तथा गिफिन वस्तु की कीमत तथा माँग की मात्रा के संबंध को हम आगे अनधिमान वक्र विश्लेषण के अंतर्गत विस्तार से समझायेंगे। वास्तविक जीवन में गिफिन वस्तु का मिलना असंभव नहीं तो अत्यंत ही मुश्किल है।

माँग में संकुचन तथा विस्तार और माँग में वृद्धि तथा कमी में अंतर (Difference Between Extention and Contraction of Demand and Increase and Decrease in Demand) :

(i) माँग में विस्तार तथा संकुचन—किसी वस्तु की माँग कई तत्त्वों पर निर्भर करती है। माँग के नियम को समझाते हुए आपको बताया था कि माँग के नियम में हम सिर्फ वस्तु की कीमत में परिवर्तन का अध्ययन करते हैं तथा यह मानते हैं कि उस वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों-उपभोक्ता का आय, संबंधित वस्तुओं की कीमतें, उपभोक्ता की रुचि, फैशन आदि समान रहते हैं। जब किसी वस्तु की माँग की मात्रा में परिवर्तन सिर्फ उस वस्तु की कीमत में परिवर्तन के कारण ही होता है तो हम इसे माँग में संकुचन या विस्तार कहते हैं। यदि किसी वस्तु विशेष की सिर्फ कीमत में कमी हो जाने से उस वस्तु की माँग अधिक हो जाती है तो इसे माँग में विस्तार कहते हैं, तथा वस्तु विशेष की सिर्फ कीमत में वृद्धि हो जाने से उस वस्तु की माँग कम हो जाती है तो हम इसे माँग में संकुचन कहते हैं। उदाहरण के लिए संतरों की सिर्फ कीमत (प्रति-दर्जन) 2 रुपये से गिरकर 1.50 रुपये हो जाने से संतरों से माँग की मात्रा 3 दर्जन से बढ़कर 4 दर्जन हो जाती है। यहाँ संतरों की सिर्फ कीमत कम होने से उसकी माँग की मात्रा बढ़ रही है जबकि संतरों की माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्व समान रहते हैं अर्थात् उनसे कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसे हम संतरों की माँग में विस्तार कहेंगे। इसके विपरीत यदि संतरों की माँग को प्रभावित करने वाले कीमत के अलावा अन्य तत्त्व समान रहे और संतरों की सिर्फ कीमत प्रति-दर्जन) 2 रुपये से बढ़कर 2.50 रुपये हो जाए और संतरों की माँग 3 दर्जन से घटकर 2 दर्जन हो जाती है तो इसे माँग में संकुचन कहा जाता है। इसे हम निम्न रेखाचित्र 4.3 की सहायता से समझा सकते हैं।

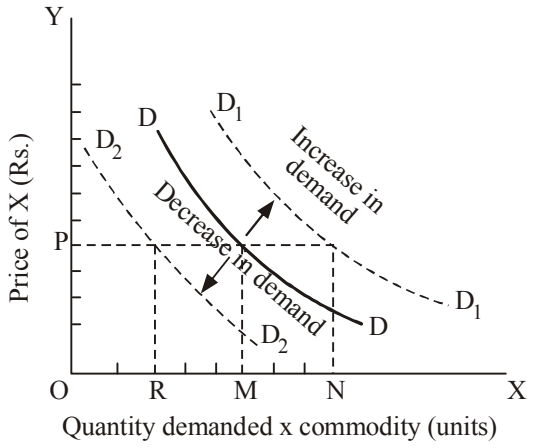
रेखा चित्र 4.3



रेखाचित्र 4.3 में माँग वक्र DD वस्तु X की विभिन्न कीमतों पर उसकी माँग की मात्राएँ दिखाती है। यह माँग वक्र इस मान्यता के आधार पर खींची गई कि माँग को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में उसकी कीमत के अलावा अन्य तत्त्व समान रहतेहैं। चित्र में जब कीमत OP(2 रुपये) से कम होकर OQ (1.50 रुपये) हो जाती है तो संतरों की माँग की मात्रा OS (3 दर्जन) से बढ़कर OT (4 दर्जन) हो जाती है। इसे (ST) माँग का विस्तार कहेंगे। इसके विपरीत यदि कीमत OP (2 रुपये) से बढ़कर OM (2.50 रुपये) हो जाती है तो माँग की मात्रा OS (3 दर्जन) से घटकर OR (2 दर्जन) होती है। इसे हम माँग से संकुचन कहते हैं। इस प्रकार माँग का संकुचन या विस्तार वस्तु विशेष की सिर्फ कीमत से परिवर्तन होने के कारण होता है तथा एक ही माँग वक्र पर ऊपर या नीचेकी ओर चलन (Movement along the same demand curve) के द्वारा दिखाया जा सकता है। उपभोक्ता वस्तु की माँग को स्वयं प्रभावित नहीं कर सकता इसलिए वस्तु विशेष की कीमत में परिवर्तन के कारण उपभोक्ता की मांग सारणी या माँग वक्र नहीं बदलतेतथा वह एक ही माँग वक्र पर ऊपर से नीचे की ओर या नीचे से ऊपर की ओर चलता है। इसे माँग की मात्रा में परिवर्तन भी कहते हैं।

(ii) मांग में वृद्धि या कमी—यदि वस्तु की कीमत समान रहे लेकिन माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों, जैसे उपभोक्ता की आय, अन्य संबंधित वस्तुओं की कीमतें, उपभोक्ता की रुचि, फैशन, प्राथमिकताओं आदि में परिवर्तन आने से किसी वस्तु की माँग में जो परिवर्तन आता है उसे माँग में परिवर्तन या माँग में वृद्धि तथा कमी कहते हैं। उदाहरण के लिए उपभोक्ता की आय बढ़ जाने पर (यदि वस्तु की कीमत समान रहे) वस्तु की माँग बढ़ जाती है तो उसे माँग में वृद्धि कहते हैं। यदि उपभोक्ता की आय कम होने पर वस्तु की माँग कम हो जाती है तो इसे माँग में कमी कहते हैं। माँग में वृद्धि होने पर माँग वक्र प्रारंभिक माँग वक्र के दाईं तरफ ऊपर की ओर तथा माँग में कमी होने पर माँग वक्र प्रारंभिक माँग वक्र के बाईं तरफ नीचे की ओर खिसक जाता है। इसलिए माँग में परिवर्तन (वृद्धि या कमी) को माँग वक्र का खिसकना (Shifts in demand curve) भी कहते हैं। इसे हम रेखा चित्र—4.4 के द्वारा समझ सकते हैं।

चित्र : 4.4



चित्र 4.4 में प्रारंभिक माँग वक्र DD है। जब कीमत OP है तो वस्तु की माँग की मात्रा OM है। यदि कीमत समान रहे, लेकिन उपभोक्त की आय बढ़ जाने पर उपभोक्ता पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा खरीद सकता है। इसलिए माँग वक्र DD पर स्थिर न रह कर ऊपर दाईं ओर खिसककर D_1D_1 बन जाती है। इसलिए उपभोक्ता OP कीमत पर OM के स्थान पर ON मात्रा खरीदेगा। इसे माँग में वृद्धि कहते हैं। इसके विपरीत यदि उपभोक्ता की आय कम हो जाए तो उस वस्तु की माँग वक्र DD से बाएं नीचे की ओर खिसककर D_2D_2 हो जाती है। वह OP कीमत पर पहले की अपेक्षा कम मात्रा OR मात्रा खरीदेगा। इसे माँग में कमी कहते हैं।

संक्षेप में, माँग की मात्रा से परिवर्तन या माँग में विस्तार तथा संकुचन वस्तु विशेष की सिर्फ कीमत में परिवर्तन के कारण होता है। इस स्थिति में उपभोक्ता उसी माँग वक्र पर रहता है। माँग में विस्तार की स्थिति में वह उसी माँग वक्र पर नीचे की ओर तथा माँग में संकुचन होने से वह उसी माँग वक्र पर ऊपर की ओर चलता है। माँग में परिवर्तन या माँग में वृद्धि तथा कमी कीमत समान रहने पर माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों, जैसे अन्य संबंधित वस्तुओं की कीमतों, उपभोक्ता की आय, रुचि, आदि में परिवर्तन के कारण माँग में हुए परिवर्तन को कहते हैं। माँग में वृद्धि की स्थिति में माँग वक्र दाईं ओर को तथा माँग में कमी की स्थिति में वक्र बाईं ओर खिसक जाता है।

1.2

पूर्ति विश्लेषण

(Supply Analysis)

किसी वस्तु की कीमत उसकी माँग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित होती है। अभी तक माँग पक्ष के बारे में आपको विस्तार से बताया था। अब पूर्ति के बारे में विस्तार से समझायेंगे।

पूर्ति का तात्पर्य (Meaning of Supply) : पूर्ति का तात्पर्य किसी वस्तु की उस मात्रा से है जो विक्रेता उस वस्तु की किसी निश्चित कीमत समय की प्रति इकाई पर बाजार में बेचने को तैयार है।

किसी वस्तु की जितनी मात्रा उपलब्ध (स्टाक) है उसे वस्तु की पूर्ति नहीं कहा जा सकता है। किसी वस्तु के स्टाक की सिर्फ उसी मात्रा को पूर्ति कहेंगे जो कि विक्रेता किसी निश्चित कीमत तथा निश्चित समय की इकाई पर बाजार में बचने को तैयार है। माँग की मात्रा की तरह पूर्ति की मात्रा में विभिन्न कीमतों पर भिन्न-भिन्न होती है। किसी वस्तु की कीमत और उसकी माँग की मात्रा में विपरीत संबंध होता है अर्थात् अधिक कीमत पर कम तथा कम कीमत पर माँग की मात्रा अधिक होती है। लेकिन किसी वस्तु की कीमत और उसकी पूर्ति की मात्रा में सीधा संबंध (Direct relationship) होता है। यदि किसी वस्तु की कीमत अधिक होगी तो उसकी पूर्ति की मात्रा भी अधिक होगी और यदि कीमत कम होगी तो पूर्ति की मात्रा भी कम होगी।

पूर्ति को निर्धारित करने वाले तत्त्व (Factors Determining the Supply) : किसी वस्तु की पूर्ति निम्न तत्त्वों के द्वारा निर्धारित होती है–

(i) **वस्तु की कीमत**–उत्पादक का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना है। यदि अन्य बातें समान रहें, तो कीमत बढ़ने पर विक्रेता उस वस्तु की अधिक मात्रा बेचने को तैयार होंगे तथा कीमत कम होने पर उसकी कम मात्रा ही बेचने को तैयार होंगे। किसी वस्तु की कीमत तथा पूर्ति की मात्रा के इस प्रत्यक्ष संबंध को पूर्ति का नियम कहते हैं।

(ii) **अन्य वस्तुओं की कीमतें**–यदि किसी वस्तु, जिसका उत्पादक उत्पादन कर रहा है, की कीमत समान रहे या बढ़ती है लेकिन अन्य वस्तुओं की कीमतों में, उस वस्तु की कीमत की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो जाती है तो उत्पादक को अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने में अधिक लाभ होगा। इसलिए वह उस वस्तु (जिसका उत्पादन कर रहा है) का उत्पादन बंद या कम करके अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने लगेगा और इस प्रकार उस वस्तु विशेष की पूर्ति कम हो जाएगी। इस प्रकार एक वस्तु की पूर्ति दूसरी वस्तुओं की कीमतों के द्वारा प्रभावित होती है।

(iii) **तकनीकी ज्ञान का स्तर**–किसी वस्तु के उत्पादन में तकनीकी ज्ञान की वृद्धि या खोज होने से उसी की पूर्ति बढ़ जाती है। पिछले कुछ वर्षों में तकनीकी ज्ञान में विकास तथा सुधारों के कारण ही विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का भारी मात्रा में उत्पादन होना संभव हुआ है। तकनीकी ज्ञान के विकास के कारण विभिन्न प्रकार की वस्तुएं–भारी मात्रा में, अच्छी किस्म की तथा कम लागत पर, उत्पादित की जा सकती हैं।

(iv) **उत्पादन के साधनों की कीमतें**—किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयोग किए जाने वाले उत्पादन के साधनों-श्रम, भूमि, पूँजी आदि की कीमतें बढ़ने या कम होने का उत्पादन की मात्रा तथा पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। किसी एक उत्पादन के साधन—जैसे श्रम की मजदूरी बढ़ने पर उस वस्तु जिसमें श्रम का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है, की उत्पादन लागत अपेक्षाकृत बढ़ जाएगी और इसके कारण उसका लाभ कम हो जाएगा। इसलिए वह इस वस्तु का उत्पादन बंद या कम करके दूसरी वस्तुओं का उत्पादन करने लगेगा। जिनमें श्रम का अपेक्षाकृत कम प्रयोग किया जाता है। इस कारण उस वस्तु विशेष की पूर्ति कम हो जाएगी तथा अन्य वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जाएगी।

(v) **उत्पादकों के उद्देश्य (Goals of Producers)**—यद्यपि उत्पादक का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है लेकिन यदि उत्पादक अपनी वस्तु की अधिक-से-अधिक मात्रा बेचना चाहता है तो वह कम लाभ पर भी उस वस्तु का उत्पादन तथा विक्रय करेगा। यदि उत्पादक उत्पादन में निहित जोखिम लेने को तैयार होते हैं तो उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाएगा जिनके उत्पादन में जोखिम का अंश अपेक्षाकृत अधिक होता है।

पूर्ति का नियम (Law of Supply): किसी वस्तु की कीमत और उसकी पूर्ति की मात्रा में प्रत्यक्ष (Direct) संबंध होता है। किसी वस्तु की ऊँची कीमतों पर उसकी पूर्ति की मात्रा अधिक तथा कम कीमतों पर पूर्ति की मात्रा कम होगी। किसी वस्तु की कीमत और उसकी पूर्ति के इस संबंध को पूर्ति का नियम कहते हैं। इस प्रकार पूर्ति के नियम की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—अन्य बातें समान रहें, तो ऊँची कीमतों पर पूर्ति की मात्रा अधिक तथा नीची कीमतों पर पूर्ति की मात्रा कम होती है अर्थात् किसी वस्तु की कीमत तथा उसकी पूर्ति की मात्रा में सीधा संबंध होता है। 'अन्य बातें समान रहें' का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन सिर्फ उस वस्तु की कीमत से परिवर्तन होने के कारण ही होता है और पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्व, जैसे अन्य वस्तुओं की कीमतें, वस्तु के उत्पादन के साधनों की कीमतें, तकनीकी ज्ञान का स्तर आदि स्थिर रहते है।

पूर्ति के नियम के लागू होने का कारण यह है कि उत्पादक का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाने पर वस्तु का अधिक उत्पादन करना लाभदायक होता है, अतः उस वस्तु का अधिक उत्पादन करके उसकी पूर्ति बढ़ा देते हैं। इसके विपरीत कीमत कम होने पर उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन में कमी करके उसकी पूर्ति कम कर देते हैं।

पूर्ति के नियम को पूर्ति सारणी तथा पूर्ति वक्र की सहातया से समझा सकते हैं।

फर्म की पूर्ति सारणी (Supply Schedule of a Firm): किसी वस्तु की पूर्ति किसी कीमत के संदर्भ में व्यक्त की जाती है। वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उसकी पूर्ति की मात्राएं भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिए बाल पेन का एक उत्पादक (फर्म) बाजार में प्रति बाल पेन की कीमत क्रमशः 1 रुपया, 1.50 रुपये, 2 रुपये तथा 2.50 रुपये होने पर बाल पेन की क्रमशः 10, 14, 17 तथा 19 इकाइयाँ बेचने के लिए तैयार है। यदि हम इसे निम्न तालिका के रूप में पेश करते है तो इसे फर्म की पूर्ति सारणी कहा जाता है—

तालिका 4.3

व्यक्तिगत फर्म की पूर्ति सारणी

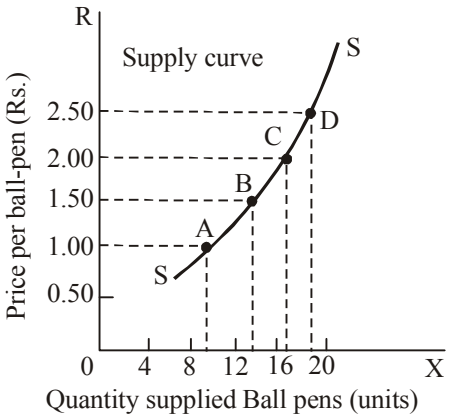
कीमत प्रति बाल पेन (रुपये)	बाल पेन की पूर्ति की मात्रा (इकाइयों)
1.00	10
1.50	14
2.00	17
2.50	19

पूर्ति सारणी यह स्पष्ट बताती है कि अधिक कीमत पर पूर्ति की मात्रा अधिक तथा कम कीमत पर पूर्ति की मात्रा कम होती है।

फर्म का पूर्ति वक्र (Supply curve of a firm): यदि उपरोक्त पूर्ति सारणी को एक रेखाचित्र में प्रस्तुत करें तो एक फर्म का पूर्ति वक्र मालूम कर सकते हैं जैसाकि रेखाचित्र 4.5 में दिखाया है।

रेखाचित्र 4.5 में X अक्ष पर बाल पेन की पूर्ति की मात्रा तथा Y अक्ष पर उसकी कीमत दिखाते हैं। रेखाचित्र में बिंदु, A, B, C तथा D पूर्ति सारणी में बाल पेन की दी गई विभिन्न कीमतों पर उनकी पूर्ति मात्रा दिखाते हैं। यदि हम A, B, C तथा D को मिला दें तो एक वक्र SS बन जाती है, इसे पूर्ति वक्र कहते हैं। यही पूर्ति वक्र विभिन्न कीमतों पर बाल पेन की पूर्ति की मात्रा बताते हैं। ऊँची कीमत पर पूर्ति की मात्रा अधिक तथा नीची कीमतों पर पूर्ति की मात्रा कम होगी। पूर्ति सारणी की तरह पूर्ति वक्र भी इस मान्यता पर आधारित है कि सिर्फ वस्तु विशेष की कीमत से ही परिवर्तन होता है, उसकी पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्व समान रहते हैं। पूर्ति वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर उठता हुआ होता है जैसा कि रेखाचित्र 4.5 में दिखाया है।

चित्र : 4.5



बाजार पूर्ति सारणी तथा बाजार वक्र (Market Supply Schedule and Market Supply Curve): जिस प्रकार बाजार माँग सारणी तथा बाजार माँग वक्र को मालूम करने के लिए हम व्यक्तिगत या पारिवारिक माँग सारणियों तथा वक्रों को जोड़ लेते हैं, उसी प्रकार बाजार पूर्ति सारणी तथा बाजार पूर्ति वक्र को मालूम करने के लिए हम सारी फर्मों की व्यक्तिगत पूर्ति सारणियों तथा पूर्ति वक्रों को जोड़ लेते हैं। आसानी के लिए मान लें कि बाजार में बाल पेन बेचने (पूर्ति) की दो फर्में A तथा B हैं। इन फर्मों की बाल पेन की विभिन्न कीमतों पर पूर्ति की मात्रा अर्थात् उनकी व्यक्तिगत पूर्ति सारणी निम्न प्रकार है। इन दोनों की व्यक्तिगत पूर्ति सारणियों को जोड़कर बाजार पूर्ति सारणी मालूम कर सकते हैं जैसा कि हमने तालिका 4.4 में दिखाया है।

तालिका 4.4

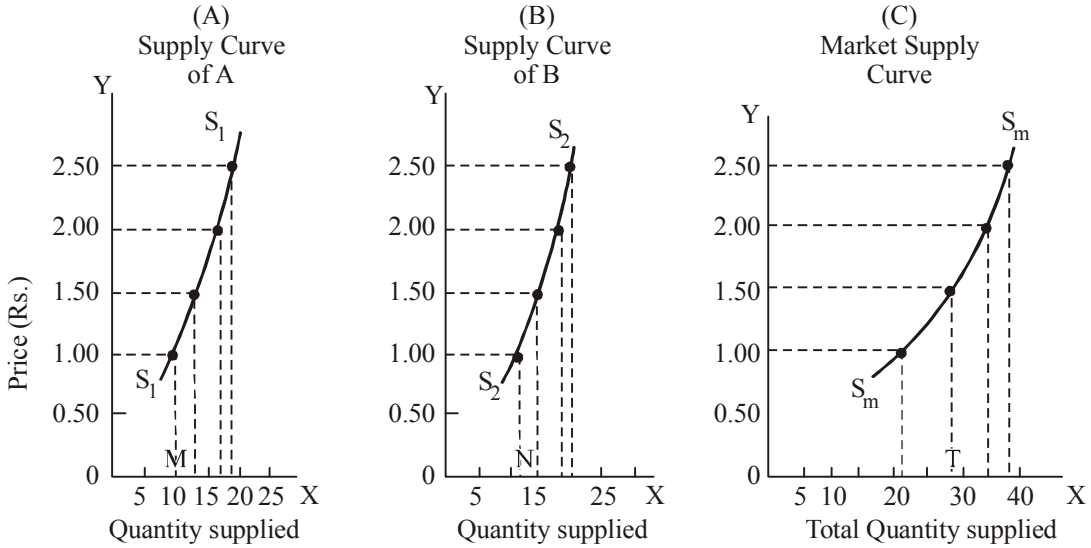
बाजार पूर्ति सारणी

कीमत प्रति बाल पेन (रुपए)	फर्म तथा की व्यक्तिगत पूर्ति सारणी पूर्ति की मात्रा बाल पेन (इकाइयों)		बाजार पूर्ति (पूर्ति की कुल मात्रा) (इकाइयों)
	फर्म A	फर्म B	(A +B)
1.00	10	11	21
1.50	14	15	29
2.00	17	18	35
2.50	19	20	39

कॉलम 2 तथा 3 में A तथा B फर्मों की बाल पेन की विभिन्न कीमतों पर उनके द्वारा की जाने वाली पूर्ति की मात्रा व्यक्त की गई है। इन दोनों को जोड़कर बाजार में बाल पेन का कुल पूर्ति की मात्रा मालूम की गई है—जैसा कि हमने कॉलम 4 में दिखाया गया है। व्यक्तिगत पूर्ति सारणी की तरह बाजार पूर्ति सारणी वस्तु की कीमत तथा उसकी पूर्ति की मात्रा के प्रत्यक्ष संबंध को व्यक्त करती है।

बाजार पूर्ति वक्र (Market Supply Curve): उपरोक्त सारणी को रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत करने पर हम बाजार पूर्ति वक्र मालूम कर सकते हैं। बाजार पूर्ति वक्र फर्म A तथा B की व्यक्तिगत पूर्ति वक्रों को जोड़कर भी मालूम की जा सकती है। बाजार पूर्ति वक्र मालूम करने का तरीका वही है जो कि बाजार माँग वक्र मालूम करते समय समझाया था। यह हम रेखाचित्र 4.6 की सहायता से समझ सकते हैं।

चित्र : 4.6

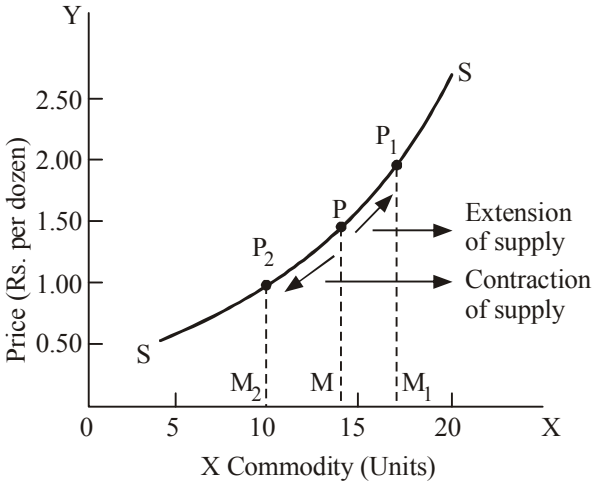


रेखाचित्र 4.6 (A) में फर्म A की व्यक्तिगत पूर्ति वक्र तथा रेखाचित्र (B) में फर्म की व्यक्तिगत पूर्ति वक्र दिखाई है। इन दोनों के क्षैतिज अक्ष (X अक्ष) को जोड़कर हमने रेखाचित्र (C) में बाजार पूर्ति वक्र मालूम की है। जैसे कि जब बाल पेन की कीमत 1. 50 रु. है तो फर्म A की पूर्ति की मात्रा OM (14 बाल पेन) तथा फर्म A की पूर्ति की मात्रा ON (15 बाल पेन) है। इसलिए बाजार पूर्ति OM+ON=OT (14+15=29) होगी। इसी प्रकार अन्य कीमतों पर क्षैतिज X-अक्ष (Horizontal axis) को जोड़कर बाजार पूर्ति वक्र मालूम कर सकते हैं। व्यक्तिगत फर्म की पूर्ति वक्र की तरह बाजार पूर्ति वक्र भी किसी वस्तु की कीमत और पूर्ति की मात्रा के सीधे संबंध—अर्थात् कीमत अधिक होने पर पूर्ति की मात्रा का अधिक होना तथा कीमत कम होने पर पूर्ति की मात्रा का कम होना—को बताती है।

पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन (पूर्ति में विस्तार तथा संकुचन) और पूर्ति में परिवर्तन (पूर्ति में वृद्धि या कमी) में अंतर—

(i) पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन (Change in quantity supplied) या पूर्ति में विस्तार एवं संकुचन : यदि किसी वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में से कीमत के अलावा अन्य तत्त्व समान रहें तो किसी वस्तु की कीमत बढ़ने पर पूर्ति के बढ़ने को तथा कीमत कम होने पर पूर्ति के घटने को पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन कहते हैं। कीमत बढ़ने पर पूर्ति की मात्रा बढ़ जाने को पूर्ति में विस्तार तथा कीमत कम होने पर पूर्ति की मात्रा कम होने कों पूर्ति में संकुचन भी कहते हैं। पिछले दिए गए उदाहरण में जब कीमत 1.50 रुपये प्रति बाल पेन से 2.00 रुपये बढ़ जाने पर पूर्ति की मात्रा 14 बाल पेन से बढ़कर 17 बाल पेन हो जाने को पूर्ति में विस्तार (या पूर्ति की मात्रा परिवर्तन) तथा कीमत 1.50 रुपये घटकर 1.00 रुपया हो जाने पर बाल पेन की पूर्ति की मात्रा के 14 से घटकर 10 बालपेन हो जाने को पूर्ति में संकुचन या पूर्ति को मात्रा में परिवर्तन कहते हैं। कीमत बढ़ने या घटने से पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन से एक ही पूर्ति वक्र पर चलन होता है, जैसा कि रेखाचित्र 4.7 में दिखाया गया है। पूर्ति वक्र पर ऊपर की ओर चलन कीमत में वृद्धि तथा पूर्ति में विस्तार और नीचे की ओर चलन कीमत में कमी तथा पूर्ति में संकुचन को व्यक्त करता है।

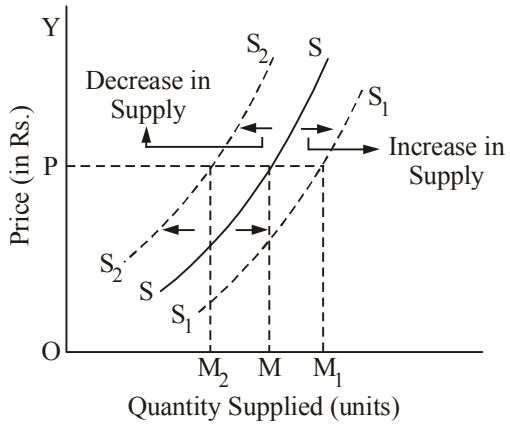
चित्र : 4.7



रेखाचित्र में जब कीमत MP (1.50 रुपये) से बढ़कर M_1P_1 (200 रुपये) हो जाती है तो उसकी पूर्ति की मात्रा OM (14 बाल पेन) से बढ़कर OM_1 (17 बाल पेन) हो जाती है। इसे पूर्ति में विस्तार कहते हैं तथा उसी पूर्ति वक्र पर ऊपर की ओर चलते हैं। इसके विपरीत कीमत MP (1.50) से घटकर M_2P_2 (1.00 रुपये) हो जाने पर पूर्ति की मात्रा OM (14 बाल पेन) से घटकर OM_2 (10 बाल पेन) हो जाती है। इस स्थिति को पूर्ति में संकुचन कहते हैं और पूर्ति वक्र पर नीचे की ओर चलते हैं। दूसरे शब्दों में कीमत में परिवर्तन होने पर एक ही पूर्ति वक्र पर ऊपर या नीचे की ओर चलन होता है।

(ii) **पूर्ति में परिवर्तन या पूर्ति में वृद्धि या कमी :** यदि वस्तु की कीमत समान रहे लेकिन उस वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों—अन्य वस्तुओं की कीमतें, उत्पादन के साधनों की कीमतें, तकनीकी ज्ञान आदि में परिवर्तन आने से पूर्ति में परिवर्तन आता है तो इसे पूर्ति में परिवर्तन या पूर्ति में वृद्धि या कमी कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी वस्तु विशेष में प्रयोग आने वाले उत्पादन के साधनों की कीमतें बढ़ जाती हैं तो उत्पादन लागत बढ़ जाती है। इसलिए उत्पादक उस वस्तु का उत्पादन कम या बंद कर देंगे और इस प्रकार उस वस्तु की पूर्ति कम हो जाती हे। इसे पूर्ति में कमी कहते हैं। इस स्थिति में पूर्ति वक्र बाएं नीचे को खिसक जाएगी। इसके विपरीत उस वस्तु के उत्पादन में प्रयोग आने वाले उत्पादन के साधनों की कीमतें कमहो जाती हैं तो उत्पादक उस वस्तु का अधिक उत्पादन करेंगे और पूर्ति वक्र दाएँ ऊपर की ओर खिसक जाएगा। इसे हम पूर्ति में वृद्धि कहते हैं। इसे रेखाचित्र 4.8 की सहायता से समझाया जा सकता है।

चित्र : 4.8



किसी वस्तु X की प्रारंभिक पूर्ति वक्र SS है। OP कीमत पर पूर्ति की मात्रा OM है। OP कीमत पर पूर्ति की मात्रा OM है। यदि पूर्ति को प्रभावित करने वाले (कीमत के अलावा) अन्य तत्त्वों में से एक तत्त्व, उत्पादन के साधनों की कीमत के कम हो जाने पर उत्पादक उस वस्तु का अधिक मात्रा में उत्पादन करके पूर्ति बढ़ा देते हैं तो पूर्ति वक्र SS से ऊपर दायीं ओर खिसक कर S_1S_1

बन जाती है। यह वक्र S_1S_1 बताती है कि कीमत समान (OP) रहने पर भी इस वस्तु की पूर्ति OM से बढ़कर OM_1 हो गई है। इसे पूर्ति में वृद्धि या पूर्ति वक्र का ऊपर दायीं तरफ खिसकना कहते हैं। इसके विपरीत यदि उत्पादन के साधनों की कीमतें बढ़ जाती हैं तो पूर्ति वक्र SS अपने स्थान के नीचे बायीं ओर खिसककर S_2S_2 हो जाती है। नई पूर्ति वक्र S_2S_2 यह बताती है कि वस्तु की कीमत समान (OP) रहने पर उस वस्तु की पूर्ति OM से घटकर OM_2 हो जाती है। पूर्ति वक्र के बायीं ओर नीचे की तरफ खिसकना पूर्ति से कमी बताता है।

इस प्रकार किसी वस्तु की पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन (पूर्ति का संकुचन या विस्तार) वस्तु की कीमत में परिवर्तन के कारण होता है। पूर्ति में परिवर्तन (पूर्ति में वृद्धि या कमी) वस्तु की कीमत के अलावा पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों में परिवर्तन के कारण होता है।

1.3

संतुलन कीमत का निर्धारण
(Determination of Equilibrium Price)

किसी वस्तु की कीमत उसकी माँग तथा पूर्ति के द्वारा संयुक्त रूप में निर्धारित होती है। बाजार में किसी वस्तु की कीमत उस बिंदु पर निर्धारित होती है जहाँ पर उस वस्तु की माँग की मात्रा उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं। तालिका 4.5 में किसी एक वस्तु (बाल पेन) की बाजार की माँग सारणी तथा बाजार पूर्ति सारणी दी गई है जो यह बताती है कि विभिन्न कीमतों पर उस वस्तु की माँग तथा पूर्ति की कितनी मात्राएं होंगी।

तालिका 4.5

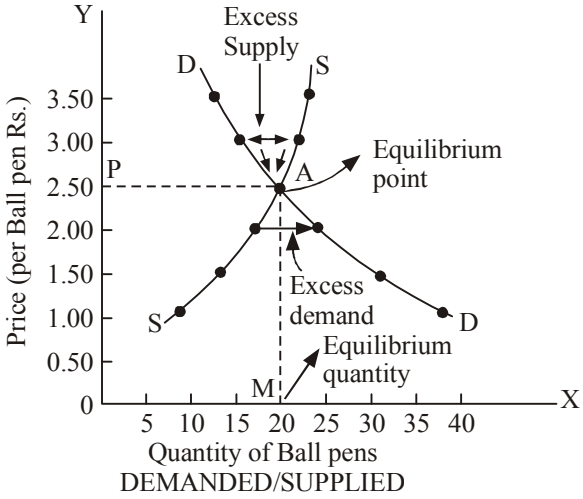
कीमत प्रति बाल पेन (रुपए)	मांग की मात्रा (बाजार माँग सारणी) (बाल पेन) (इकाइयाँ)	पूर्ति की मात्रा (बाजार पूर्ति सारणी) (बाल पेन) (इकाइयाँ)	कीमत पर दबाव
1.00	38	8	बढ़ना
1.50	31	13	बढ़ना
2.00	25	17	बढ़ना
2.50	20	20	संतुलन
3.00	16	22	घटना
3.50	13	23	घटना

इस तालिका में यह दिखाया गया है कि जैसे-जैसे वस्तु की कीमत बढ़ती जाती है माँग की मात्रा कम तथा पूर्ति की मात्रा बढ़ती है। बाजार में बाल पेन की कीमत 2.50 रुपये प्रति बाल पेन होने पर, बाल पेन की माँग की मात्रा (20 बाल पेन) तथा पूर्ति की मात्रा (20 बाल पेन) बिल्कुल बराबर है अर्थात् माँग तथा पूर्ति की मात्रा संतुलन की स्थिति में है। इसलिए बाजार में उस वस्तु की कीमत 2.50 रुपये होगी। इसे हम संतुलन कीमत (Equilibrium Price) कहते हैं। इस कीमत पर क्रेता उस वस्तु की जितनी मात्रा खरीदने को तैयार हैं विक्रेता उस वस्तु की उतनी ही मात्रा बेचने को तैयार हैं। इस स्थिति में माँग तथा पूर्ति की मात्राओं को संतुलन मात्रा (Equilibrium Quantity) कहते हैं। यदि बाजार में वस्तु की कीमत संतुलन कीमत से कम या अधिक है तो माँग तथा पूर्ति की शक्तियाँ गतिशील हो जाएँगी और अंततः कीमत संतुलन कीमत के बराबर हो जाएगी।

माँग तथा पूर्ति द्वारा संतुलन कीमत के निर्धारण को हम रेखाचित्र 4.9 के द्वारा समझा सकते हैं—रेखाचित्र में माँग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS तालिका 4.5 में दी गई विभिन्न कीमतों पर वस्तु की भिन्न-भिन्न माँग की मात्रा तथा पूर्ति की मात्राओं को दिखाती है। माँग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS एक-दूसरे को A बिंदु पर काटते हैं। दूसरे शब्दों में A बिंदु अर्थात् OP कीमत (2.50 रुपये) पर माँग की मात्रा तथा पूर्ति की मात्रा बिल्कुल बराबर है। माँग की मात्रा भी OM (20 बाल पेन) हैं तथा पूर्ति की मात्रा भी (20 बाल पेन) है। इसलिए वस्तु की कीमत OP (2.50 रुपये होगी। बाजार में वस्तु की कीमत इस कीमत से अधिक या कम कीमत पर ठहर नहीं सकती है और माँग तथा पूर्ति की शक्तियाँ गतिशील होकर इसे अंततः OP कीमत (2.50 रुपये) पर ला देगी। इसलिए इसे संतुलन कीमत कहते हैं तथा माँग और पूर्ति की मात्रा OM को संतुलन मात्रा कहते हैं।

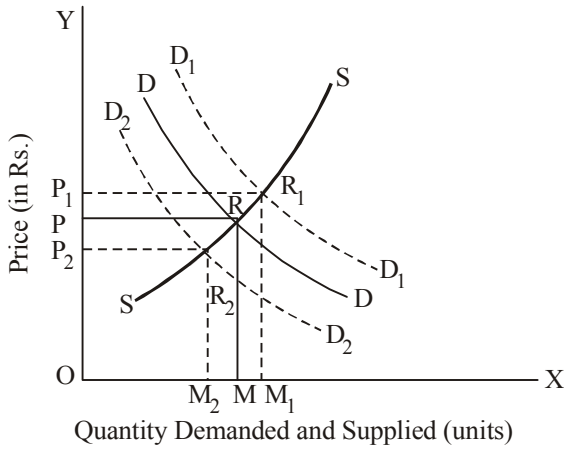
मान लें कि बाजार में बाल पेन की कीमत 3 रुपये होने पर माँग की मात्रा 16 बाल पेन तथा पूर्ति की मात्रा 22 बाल पेन होगी अर्थात् बाजार में अतिरिक्त पूर्ति (Excess Supply) =22−16=6 बाल पेन होगी। विक्रेता के पास बिना बिका (Unsold) माल रह जाएगा और उन्हें नुकसान होने लगेगा। इसलिए वे कीमत कम कर देंगे। उपभोक्ता भी बाजार में इस वस्तु की अतिरिक्त पूर्ति देखकर उसे कम कीमत पर खरीदना चाहेंगे। इसके फलस्वरूप बाजार में कीमत कम होने लगेगी और अंततः 2.50 रुपये हो जाएगी अर्थात् संतुलन कीमत के समान हो जाएगी जहाँ पर वस्तु की पूर्ति की मात्रा उसकी माँग की मात्रा के समान है। इसके विपरीत यदि कीमत संतुलन कीमत से कम, जैसे 2 रुपये है तो उस स्थिति में माँग की मात्रा 25 इकाइयाँ, पूर्ति की मात्रा 17 इकाइयाँ से अधिक है अर्थात् बाजार में अतिरित माँग (Excess Demand) = 8 इकाइयाँ होगी। अतिरिक्त माँग के कारण कीमत बढ़ जाएगी। बाजार में पूर्ति कम होने से विक्रेता अधिक कीमत पर ही बेचने को तैयार होंगे तथा क्रेता भी उस वस्तु को पाने के लिए अधिक कीमत देने को तैयार होंगे। इस प्रकार अतिरिक्त माँग के कारण कीमत बढ़ने लगेगी और अंततः संतुलन कीमत के समान हो जाएगी। इस प्रकार बाजार में कीमत संतुलन कीमत से अधिक या कम होने पर पूर्ति तथा माँग की शक्तियाँ क्रियाशील होकर कीमत को अंततः संतुलन कीमत के बराबर कर देगी। संतुलन कीमत होने पर कीमत में परिवर्तन की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है इसलिए जिस कीमत पर माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होगी उसे हम संतुलन कीमत कहते हैं तथा माँग तथा पूर्ति की इस मात्रा को संतुलन मात्रा कहते हैं।

चित्र : 4.9



माँग तथा पूर्ति में परिवर्तन का संतुलन कीमत पर प्रभाव : चूँकि किसी वस्तु की संतुलन कीमत उस वस्तु की माँग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित होती है इसलिए माँग तथा पूर्ति की मात्राओं में परिवर्तन आने पर संतुलन कीमत परिवर्तित हो जाती है।

चित्र : 4.10



(i) **माँग में परिवर्तन का संतुलन कीमत पर प्रभाव :** हमने आपको पहले बताया था कि माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों (वस्तु विशेष की कीमत के अलावा) में परिवर्तन आने पर माँग वक्र ऊपर दाहिनी ओर या नीचे बायीं ओर खिसक जाती है इसलिए संतुलन कीमत पर प्रभाव पड़ेगा। इसे हम निम्न चित्र की सहायता से समझ सकते हैं।

रेखाचित्र 4.10 में किसी वस्तु की प्रारंभिक माँग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS तथा ये दोनों R बिंदु पर एक-दूसरे को काटती हैं इसलिए OP संतुलन कीमत तथा OM माँग तथा पूर्ति की संतुलन मात्रा है। उपभोक्ता की आय, रुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतों आदि में परिवर्तन आने से माँग वक्र DD अपने स्थान से दाहिनी ओर खिसककर D_1D_1 हो जाती है। यदि पूर्ति वक्र SS समान रहे तो नई माँग वक्र D_1D_1 पूर्ति वक्र SS को R_1 बिंदु पर काटेगी जहाँ पर माँग तथा पूर्ति की मात्राएं समान हैं। इसलिए नई संतुलन कीमत $OP_1(R_1M_1)$ होगी तथा नई माँग तथा पूर्ति की संतुलन मात्रा OM_1 होगी। इसके विपरीत यदि उपरोक्त तत्त्वों में परिवर्तन के कारण माँग वक्र DD अपने स्थान से नीचे बायीं ओर खिसककर D_2D_2 हो जाती है और पूर्ति वक्र SS समान रहे तो नई माँग वक्र D_2D_2 तथा पूर्ति वक्र SS एक-दूसरे को R_2 पर काटते हैं। इसलिए नई संतुलन कीमत OP_2 (या R_2M_2) होगी तथा माँग तथा पूर्ति की संतुलन मात्रा OM_2 होगी।

इस प्रकार यदि पूर्ति वक्र स्थिर रहती है तो

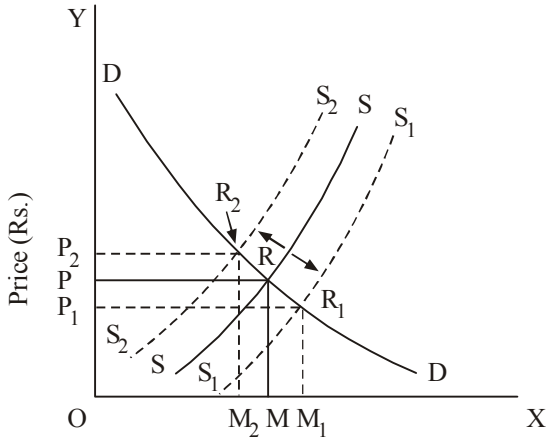
(i) माँग वक्र के दाएं ऊपर की ओर खिकसने या माँग में वृद्धि होने से उस वस्तु की नई संतुलन कीमत तथा माँग तथा पूर्ति की नई संतुलन मात्रा प्रारंभिक संतुलन कीमत तथा संतुलन मात्रा से अधिक होगी।

(ii) माँग में कमी होने अर्थात् माँग वक्र के नीचे बाईं ओर खिसकने के कारण नई संतुलन कीमत तथा नई संतुलन मात्रा प्रारंभिक संतुलन कीमत तथा संतुलन मात्रा से कम होगी।

(ii) पूर्ति में परिवर्तन या पूर्ति वक्र के खिसकने का संतुलन कीमत पर प्रभाव :

किसी वस्तु की पूर्ति, उस वस्तु की कीमत समान रहने पर भी अन्य तत्त्वों जैसे, अन्य वस्तुओं की कीमतों, उत्पादन के साधनों की कीमतों, तकनीकी ज्ञान का स्तर आदि में परिवर्तन से पूर्ति वक्र ऊपर दाईं ओर या नीचे वाईं ओर खिसक जाती है और इसका संतुलन कीमत तथा संतुलन मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। इसे हम रेखाचित्र 4.11 के द्वारा समझा सकते हैं–

चित्र 4.11



Quantity Demanded and Supplied (units)

रेखाचित्र में प्रारंभिक माँग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS एक दूसरे को R बिंदु पर काटते हैं इसलिए OP संतुलन कीमत तथा OM माँग तथा पूर्ति की संतुलन मात्रा है। यदि उपरोक्त तत्त्वों में परिवर्तन आने से पूर्ति वक्र अपने स्थान से ऊपर दाईं ओर खिसककर S_1S_1 हो जाती है तो नई संतुलन कीमत OP_1 होगी। दूसरे शब्दों में माँग वक्र समान रहने पर यदि पूर्ति वक्र ऊपर की ओर खिसक जाती है तो नई संतुलन कीमत प्रारंभिक संतुलन कीमत से कम होगी। लेकिन माँग तथा पूर्ति की नई संतुलन मात्रा प्रारंभिक संतुलन मात्रा से अधिक होगी। इसके विपरीत यदि उपरोक्त तत्त्वों में परिवर्तन आने पर पूर्ति वक्र SS बाईं ओर नीचे की तरफ खिसककर S_2S_2 हो जाती है और माँग वक्र समान रहती है तो नई संतुलन कीमत $OP_2(R_2M_2)$ प्रारंभिक संतुलन कीमत से अधिक होगी लेकिन माँग तथा पूर्ति की नई संतुलन मात्रा OM_2 प्रारंभिक संतुलन मात्रा OM से कम होगी।

हमने आपको ऊपर पूर्ति वक्र से स्थिर रहने पर माँग वक्र के खिसकने तथा माँग वक्र के स्थिर रहने पर पूर्ति वक्र के खिसकने का किसी वस्तु की संतुलन कीमत पर प्रभाव को बताया था। यदि माँग तथा पूर्ति में एक साथ परिवर्तन हो अर्थात् माँग वक्र तथा पूर्ति वक्र दोनों ही एक साथ खिसक जाएं तो जहाँ पर भी नई माँग तथा पूर्ति की मात्राएं बराबर होंगी वहीं पर नई संतुलन कीमत तथा माँग तथा पूर्ति की संतुलन मात्राओं का निर्धारण होगा।

उपभोक्ता की माँग का सिद्धांत (Theory of Consumer's Demand): प्रत्येक उपभोक्ता की आय सीमित होती है लेकिन वह जिन वस्तुओं व सेवाओं को खरीदना चाहता है उनकी संख्या असीमित होती है। इसलिए कोई भी उपभोक्ता उन सब वस्तुओं व सेवाओं को प्राप्त नहीं कर सकता जिन्हें वह खरीदना चाहता है। उसे यह सोचना पड़ता है कि क्या खरीदें और क्या नहीं खरीदे। उसका उद्देश्य अपनी सीमित आय को इस प्रकार खर्च करना होता है कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। उपभोक्ता की माँग का सिद्धांत उन आर्थिक नियमों को समझाता है जिनके आधार पर उपभोक्ता अपनी सीमित आय को विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने पर किस प्रकार खर्च करे कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। वह स्थिति जबकि उपभोक्ता को अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है उपभोक्ता के संतुलन की स्थिति कहलाती है। अतः दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमें उपभोक्ता के संतुलन का पता लगाना है।

उपभोक्ता की माँग के सिद्धांत के अध्ययन के कई तरीके हैं। इनमें से दो वैकल्पिक तरीकों के बारे में विवेचन किया जाएगा। प्रथम, उपयोगिता विश्लेषण तथा द्वितीय, अनधिमान वक्र विश्लेषण। उपयोगिता विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को जो उपयोगिता प्राप्त होती है उसे परिमाणात्मक (Quantitative) रूप में मापा जा सकता है। अनधिमान वक्र विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके द्वारा उपभोक्ता को किसीवस्तु से प्राप्त उपयोगिता की परिमाणात्मक रूप में मापे बिना ही उपभोक्ता के व्यवहार का विश्लेषण किया गया है। उपयोगिता विश्लेषण का प्रतिपादन एल्फ्रेड मार्शल ने किया है इसलिए इसे मार्शल का उपयोगिता विश्लेषण भी कहा जाता है। मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण के विकल्प के रूप में जे.आर. हिक्स ने अनधिमान वक्र विश्लेषण का विकास किया।

उपयोगिता विश्लेषण (Utility Analysis) : जो भी वस्तु आप खरीदते हैं वह इसलिए खरीदते हैं क्योंकि उससे आपको कुछ उपयोगिता मिलती है। आप कोई भी ऐसी वस्तु नहीं खरीदेंगे जिससे आपको उपयोगिता न मिलती हो। उदाहरण के लिए यदि आप शाकाहारी है तो माँस नहीं खरीदेंगे। यदि आप सिगरेट नहीं पीते तो सिगरेट नहीं खरीदेंगे क्योंकि इन वस्तुओं की आपके लिए कोई उपयोगिता नहीं है।

मार्शल के अनुसार एक उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए अधिक से अधिक जो कीमत देने को तैयार है, वही इस वस्तु की उसके लिए उपयोगिता का माप है। उदाहरण के लिए यदि आप एक संतरे के लिए अधिक से अधिक एक रुपया देने को तैयार है तो उस संतरे की उपयेागिता आपके लिए एक रुपये के बराबर है। यदि उसी संतरे के लिए आपका मित्र केवल 50 पैसे देने को तैयार हैं तो उसके लिए उसी संतरे की उपयोगिता 50 पैसे के बराबर है। उपयोगिता को मापने का यह केवल अप्रत्यक्ष तरीका है।

सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Marginal Utility) : एक ही वस्तु की उपयोगिता विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न हो सकती है और एक ही व्यक्ति के लिए अलग-अलग समय में विभिन्न हो सकती है। लेकिन एक ही व्यक्ति के लिए एक ही समय पर एक ही वस्तु की विभिन्न इकाइयों से मिलने वाली उपयोगिता भी समान नहीं होती। जब आप पहला संतरा खरीदते हैं तो आपको कुछ उपयोगिता प्रापत होती है। यदि आप एक और संतरा खरीदते हैं तो इस दूसरे संतरे से आपको पहले संतरे की तुलना में कम उपयोगिता प्राप्त होगी। इस प्रकार जैसे-जैसे कोई उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदता है, वैसे-वैसे प्रत्येक अगली इकाई से मिलने वाली उपयोगिता (सीमांत उपयोगिता) घटती जाती है। इस प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र में सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम कहते हैं। यह नियम यह बताता है कि जैसे-जैसे हम किसी वस्तु की अधिक इकाइयों का उपयोग करते हैं वैसे-वैसे उत्तरोत्तर इकाइयों से प्राप्त सीमांत उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। यद्यपि हर अगली इकाई से मिलने वाली उपयोगिता (अर्थात् सीमांत उपयोगिता) घटती है, लेकिन कुल उपयोगिता बढ़ती जाएगी परंतु कुल उपयोगिता में वृद्धि की दर घटती जाएगी।

इसे एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं। मान लीजिए आप 6 संतरे खरीदते हैं। जैसे-जैसे आप संतरों का प्रयेग करते हैं वैसे-वैसे संतरों की उत्तरोत्तर इकाईयों से आपको प्राप्त सीमांत उपयोगिता घटती जाती है। जैसा कि तालिका 4.6 में दिखाया गया है।

सीमांत उपयोगिता (Marginal Utility)—एक अतिरिक्त इकाई में मिलने वाली उपयोगिता को सीमांत उपयोगिता कहते हैं। पहला संतरा सीमांत संतरा है और इससे मिलने वाली उपयोगिता सीमांत उपयोगिता है। दूसरा संतरा सीमांत संतरा है और इससे मिलने

वाली उपयोगिता सीमांत उपयोगिता है—सीमांत स्थिर नहीं है बल्कि बदलती है। क्योंकि सारी इकाइयों समरूप है इसलिए प्रत्येक इकाई सीमांत इकाई है और उससे मिलने वाली उपयोगिता सीमांत उपयोगिता होगी। तालिका 4.6 से स्पष्ट है कि उपभोक्ता को प्रत्येक अतिरिक्त संतरे से मिलने वाली सीमांत उपयोगिता घट रही है। सीमांत उपयोगिता घटकर शून्य भी हो सकती है और ऋणात्मक भी। जब प्रत्याशित संतुष्ट धनात्मक की बजाय ऋणात्मक होती है तो इसे ऋणात्मक उपयोगिता कहते हैं।

कुल उपयोगिता (Total Utility)—किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों के उपभोग से जो उपयोगिता प्राप्त होती है उसके योग को कुल उपयोगिता कहते हैं। सीमांत उपयोगिता का योग ही कुल उपयोगिता होती है।

तालिका 4.6

संतरों की संख्या	सीमांत उपयोगिता	कुल उपयोगिता
पहला	4	4
दूसरा	3	7
तीसरा	2	9
चौथा	1	10
पांचवा	0	10
छठा	-1	-9

जब आप प्रथम संतरे का प्रयोग करते हैं तो प्रथम संतरे से प्राप्त उपयोगिता सीमांत उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता होगी। जब दूसरे संतरे का उपयोग करते हैं तो दूसरे से प्राप्त उपयोगिता (3) सीमांत उपयोगिता कहलायेगी तथा प्रथम और दूसरे संतरों की सीमांत उपयोगिता का योग कुल उपयोगिता (4+3=7) होगी। इसी प्रकार तीसरे संतरे से प्राप्त उपयोगिता (2) सीमांत उपयोगिता तथा प्रथम, दूसरे तथा तीसरे संतरों से प्राप्त उपयोगिता का योग (4+3+2=9) कुल उपयोगिता कहलायेगी। ऊपर दी गई तालिका के दूसरे और तीसरे कालम को ध्यान से देखें तो आपको यह स्पष्ट हो जाएगा कि कुल उपयोगिता चौथे संतरे तक बढ़ रही है। यद्यपि सीमांत उपयोगिता कम हो रही है। छठे संतरे से क्योंकि नकारात्मक (Negative) सीमांत उपयोगिता मिलती है इसलिए कुल उपयोगिता कम हो जाती है। अतः हम कह सकते हैं चूंकि कुल उपयोगिता सीमांत उपयोगिता का योग होती है इसलिए जब तक सीमांत उपयोगिता धनात्मक (Positive) होगी, कुल उपयोगिता बढ़ेगी ओर जब सीमांत उपयोगिता शून्य होगी तो कुल उपयोगिता स्थिर रहेगी और अधिकतम होगी और जब सीमांत उपयोगिता नकारात्मक (Negative) होगी, तो कुल उपयोगिता घटने लगेगी।

सीमांत उपयेागिता तथा कुल उपयोगिता के संबंध में हम निम्न चित्र द्वारा समझा सकते हैं—

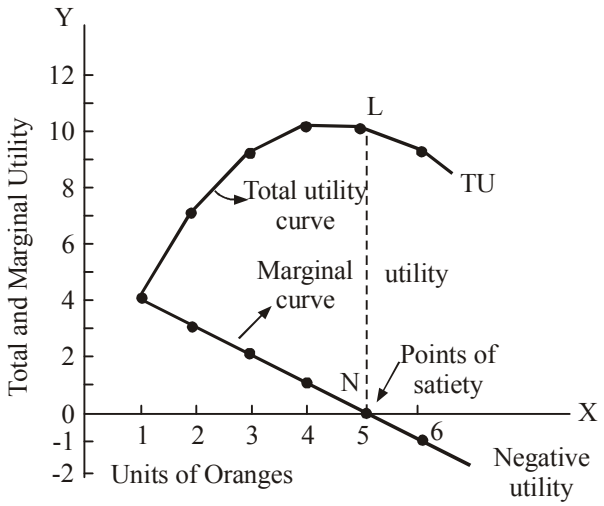
चित्र में X -अक्ष पर संतरों की मात्रा तथा Y-अक्ष पर उपयोगिता (सीमांत तथा कुल उपयोगिता) दिखाते हैं। जैसे-जैसे संतरों की मात्रा बढ़ती जाती है सीमांत उपयोगिता घटती जाती है। चित्र में सीमांत उपयोगिता वक्र का ढलान ऋणात्मक है जिसका अर्थ है कि प्रत्येक अतिरिक्त संतरे से मिलने वाली उपयोगिता घटती जाती है। उपभोक्ता को पाँचवें संतरे से शून्य उपयोगिता प्राप्त होने की आशा है और छठे संतरे से ऋणात्मक उपयोगिता प्राप्त होने की आशा है। सीमांत उपयोगिता वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर आती हुई है और X-अक्ष को काटती है।

दूसरी ओर कुल उपयोगिता वक्र ऊपर की ओर जाती है जिससे यह पता चलता है कि अतिरिक्त इकाइयों का उपयोग करने से कुल उपयोगिता L बिंदु तक बढ़ती है। लेकिन कुल उपयोगिता में होने वाली वृद्धि स्थिर नहीं है बल्कि घटती जाती है। कुल उपयोगिता वक्र एक अधिकतम बिंदु L पर पहुँचकर घटने लगती है।

सीमांत उपयोगिता और कुल उपयोगिता के संबंध को निम्नलिखित रूप में लिखा जा सकता है।

(i) जब सीमांत उपयोगिता घटती है; तथा धनात्मक होती है।	कुल उपयोगिता बढ़ती है लेकिन घटती हुई दर पर।
(ii) जब सीमांत उपयोगिता शून्य होती;	कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।
(iii) जब सीमांत उपयोगिता ऋणात्मक होती है;	कुल उपयोगिता अधिकतम स्तर से घटने लगती है।

चित्र : 4.12



मान्यताएँ (Assumptions)

सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम निम्न मान्यताओं पर आधारित है–

(1) वस्तु की विभिन्न इकाइयों समरूप (Homogenous) अर्थात् उनके आकार, किस्म व स्वाद आदि में कोई अंतर नहीं है।

(2) वस्तु की इकाइयों के उपभोग के बीच समय अंतराल नहीं है अर्थात् विभिन्न इकाइयों का उपभोग लगातार किया जाता है।

(3) वस्तु की विभिन्न इकाइयों के उपभोग के दौरान उपभोक्ता की मानसिक स्थिति, रुचि, फैशन आदि में परिवर्तन नहीं होता है।

नियम के अपवाद (Exceptions to the Law): सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम एक मूलभूत नियम है जो कि सब व्यक्तियों व सब वस्तुओं पर लागू होता है। वास्तव में इसका कोई अपवाद नहीं है। फिर भी इस नियम के कुछ अपवादों की चर्चा की जाती जो निम्न है :

(i) **मुद्रा का संचय :** यह कहा जाता हे कि यह नियम मुद्रा पर लागू नहीं होगा। इस धारणा का आधार यह बताया जाता है कि किसी व्यक्ति के पास जितनी अधिक मुद्रा होगी उतनी ही तीव्र उसकी और अधिक मुद्रा प्राप्त करने की इच्छा होगी। इस अपवाद को साबित करने के लिए एक कंजूस का उदाहरण दिया जाता है जिसकी मुद्रा संचय की इच्छा असीमित होती है। लेकिन यह कहना गलत है कि प्रथम रुपये और सौवें रुपये की सीमांत उपयोगिता समान है। यदि एक व्यक्ति के पास सिर्फ एक ही रुपया है तो वह उसे काफी सोच समझकर व्यय करेगा। लेकिन यदि उसके पास 100 रुपये हैं तो उसमें से एक रुपया व्यय करते समय उतना सोच-विचार नहीं करेगा। इसका तात्पर्य है कि सौंवे रुपये की सीमांत उपयोगिता पहले रुपये की सीमांत उपयोगिता से कम होती है। कंजूस को भी भोजन आदि पर व्यय करना पड़ता है। अतः भोजन आदि की उपयोगिता मुद्रा की उपयोगिता से अधिक है। लेकिन वस्तु की तुलना में मुद्रा की सीमांत उपयोगिता में एक अंतर है। साधारणतया मुद्रा की उपयोगिता बहुत धीरे-धीरे घटती है तथा शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकती क्योंकि एक व्यक्ति के पास चाहे जितनी मुद्रा की मात्रा हो, वह मुद्रा की अंतिम इकाई से कुछ-न-कुछ अवश्य खरीद सकता है।

(ii) **नशीली वस्तुओं का उपभोग**–यह कहा जाता है कि शराब आदि पर भी यह नियम लागू नहीं होता। कोई व्यक्ति जितनी शराब पीता है, उतना ही वह अधिक शराब पीना चाहता है। अतः शराब की सीमांत उपयोगिता घटने के स्थान पर बढ़ती है। यह विचार भी गलत है। शराबी के लिए भी एक स्थिति के पश्चात शराब की सीमांत उपयोगिता घटेगी और अंत में ऋणात्मक हो जाएगी। यदि ऐसा नहीं होता तो शराबी अधिक उपयोगिता प्राप्त करने के लिए शराब पीता ही जाता है। लेकिन एक स्थिति पर वह भी पीना बंद कर देता है।

(iii) **दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह**–तीसरा अपवाद डाक टिकट, सिक्के, चित्र एकत्रित करना आदि के संबंध में बताया जाता है। जितने अधिक डाक टिकट कोई इकट्ठे करता है उतनी ही उसकी और टिकट इकट्ठे करने की इच्छा होती है। लोग दुर्लभ टिकट या

तस्वीर आदि के लिए काफी मात्रा में पैसा खर्च करने को तैयार होते हैं अतः यह कहा जा सकता है कि यह नियम ऐसी वस्तुओं के शौक (Hobbies) पर लागू नहीं होता। यह धारणा भी गलत है। डाक टिकट इकट्ठे करने वाला उसी प्रकार की टिकट के लिए जो कि पहले से ही उसके पास है, पैसे नहीं खर्चना चाहेगा। लेकिन नई किस्म या दुर्लभ टिकट के लिए वह बड़ी रकम भी खर्चने को तैयार होगा। जब एक ही प्रकार की टिकटों की संख्या बढ़ती है तो उसकी सीमांत उपयोगिता घटेगी। अतः यह नियम हाबी पर भी लागू होता है। वास्तव में इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। अन्य बातें समान रहने पर यह नियम अंततः लागू होता है।

माँग का नियम और सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम (माँग वक्र की व्युत्पत्ति) : सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम ही माँग के नियम का आधार है। इस नियम के अनुसार किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों से मिलने वाली सीमांत उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। अतः वह अधिक इकाइयाँ केवल कम कीमतों पर खरीदेगा। इसी बात को हम दूसरे रूप में व्यक्त कर सकते हैं। वस्तु की अधिक इकाइयाँ होने पर सीमांत उपयोगिता घटती है, इसलिए अतिरिक्त इकाई की माँग केवल कम कीमत पर ही की जाएगी। सीमांत उपयोगिता वक्र का ढलान ऋणात्मक होता है, अतः माँग वक्र जो कि इस नियम पर आधारित है, का ढलान भी ऋणात्मक होगा। मार्शल के अनुसार वस्तु की सीमांत उपयोगिता को उसके लिए अधिक-से-अधिक दी जाने वाली मुद्रा के रूप में ब्यक्त किया जा सकता है। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में सीमांत उपयोगिता वक्र ही माँग वक्र बन जायेगी। यह स्थिति तालिका 4.7 तथा रेखाचित्र 4. 13 में दिखाई गई है :

तालिका 4.7

संतरों की सीमांत उपयोगिता अनुसूची

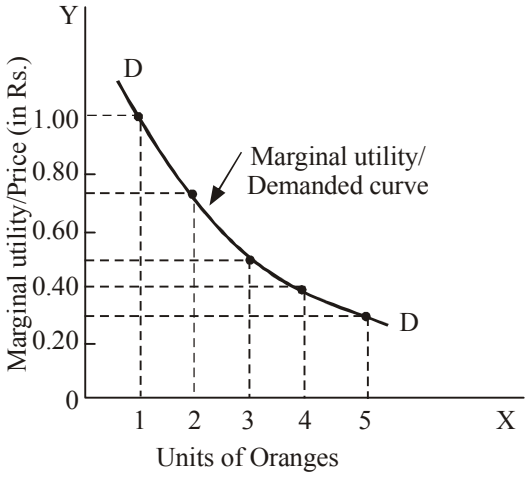
संतरों की संख्या	सीमांत उपयोगिता (रुपए)	कीमत (जो उपभोक्ता देने को तैयार है) (रुपये)
(1)	(2)	(3)
पहला संतरा	1.00	1.00
दूसरा ”	0.75	0.75
तीसरा ”	0.50	0.50
चौथा ”	0.40	0.40
पांचवा ”	0.30	0.30

उपरोक्त तालिका में जैसे-जैसे उपभोक्ता संतरे की अतिरिकत इकाइयों का उपभोग करता है, उसे प्रत्येक अगले संतरे से क्रमशः घटती हुई सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है। कॉलम 2 में संतरों की सीमांत उपयोगिता को मुद्रा (रुपये) में मापा गया है। कालम 3 में प्रत्येक अतिरिक्त संतरे को प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता अधिक-से-अधिक जितनी कीमत देने को तैयार है, दिखाया गया है, यही उसकी सीमांत उपयोगिता का माप है। उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि चूँकि उपभोक्ता को प्रत्येक अतिरिक्त संतरे से घटती हुई सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है, इसलिए उपभोक्ता प्रत्येक अगले संतरे के लिए क्रमशः कम कीमत देने को ही तैयार होता है। यदि बाजार में संतरे की कीमत 1 रुपया है तो उपभोक्ता सिर्फ 1 संतरा ही खरीदने को तैयार होगा, लेकिन कीमत के घटकर 75 पैसे, 50 पैसे तथा 40 पैसे हो जाने पर वह क्रमशः 2, 3 तथा 4 संतरे खरीदने को तैयार हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वस्तु की कीमत कम होने पर उसकी माँग की मात्रा बढ़ जाती है तथा कीमत बढ़ने पर माँग की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार माँग का नियम सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। इसे रेखाचित्र 4.13 द्वारा समझाया जा सकता है।

उपरोक्त रेखाचित्र तालिका-4.7 के आधार पर बनाया गया है। चित्र में वक्र DD सीमांत उपयोगिता वक्र भी है और माँग वक्र भी है। दोनों में अंतर यह है कि यदि हम Y-अक्ष पर सीमांत उपयोगिता दिखाते हैं तो सीमांत उपयोगिता वक्र कहलाता है और यदि Y-अक्ष पर हम कीमत दिखायें तो इसे माँग वक्र कहते हैं।

मार्शल तीन मान्यताओं के आधार पर सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम से माँग का नियम व्युत्पन्न करते हैं।

चित्र 4.13



(i) **वस्तु की उपयोगिता की संख्यात्मक रूप में मापा जा सकता है :** यह मान्यता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हम यह मान्यता करते हैं कि सीमांत उपयोगिताओं के योग से कुल उपयोगिता मालूम की जा सकती है और कुल उपयोगिताओंके द्वारा सीमांत उपयोगिता मालूम की जा सकती है। उदाहरण के लिए n इकाई की सीमांत उपयोगिता TU_n—TU_{n-1} के बराबर होगी।

(ii) **मुद्रा की सीमांत उपयोगिता स्थिर होती है**—मार्शल ने उपयोगिता को मुद्रा के द्वारा मापा है। मुद्रा मापन की इकाई है अतः इसका मूल्य स्थिर रहना चाहिए। उदाहरणार्थ तालिका 4.7 में उपभोक्ता पहले संतरे से 1 रु. के बराबर उपयोगिता प्राप्त करता है तथा दूसरे से 75 पैसे के समान उपयोगिता प्राप्त करता है। अतः मुद्रा से उपयोगिता को मापा गया है। इसका मूल्य स्थिर रहना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता के पास चाहे जितनी मुद्रा हो, इसकी सीमांत उपयोगिता स्थिर रहती है। लेकिन व्यावहारिक रूप में मुद्रा पर भी सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम लागू होता है।

(iii) **प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र वस्तु है**—मार्शल विभिन्न वस्तुओं के अंतर-संबंधों पर विचार नहीं करता और प्रत्येक वस्तु को अन्य वस्तुओं से स्वतंत्र मानता है। व्यवहार में यह उचित नहीं है क्योंकि एक वस्तु की माँग उससे संबंधित वस्तुओं की कीमतों पर भी निर्भर करती है। हम आलू की माँग का अध्ययन अन्य सब्जियों की माँग का अध्ययन किए बिना नहीं कर सकते।

इन मान्यताओं के आधार पर मार्शल ने सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम से माँग का नियम निकाला था।

सम-सीमांत उपयोगिता नियम तथा उपभोक्ता का संतुलन (Law of Equi-Marginal Utility and Consumer's Equilibrium): अर्थशास्त्र में हम यह मानते हैं कि प्रत्येक उपभोकता विवेकशील (rational) है। और वह अपनी आय को इस प्रकार खर्च करता है कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। प्रत्येक व्यक्ति की आय सीमित होती है और उसकी आवश्यकताएँ असीमित होती है। इसके कारण वह अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः उसके सामने यह समस्या आती है कि वह अपनी सीमित आय को किन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए (अर्थात् किन वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने पर) खर्च करे। प्रत्येक उपभोक्ता का उद्देश्य अपनी सीमित आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना होता है। वह स्थिति जिसमें किसी उपभोक्ता को अपनी सीमित आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है, उपभोक्ता का संतुलन कहलाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कोई भी उपभोक्ता संतुलन की स्थिति कैसे प्राप्त करे ताकि उसे अधिकतम संतुष्टि मिले। जब उपभोक्ता अपनी आय खर्च करता है, तो विभिन्न वस्तुएं उसके सामने विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करती है, क्योकि अपनी सीमित आय से वह सारी वस्तुओं और सेवाओं को खरीद नहीं सकता। अपनी आय का प्रत्येक रुपया खर्च करते समय वह विभिन्न विकल्पों से मिलने वाली उपयोगिता की तुलना करेगा और जिस विकल्प (अर्थात् वस्तु या सेवा) से उसे सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी वह उसी पर रुपये को खर्च करेगा। यदि वह यही तरीका अपनी आय के अंतिम रुपये के खर्च करने तक अपनाये तो उसे अपनी आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होगी। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं। मान लीजिए, आपकी आय 15 रु. हैं और आप यह X, Y व Z तीन वस्तुओं पर खर्च करना चाहते हैं; और मान लीजिए इनमें से प्रत्येक वस्तु की कीमत एक रुपया प्रति इकाई है। इन तीनों वस्तुओं की विभिन्न इकाइयाँ आपके लिए विकल्प हैं। अब आपके सामने यह समस्या है कि आप अपनी आय का

कितना-कितना हिस्सा इन तीनों वस्तुओं के खरीदने पर खर्च करें ताकि आपको अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। अर्थात् आप इन वस्तुओं में से प्रत्येक वस्तु की कितनी इकाईयाँ खरीदें। प्रत्येक वस्तु की विभिन्न इकाइयों में मिलने वाली उपयोगिता (जो कि आप सोचते हैं) को यदि आप लिखते हैं तो एक तालिका बन जाएगी जैसा कि तालिका 4.8 में दिखाया गया है :

तालिका 4.8

सीमांत उपयोगिता तालिका

इकाइयाँ	X वस्तु की सीमांत उपयोगिता (MUx)	Y वस्तु की सीमांत उपयोगिता (MUy)	Z वस्तु की सीमांत उपयोगिता (MUz)
पहली	18 (1)	12 (4)	11 (6)
दूसरी	16 (2)	10 (7)	9 (9)
तीसरी	14 (3)	8 (10)	8 (11)
चौथी	11 (5)	7 (12)	6 (15)
पाँचवी	9 (8)	6 (14)	2
छठी	6 (13)	3	0
सातवीं	2	1	

(कोष्टक में दिए गए अंक उस क्रम को व्यक्त करते हैं, जिस क्रम से उपभोक्ता प्रत्येक रुपया खर्च करता है।)

अपनी आय का पहला रुपया खर्च करते समय आप इन तीनों वस्तुओं से मिलने वाली सीमांत उपयोगिताओं की तुलना करेंगे और यह स्वाभाविक है कि आप उस वस्तु को खरीदेंगे जिससे आपको सबसे अधिक सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है। उस उदाहरण में पहला रुपया X वस्तु पर खर्च करेंगे क्योकि उससे 18 सी. उ. मिलती है, जबकि Yऔर Z से क्रमशः 12 और 11 सी.उ. मिलती है। इसी प्रकार दूसरे रुपये को खर्च करते समय आप फिर इन तीनों वस्तुओं की सीमांत उपयोगिता की तुलना करेंगे। लेकिन यह ध्यान रहे कि अब X की सीमांत उपयोगिता 16 है क्योकि इसकी पहली इकाई की सीमांत उपयोगिता (18) तो अपने पहले ही प्राप्त कर ली है। इस प्रकार दूसरा रुपया भी आप X पर खर्च करेंगे। तीसरा रुपया भी X पर खर्च करेंगे क्योंकि इससे 14 सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है। चौथा रुपया आप Y पर खर्च करेंगे क्योंकि इससे आपकी 12 सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है। पाँचवा रुपया आप Y या X दोनों में से किसी पर भी व्यय कर सकते हैं क्योंकि दोनों से ही समान सीमांत उपयेागिता प्राप्त होती है जो कि 11 है। इस प्रकार यह अभ्यास यदि आप 15वाँ रुपया खर्च करने तक करें तो आप X वस्तु की 6 इकाई, Y की 5 इकाई, और Z वस्तु की 4 इकाई खरीदेंगे, और इन सब इकाइयों से मिलने वाली उपयोगिताओं को जोड़ें तो इस प्रकार प्राप्त कुल उपयोगिता अधिकतम होगी।

X से 18 + 16 + 14 +11 + 9 + 6 = 74

Y से 12 + 10 + 8 + 7 + 6 = 43

Z से 11 + 9 + 8 + 6 = 34

कुल उपयोगिता = 151

इस उदाहरण में कुल उपयोगिता 151 है। इन तीनों वस्तुओं के किसी भी अन्य मिश्रण से मिलने वाली कुल उपयोगिता 151 से कम होगी। उदाहरण के लिए मान लें कि आप अपनी आय को X वस्तु की 7, Y वस्तु की 5 तथा Z वस्तु की 3 इकाइयों को खरीदने पर व्यय करते हैं। इस स्थिति से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता 76+43+28=147 होगी जो कि अधिकतम प्राप्त हो सकने वाली कुल उपयोगिता से कम होगी।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु की अंतिम इकाई के मिलने वाली सीमांत उपयोगिता बराबर है। इसलिए हम कह सकते हैं कि उपभोक्ता अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं के खरीदने में इस प्रकार खर्च करें की हर वस्तु पर खर्च की गई आय की अंतिम इकाई (1 रु.) से समान सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो तो वह अधिकतम संतुष्टि की स्थिति पर पहुँच जाएगा और यही उपभोक्ता के संतुलन की शर्त है। ऊपर दिए हुए उदाहरण में X, Y व Z तीनों वस्तुओं पर अंतिम रुपया खर्च करने से 6 सीमांत उपयोगिता

(सी. उ.) मिलती है। इसलिए इस स्थिति में उपभोक्ता को अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है। अतः उपभोक्ता संतुलन की स्थिति में होगा यदि MUx = MUy = MUz.

इस उदाहरण में हमने तीनों वस्तुओं की कीमत समान ली थी। लेकिन प्रायः विभिन्न वस्तुओं की कीमतें अलग-अलग होती है। इस बात से उपभोक्ता के संतुलन की शर्त में कोई अंतर नहीं पड़ता। यदि आप X, Y, व Z वस्तुओं की कीमतों (Px, Py तथा Pz) व सीमांत उपयोगिता (MUx, MUy तथा MUz) के अनुपात को लें तो आप देखेंगे कि ये अनुपात भी बराबर है क्योंकि तीनों वस्तुओं की कीमतें समान है और तीनों से मिलने वाली सीमांत उपयोगिता बराबर है :

$$\frac{MUx}{Px} = \frac{6}{1}, \qquad \frac{MUy}{Py} = \frac{6}{1}, \qquad \frac{MUz}{Pz} = \frac{6}{1}$$

अब यदि Y वस्तु की कीमत 2 रु. हो तो इस वस्तु की इतनी इकाइयाँ खरीदनी पड़ेगी ताकि सी. उ. 12 हो और फिर हर वस्तु की सी.उ. व कीमत का अनुपात बराबर हो जाएगा। इसलिए जब विभिन्न वस्तुओं की कीमतें समान नहीं हो, तो हम उपभोक्ता के संतुलन की स्थिति को दूसरे रूप में लिख सकते हैं। वह स्थिति जिसमें उपभोक्ता अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं की खरीदने में इस प्रकार खर्च करता है कि हर वस्तु से मिलने वाली सीमांत उपयोगिता और उसकी कीमत के अनुपात बराबर हो जायें, उपभोक्ता संतुलन की स्थिति कहलाती है। अतः उपभोक्ता के संतुलन की शर्त है :

$$\frac{MUx}{Px} = \frac{MUy}{Py} = \frac{MUz}{Pz}$$

इसी बात को एक अन्य रूप में लिखा जाता है :

$$\frac{MUX}{MUy} = \frac{Px,}{Py}$$ इत्यादि।

इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई उपभोक्ता वस्तुओं पर अपनी आय को इस प्रकार खर्च करे कि उनकी कीमतों को अनुपात उनकी सीमांत उपयोगिताओं के अनुपात के बराबर हो जाए तो वह अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करेगा यानि यह उपभोक्ता के संतुलन की स्थिति होगी।

संक्षेप में, उपयोगिता विश्लेषण के अनुसार, एक उपभोक्ता उस समय संतुलन की स्थिति में होगा, जबकि वह अपनी दी हुई आय को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करता है कि :

(i) विभिन्न वस्तुओं पर व्यय किये अंतिम रुपये की सीमांत उपयोगिता समान होती है, या

(ii) विभिन्न वस्तुओं की सीमांत उपयोगिता तथा उनकी कीमतों का अनुपात समान होता है, अर्थात्

$$\frac{MUx}{MUy} = \frac{Px}{Py} =$$ ..... या।

(iii) विभिन्न वस्तुओं की सीमांत उपयोगिता का अनुपात उनकी कीमतों के अनुपात के समान होता है। अर्थात

$$\frac{MUx}{MUy} = \frac{Px}{Py} =$$ इत्यादि।

उपरोक्त शर्तें उपभोक्ता के संतुलन की भिनन-भिन्न शर्ते नहीं है, बल्कि संतुलन की शर्त को व्यक्त करने के विभिन्न तरीके हैं।

सम-सीमांत उपयोगिता नियम की कठिनाइयाँ :

यह नियम बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उपभोक्ता को बताता है कि वह अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने के लिए अपनी सीमित आय को विभिन्न वस्तुओं पर किस प्रकार खर्च करे। लेकिन इस नियम को व्यवहार में लाना कठिन हो सकता है। विभिन्न वस्तुओं की सीमांत उपयोगिताएँ ज्ञात करना कठिन है। अज्ञानता के कारण बहुत-से उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं की सीमांत उपयोगिताओं की तुलना नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में वे यह पता नहीं लगा सकते कि कौन-सी वस्तु अधिक संतुष्टि प्रदान करती है और कौन-सी कम। कुछ उपभोक्ताओं को किन्हीं वस्तुओं के उपभोग करने की आदत पड़ जाती है जैसे सिगरेट, शराब आदि। ऐसी स्थिति में यह जानते हुए भी इन वस्तुओं से अन्य वस्तुओं की तुलना में कम उपयोगिता मिलेगी, वे उनकी उपभोग करते हैं। कई बार एक श्रमिक अपनी आय शराब पर खर्च कर देता है हालांकि उसका परिवार भूखा मर रहा है। वह जानता है कि भोजन ज्यादा जरूरी है फिर भी आदत के कारण वह भोजन के स्थान पर शराब खरीदता है।

अतः कई कारणों से उपभोक्ता के लिए अपनी आय को सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार व्यय करना कठिन हो सकता है। लेकिन जाने-अनजाने में इस नियम के अनुसार व्यय करने की प्रवृत्ति उपभोक्ता में पाई जाती है। एक विवेकशील उपभोक्ता कम उपयोगिता देने वाली वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगिता देने वाली वस्तु पर व्यय करना चाहेगा। अतः अन्य नियमों की तरह यह नियम भी उपभोक्ता की सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक है।

उपयोगिता विश्लेषण की कमियाँ

(1) **उपयोगिता मापी नहीं जा सकती :** अब तक हमने जितनी भी उपयोगिता से संबंधित तालिका पढ़ी है उन सबमें उपयोगिता की संख्या के रूप में लिया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उपभोक्त को यह फैसला करने के लिए कि किस वस्तु की कितनी मात्रा खरीदे, हर वस्तु की हर इकाई के मिलने वाली उपयोगिता की संख्या मालूम होनी चाहिए। ऐसा संभव नहीं है क्योंकि उपयोगिता तो आत्मनिष्ठ (subjective) अर्थात् वैयक्तिक है जैसे खुशी और दुःख आदि। जैसे आप यह नहीं बता सकते कि यदि आपको खुशी है तो इसकी संख्या क्या है, इसी प्रकार उपयोगिता का सांख्यिक माप नहीं किया जा सकता।

(2) किसी वस्तु की उपयोगिता सिर्फ उसी वस्तु की मात्रा पर ही निर्भर न होकर उससे संबंधित अन्य वस्तुओं से भी प्रभावित होती है। पर यह कहा गया था कि किसी वस्तु की सीमांत उपयोगिता सिर्फ उसी वस्तु की मात्रा (Quantity) पर निर्भर करती है अर्थात् जैसे-जैसे किसी वस्तु की अधिक मात्रा आप खरीदते हैं, हर अगली इकाई की सीमांत उपयोगिता क्रमशः कम होती चली जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वस्तु की मात्रा का दूसरी वस्तु की सीमांत उपयोगिता पर कोई असर नहीं पड़ता। लेकिन ऐसा केवल उन वस्तुओं के बारे में हो सकता है जिनका किन्हीं अन्य वस्तुओं से कोई संबंध नहीं होता। वास्तव में, अधिकतम वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं से पूरक रूप में या प्रतिस्थापक रूप में संबंधित होती है; ऐसी स्थिति में एक वस्तु की मात्रा का दूसरी वस्तु की सीमांत उपयोगिता पर असर पड़ता है। उदाहरण के लिए चाय तथा काफी प्रतिस्थापक वस्तुएँ हैं क्योंकि इनका एक दूसरे के स्थान पर प्रतिस्थापन किया जा सकता है। मोटर कार तथा पेट्रोल पूरक वस्तुएँ हैं क्योंकि इनमें से कोई भी वस्तु दूसरे के बिना बेकार है।

(3) **इसमें मुद्रा की सीमांत उपयोगिता को स्थिर माना गया है :** अर्थात् यह मान लिया गया है कि सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम मुद्रा पर लागू नहीं होता। मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने से उसकी सीमांत उपयोगिता पर कोई असर नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे आपकी आय बढ़े या घटे, रुपये की सीमांत उपयोगिता आपके लिए समान रहेगी और यदि मुद्राकी सीमांत उपयोगिता स्थिर रहती है तो आपकी आय में परिवर्तन का विभिन्न वस्तुओं की माँग पर कोई असर नहीं पड़ेगा। अर्थात् किसी भी वस्तु की माँग केवल उसकी कीमत में परिवर्तन द्वारा ही प्रभावित हो सकती है, उपभोक्ता की आय में परिवर्तन द्वारा नहीं। व्यावहारिक अनुभव के आधार पर आप जानते ही होंगे कि आपकी आय में परिवर्तन का असर विभिन्न वस्तुओं की माँग पर अवश्य पड़ता है।

(4) उपयोगिता विश्लेषण केवल कीमत-प्रभाव (Price effect) ही बता पाता है, आय व प्रतिस्थापन प्रभाव नहीं बता सकता। इस विश्लेषण के द्वारा यह पता नहीं लगा सकता कि कीमत कम/अधिक होने से माँग में हुए कुल परिवर्तन का कितना भाग आय प्रभाव के कारण है और कितना प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण।

अनधिमान वक्र विश्लेषण
(Indifference Curve Analysis)

अनधिमान वक्र विश्लेषण का सुचारू रूप से विकास जे.आर. हिक्स (J.R. Hicks) ने किया। उपयोगिता विश्लेषण का प्रमुख दोष यह है कि यह गणना उपयोगिता प्रणाली (Cardinal utility system) पर आधारित है। यह मानना है कि किसी वस्तु से प्राप्त उपयोगिता को संख्यात्मक रूप में मापा जा सकता है। किसी वस्तु की उपयोगिता को जोड़ा या घटाया जा सकता है तथा उपयोगिता को मुद्रा को रूप में व्यक्त किया जा सकता है। लेकिन किसी वस्तु की उपयोगिता आत्मनिष्ठ (subjective) या वैयक्तिक है इसलिए इसको संख्यात्मक रूप में नहीं मापा जा सकता। इसलिए अनधिमपन वक्र विश्लेषण का उपयोगिता विश्लेषण के एक विकल्प के रूप में विकास किया गया। अनधिमान वक्र विश्लेषण क्रम वाचक उपयोगिता (Ordinal utility) पर आधारि है। इसमें उपयोगिता की सांख्यिक रूप में नहीं मापते। इसमें यह मान्यता की जाती है कि उपभोक्ता दो या अधिक वस्तुओं के लिए स्पष्ट रूप से अपनी प्राथमिकताओं के स्तर को व्यक्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, एक उपभोक्ता को किसी वस्तु के उपभोग से जो संतुष्टि प्राप्त होती है उसे बिना मापे यह कह सकता है कि किन्हीं दो वस्तुओं के विभिन्न सम्मिश्रणों (Combinations) से अधिक, समान या कम संतुष्टि प्राप्त होती है। यदि किन्हीं वस्तुओं के दो समूहों से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है तो वह इनमें से किसी भी एक समूह

को चुन सकता है अर्थात् विभिन्न समूहों में चुनाव के प्रति उदासीन है। हम एक उदाहरण लेते हैं। मान लो कि किन्हीं दो वस्तुओं X तथा Y के विभिन्न पाँच समूहों, जैसा कि तालिका 4.9 में दिया गया है, में से प्रत्येक समूह से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। क्योंकि उपभोक्ता को निम्न पाँचों समूहों में से प्रत्येक समूह से समान संतुष्टि प्राप्त होती है इसलिए वह इनमें से कोई भी एक समूह चुन सकता है। इनमें से चाहे वह पहला समूह (X वस्तु की 1 इकाई तथा Y वस्तु की 25 इकाइयाँ) या पाँचवाँ समूह (X वस्तु की 5 इकाई तथा Y वस्तु की 11 इकाइयाँ) चुन सकता है क्योंकि दोनों ही समूहों से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। यहाँ हम पहले या पाँचवें समूह से प्राप्त संतुष्टि को सांख्यीय रूप में नहीं माप रहे हैं लेकिन सिर्फ यही कहते हैं कि पाँचों समूहों में से प्रत्येक समूह से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। यदि इन पाँचों समूहों को एक रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक वक्र बन जाती है जैसे हम अनधिमान वक्र कहते हैं। यह हमने रेखाचित्र 4.14 के द्वारा समझाया है–

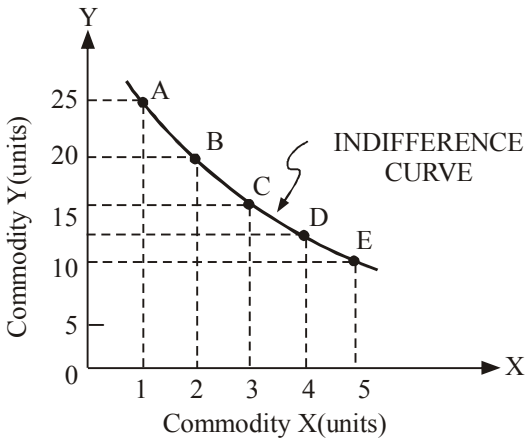
तालिका 4.9

अनधिमान सारणी

समूह	वस्तु X (इकाइयाँ)	वस्तु Y (इकाइयाँ)
प्रथम (A)	1	25
द्वितीय (B)	2	20
तृतीय (C)	3	16
चतुर्थ (D)	4	13
पाँचवाँ (E)	5	11

रेखाचित्र 4.14 में X-अक्ष पर X वस्तु की तथा Y-अक्ष पर Y वस्तु की मात्राएँ दर्शाई गई हैं। X तथा Y वस्तुओं के विभिन्न समहों A, B, C, D तथा E जैसा कि तालिका 4.9 में दिए हैं, चित्र में बनाए गए हैं। इन बिंदुओं A, B, C, D तथा E को मिलाने पर एक वक्र बन जाती है, इसे हम अनधिमान वक्र कहते हैं। इन सब समूहों में से प्रत्येक समूह से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। इसलिए उपभोक्ता इनमें से किसी भी समूह के चुनाव से प्रति उदासीन है। दूसरे शब्दों में, यदि किन्हीं दो वस्तुओं के विभिन्न मात्रा वाले उन सारे समूहों या पैकटों को लिया जाए जो कि उपभोक्ता के बराबर की संतुष्टि प्रदान करते हैं और उन्हें रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो एक वक्र बन जाती है। क्योकि यह वक्र दो वस्तुओं के उन सारे समूहों को दर्शाती है जो उपभोक्ता को बराबर की संतुष्टि देते हैं यानि जिनमें से किसी भी समूह के प्रति उपभोक्ता अनधिमान (indifferent) है, इसलिए इस वक्र को अनधिमान वक्र कहते हैं।

चित्र 4.14



अनधिमान वक्र विश्लेषण की मान्यतायें (Assumptions of Indifferent Curve Analysis) :

अनधिमान वक्र विश्लेषण निम्न मान्यताओं पर आधारित है–

1. **उपभोक्ता की विवेकशीलता** (Rationality) : अनधिमान वक्र विश्लेषण यह मानता है कि उपभोक्ता विवेकशील है। अपनी दी गई आय तथा बाजार कीमतों पर वह अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है। उसे वस्तुओं के विभिन्न समूहों के बारे में यह मालूम है कि किन समूहों से समान, अधिक या कम संतुष्टि प्राप्त होती है।

2. **संक्रामिता** (Transitivity) : उपभोक्ता के चुनाव में संगतशीलता होती है। यदि वह दो वस्तुओं के B समूह के बजाय A समूह का चुनाव करता है तो वह अन्य समय पर A के बजाय B का चुनाव नहीं करेगा। यदि वह B के बजाय A का चुनाव करता है और C के बदले B का चुनाव करता है तो C के बजाय A का चुनाव करेगा।

3. **अनधिमान स्तर का स्वतंत्र होना :** एक उपभोक्ता के अनधिमान स्तर उसकी आय तथा वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर नहीं करते।

4. **प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमांत पर** (Diminishing Marginal rate of substitution) : सामान्यतया दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर क्रमशः घटती जाती है। जब उपभोक्ता एक वस्तु की मात्रा बढ़ाता है तो उसके बदले दूसरी वस्तु की उतनी मात्रा छोड़नी पड़ती है कि उसे पहले के समान संतुष्टि प्राप्त हो। एक वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के लिए उपभोक्ता दूसरी वस्तु की जितनी इकाइयाँ देने को तैयार होता है कि उसे पहले के समान मिलती रहे, तो उसे प्रतिस्थापन की सीमांत दर कहते हैं। दूसरे शब्दों में X वस्तु की Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमांत दर (MRSxy), Y वस्तु की वह मात्रा है जो कि उपभोक्ता X-वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए देने को तैयार है ताकि वह पहले के समान संतुष्टि के स्तर पर रहें। इसे निम्न तालिका 4.10 से समझाया जा सकता है :

तालिका 4.10

प्रतिस्थापन की सीमांत दर

X वस्तु (इकाइयाँ)	Y वस्तु (इकाइयाँ)	X वस्तु की Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमांत दर (MRSxy)
1	25	
2	20	1x = 5y
3	16	1x = 4y
4	13	1x = 3
5	11	1x = 2y

तालिका के कॉलम 3 में Y वस्तु की वह मात्रा दिखाई गई है जो कि उपभोक्ता X वस्तु की एक अतिरिक्त प्राप्त करने के लिए देने को तैयार है ताकि उसे पहले से समान संतुष्टि प्राप्त होती रहे। X वस्तु की दूसरी इकाई के लिए उपभोक्ता Y वस्तु की 5 इकाइयाँ देने को तैयार है। अतः X वस्तु की Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमांत दर (MRSxy) 1x = 5y होगी। X वस्तु की तीसरी इकाई के लिए Y वस्तु की 4 इकाई ही देने को तैयार है, अतः इस की सीमांत स्थिति में X वस्तु की Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन दर 1x=4y होगी। X वस्तु की Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमांत दर (MRSxy) को X वस्तु की मात्रा में परिवर्तन तथा Y की मात्रा में परिवर्तन X के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, अर्थात् (MRSxy = $\Delta y/\Delta x$)

सामान्यतया दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर क्रमशः घटती जाती है। तालिका 4.10 में उपभोक्ता X वस्तु की दूसरी, तीसरी, चौथी एवं पाँचवीं इकाई के लिए Y वस्तु की क्रमशः 5, 4, 3, 2 इकाइयाँ देने को ही तैयार है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता X वस्तु की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के लिए Y वस्तु की क्रमशः घटती मात्रा ही देने को तैयार है। इसका तात्पर्य है कि X वस्तु की Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमांत दर क्रमशः घटती जाती है। इसे प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमांत दर का नियमकहते हैं। प्रतिस्थापन की सीमांत दर के क्रमशः घटते जाने का कारण यह है कि जैसे-जैसे X वस्तु की मात्रा बढ़ती है वैसे-वैसे X वस्तु की उत्तरोत्तर इकाई का सीमांत महत्व (Marginal significance) क्रमशः कम होता जाता है। अतः X वस्तु की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के लिए Y वस्तु की क्रमशः घटती हुई मात्रा ही देने को तैयार होता है।

अनधिमान वक्र की विशेषताएँ (Properties of Indifference Curve) :

अनधिमान वक्र की तीन विशेषताएँ होती हैं–

1. अनिधिमान वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर झुकता हुआ होता है।

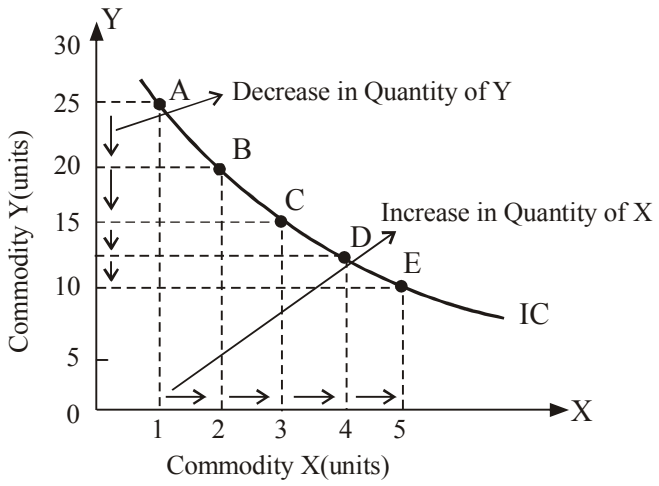
2. सामान्यतया अनधिमान वक्र मूल बिंदु की ओर उत्तल होता है।

3. दो अनधिमान वक्र एक दूसरे को कभी स्पर्श करते या काटते हुए नहीं होते हैं।

1. अनधिमान वक्र का ढलान बाईं से दाईं ओर नीचे की ओर झुकता हुआ होता है (Indifference curve slopes dapes downward from left to right) : एक अनधिमान वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि दो वस्तुओं के विभिन्न समूह समान संतुष्टि प्रदान करते हैं। यदि एक वस्तु की मात्रा बढ़ाई जाती है तो दूसरी वस्तु की मात्रा अवश्य कम करनी पड़ेगी ताकि वह समान संतुष्टि के स्तर पर ही रहे। पिछले उदाहरण में यदि आप X वस्तु की 1 इकाई के बजाय 2 इकाइयाँ चाहते हैं तो आपको Y वस्तु की मात्रा 25 इकाइयों के स्थान पर 25 से कम (अर्थात् 20 इकाइयाँ) करनी पड़ेंगी। यदि आप X वस्तु की मात्रा बढ़ा देते हैं लेकिन Y वस्तु की मात्रा कम नहीं करते तो आपको अधिक संतुष्टि प्राप्त होगी जो अनधिमान वक्र की मान्यता के विपरीत है। चित्र 4.15 में उपभोक्ता की अनधिमान वक्र IC है। यदि उपभोक्ता X वस्तु का उपभोग 1 इकाई से बढ़ाकर 2 इकाइयाँ करना चाहता है तो उसे Y वस्तु का उपभोग 25 इकाइयों से घटाकर 20 इकाइयों का करना होगा ताकि वह पहले के समान संतुष्टि के स्तर पर रहे अर्थात् एक ही अनधिमान वक्र पर रहें।

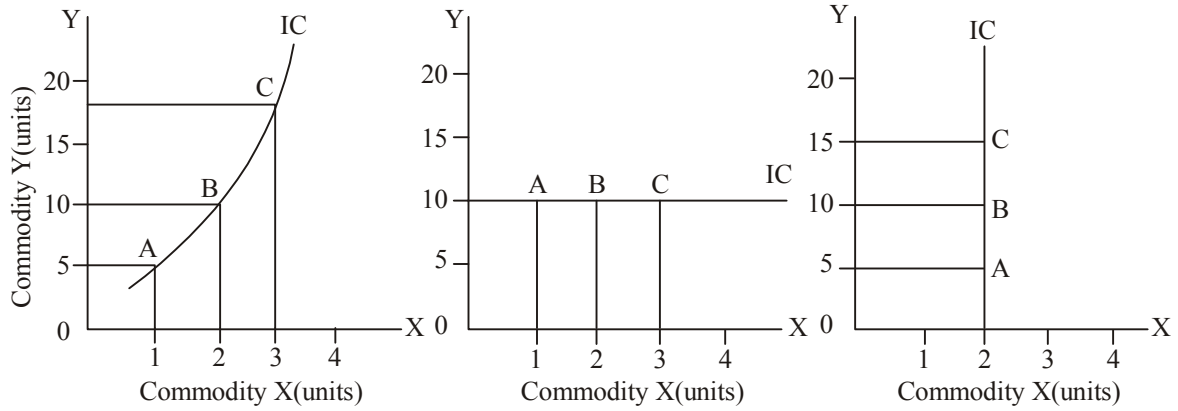
अनधिमान वक्र का बाएँ से दाएँ नीचे की ओर झुकते हुए होने के अलावा अन्य कोई रूप नहीं हो सकता।

चित्र : 4.15



(i) बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर उठती हुई अनधिमान वक्र, जैसाकि रेखाचित्र 4.15 (i) में दिखाया गया है, असंभव है, क्योंकि इसका तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता दो वस्तुओं की पहले की अपेक्षा अधिक उपभोग करने पर भी पहले के समान संतुष्टि के स्तर पर ही रहता है। चित्र 4.15 (i) में X तथा Y वस्तुओं के A संयोजन (1x+5y) की अपेक्षा B संयोजन (2x+10y) में दोनों वस्तुओं की पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा है। इसलिए उसे A संयोजन की अपेक्षा B संयोजन से अधिक संतुष्टि प्राप्त होगी। अतः संयोजन A तथा B को एक ही अनधिमान वक्र के द्वारा नहीं दिखाये जा सकते। दूसरे शब्दों में अनधिमान वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर उठता हुआ नहीं हो सकता।

चित्र : 4.15 (i) चित्र : 4.15 (ii) चित्र : 4.15 (iii)



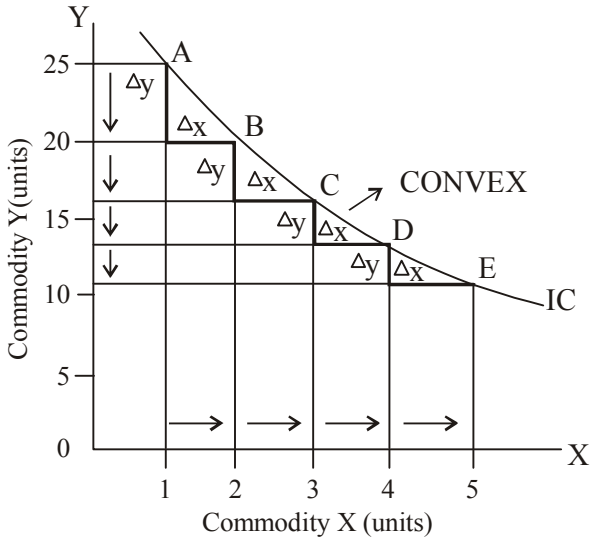
(ii) इसी प्रकार अनधिमान वक्र क्षैतिज अक्ष (X अक्ष) या ऊर्ध्वाधर (vertical) अक्ष (Y अक्ष), जैसाकि क्रमशः रेखाचित्र 4.15 (ii) तथा 4.15 (iii) में दिखाया गया है, के समांतर (Parallel) नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि एक वस्तु की मात्रा समान रहने पर दूसरी वस्तु की मात्रा बढ़ा देने से संतुष्टि का स्तर पहले के समान न रहकर बढ़ जायेगा। रेखाचित्र 4.15(ii) में संयोजन A(1x+10y) की अपेक्षा संयोजन में B(2x+10y) में Y वस्तु की मात्रा तो पहले के समान है, लेकिन X वस्तु की मात्रा पहले की अपेक्षा 1 इाकई से बढ़कर 2 इकाईयाँ हो गई हैं, इसलिए उपभोक्ता को संयोजन A तथा B से समान संतुष्टि प्राप्त हो। अतः अनधि ामान वक्र क्षैतिज अक्ष के समांतर नहीं हो सकती।

इसी प्रकार रेखाचित्र 4.15 (iii) में संयोजन A(2x+5y) की अपेक्षा संयोजन B(2x+10y) में X वस्तु की मात्रा तो पहले के समान है, लेकिन Y वस्तु की मात्रा पहले की अपेक्षा 5 इकाइयों से बढ़कर 10 इकाइयाँ हो गई हैं, इसलिये उपभोक्ता को संयोजन A की अपेक्षा संयोजन B से अधिक संतुष्टि प्राप्त होगी। यह असंभव है कि उपभोक्ता को दोनों संयोजनों A तथा B के समान संतुष्टि प्राप्त हो। अतः अनधिमान वक्र ऊर्ध्वाधर अक्ष के समांतर सीधी रेखा नहीं हो सकती।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनधिमान वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर उठती हुई या क्षैत्रिज अक्ष या ऊर्ध्वाधर अक्ष के समांतर सीधी रेखा कभी भी नहीं हो सकती। अनधिमान वक्र हमेशा बाएँ से दाएँ नीचे की ओर झुकती हुई ही हो सकती है क्योंकि अनधिमान वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि एक अनधिमान वक्र पर स्थित विभिन्न बिंदुओं, जो कि दो वस्तुओं के विभिन्न संयोजना को प्रदर्शित करते हैं, पर उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है।

2. सामान्यता अनधिमान वक्र मूल बिंदु की ओर उत्तल होता है (Indifference curves are generally convex to the point of origin)—सामान्यतया अनधिमान वक्र मूल बिंदु की ओर उत्तल होता है जैसा कि रेखाचित्र 4.16 में दिखाया गया है। चित्र में बिंदु O दोनों अक्षों का मूल बिंदु है। जिसकी ओर अनधिमान वक्र IC उत्तल है।

चित्र : 4.16

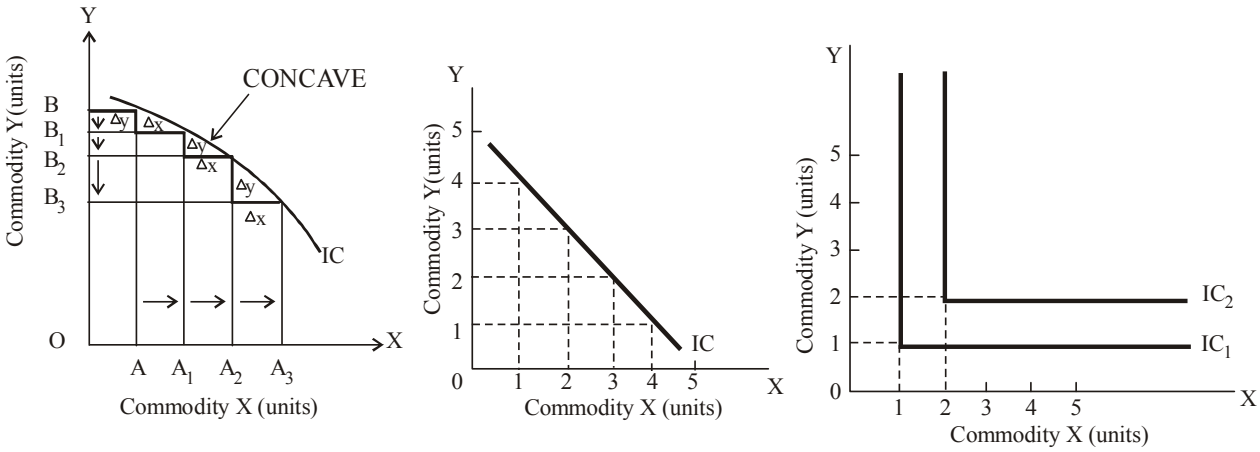


अनधिमान वक्र के उत्तल होने का अर्थ यह है कि जैसे-जैसे बाएं से दाएं की ओर चलते हैं, इसकी ढाल क्रमशः घटती जाती है। इसका कारण यह है कि दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर क्रमशः घटती जाती है, जैसाकि तालिका 4.10 में समझाया गया ळै। तालिका में उपभोक्ता X वस्तु की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के लिए Y वस्तु की क्रमशः घटती हुई मात्रा ही देने को तैयार होता है, इसलिए X वस्तु की Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमांत दर क्रमशः घटती जाती है। प्रतिस्थापन की घटती सीमांत दर की मान्यता पर आधारित होने के कारण ही अनधिमान वक्र मूल बिंदु के उत्तल होता है।

अनधिमान वक्र की आकृति मूल बिंदु के अवतल (Concave) नहीं हो सकती, जैसा कि रेखाचित्र 4.16 (i) में दिखाया गया है। इसका तात्पर्य है कि दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर क्रमशः बढ़ती जाती है, जो कि संभव नहीं है। यद्यपि X वस्तु की मात्रा बढ़ने से उसका सीमांत महत्व क्रमशः घटता जाता है, लेकिन फिर भी उपभोक्ता X वस्तु की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के लिए Y वस्तु की बढ़ती मात्रा देने को तैयार होगा। रेखाचित्र में $AA_1=A_1A_2=A_2A_3$ है लेकिन BB_1 से B_1B_2, B_1B_2 से B_2B_3 अधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता X वस्तु की मात्रा बढ़ने पर, यद्यपि उसका सीमांत महत्व कम हो गया है, Y वस्तु की बढ़ती हुई मात्रा देने को तैयार है। यह असंभव है चूँकि X वस्तु की क्रमशः मात्रा बढ़ने पर उसका सीमांत महत्त्व कम हो जाता है इसलिए उपभोक्ता उसके लिए Y वस्तु की क्रमशः घटती मात्रा ही देने को तैयार होगा। अतः दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर बढ़ती हुई नहीं होकर घटती हुई ही होगी। अनधिमान वक्र मूल बिंदु के प्रति अवतल न होकर उत्तल ही होगा।

यद्यपि सामान्यता अनधिमान वक्र मूल बिंदु के प्रति उत्तल होता है, लेकिन इसके दो अपवाद हैं, (i) दो वस्तुओं के पूर्णतः स्थानापन्न होने की स्थिति में उनके बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर स्थिर रहती है। इस स्थिति में अनधिमान वक्र एक सीधी रेखा होती है जो कि X तथा Y अक्षों पर 45° का कोण बनाती है, जैसा कि रेखाचित्र 4.16 (ii) में दिखाया गया है। इस स्थिति में प्रतिस्थापन की सीमांत दर स्थिर, 1:1 रहेगी। इसका तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता X वस्तु की प्रत्येक अतिरिक्त एक इकाई के लिए Y वस्तु की एक इकाई ही देने को तैयार है। (ii) दो वस्तुओं के पूर्णतः पूरक होने की स्थिति में अनधिमान वक्र अंग्रेजी के 'L' अक्षर की भांति होता है जैसा कि रेखाचित्र 4.16(iii) में दिखाया गया है। अनधिमान वक्र दो सीधी रेखाओं द्वारा बनता हैं, जो क्रमशः X और Y अक्षों के समानांतर होता है। ये दोनों रेखाएँ एक-दूसरे से समकोण (90° का कोण) बनाते हुए इस प्रकार मिलती है कि नोक (Kink) मूल बिंदु की ओर उत्तल होता है। दो पूर्णतः पूरक वस्तुओं की स्थिति में प्रतिस्थापन की सीमांत दर शून्य होती है। दो पूर्णतः पूरक वस्तुओं का प्रयोग निश्चित अनुपात में किया जा सकता है जिसके कारण इनके बीच प्रतिस्थापन संभव नहीं होता।

चित्र : 4.16(i) **चित्र : 4.16**(ii) **चित्र : 4.16**(iii)

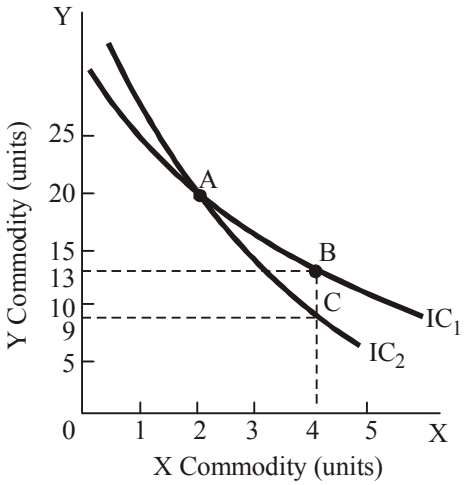


व्यावहारिक जीवन में पूर्णतः स्थानापन्न या पूर्णतः पूरक वस्तुएँ नही प्रायः पाई जाती है। अतः सामान्यतया अनधिमान वक्र मूल बिंदु के उत्तल होता है।

3. दो अनधिमान वक्र एक-दूसरे को स्पर्श या काटती हुई नहीं हो सकती (Two Indifference curves never interesect or touch each other)—प्रत्येक अनधिमान वक्र संतुष्टि के एक स्तर को दर्शाता है। प्रत्येक अनधिमान वक्र पर सारे बिंदु दो वस्तुओं के उन विभिन्न मिश्रणों को बताते हैं जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। इसलिए यदि किसी भी अनधिमान वक्र पर दो बिंदु लिए जाएं तो उससे उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होगी। लेकिन यदि दो अनधिमान वक्र एक-दूसरे

को काटती हैं तो एक ऐसी स्थिति बन जाएगी जिसमें एक अनधिमान वक्र दूसरी अनधिमान वक्र से अधिक या कम और साथ ही समान संतुष्टि भी दिखाएगी जो कि असंभव है। यह सिद्ध करने के लिए कि दो अनधिमान् वक्र एक-दूसरे को नहीं काट सकते, मान लो कि वे एक-दूसरे को किसी एक बिंदु, जैसे A पर काटती है, जैसा कि रेखाचित्र 4.17 में दिखाया गया है :

चित्र : 4.17



चित्र में अनधिमान वक्र IC_1 पर बिंदु A तथा B, वस्तु X तथा Y के उन दो विभिन्न मिश्रणों को बताते हैं जिससे उपभोक्ता को समान संतुष्टि मिलती है। इसी प्रकार अनधिमान वक्र IC_2 पर बिंदु A तथा C वस्तु X तथा वस्तु Y के उन दो विभिन्न मिश्रणों को बताते हैं जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि मिलती है। चूंकि A=B तथा A=C है इसलिए B=C होगा। बिंदु B वस्तु X की 4 इकाइयाँ तथा Y की 13 इकाइयों के समूह को दिखाता है जब कि बिंदु C वस्तु X की 4 इकाइयाँ तथा Y की 9 इकाइयों के समूह को दिखाता है। चूंकि X वस्तु की इकाइयाँ दोनों समूहों B तथा C में समान है लेकिन B समूह में Y वस्तु की 13 इकाइयों तथा C समूह में Y की 9 इकाइयाँ ही हैं, इसलिए B=C नहीं हो सकता अर्थात् दो अनधिमान वक्र एक-दूसरे को नहीं काट सकतीं।

उपभोक्ता का संतुलन
(Consumer's Equilibrium)

जब उपभोक्ता अपनी सीमित आय को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करता है कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है, तो वह संतुलन की स्थिति में कहा जाता है। उपभोक्ता विश्लेषण के अनुसार जब विभिन्न वस्तुओं की सीमांतउपयोगिताओं और उनकी कीमतों का अनुपात समान होता है, तो उपभोक्ता संतुलन की स्थिति में होता है। अनधिमान वक्र विश्लेषण में उपभोक्ता संतुलन की स्थिति में तब होगा जब दो वस्तुओं की प्रतिस्थापन की सीमांत दर उनकी कीमतों के अनुपात के बराबर हो।अनधिमान वक्रों की सहायता से उपभोक्ता का संतुलन समझने के लिए हमें निम्नलिखित सूचना चाहिए–

(i) दो वस्तुओं के प्रति उपभोक्ता की प्राथमिकताओं के स्तर, जिनमें से प्रत्येक स्तर एक अनधिमान वक्र द्वारा दर्शाया जाता है।

(ii) दो वस्तुओं पर खर्च करने के लिए उसके पास कितनी मुद्रा है। यह मान्यता की जाती है कि मुद्रा की इस पूरी मात्रा को वह इन दो वस्तुओं पर खर्च करता है, इसमें से बचत नहीं करता।

(iii) X तथा Y वस्तु की कीमतें दी हुई हैं तथा स्थिर रहती हैं।

दूसरे शब्दों में उपभोक्ता का संतुलन मालूम करने के लिए हमें उपभोक्ता की प्राथमिकताओं का स्तर तथा उपभोक्ता की बजट रेखा (Budget line) मालूम करनी चाहिए।

(i) अधिमानक्रम (Scale of Preferences) या अनधिमान मानचित्र (Indifference map) :

किन्हीं दो वस्तुओं के अनेकों संयोजन हो सकते हैं। इनमें से कुछ संयोजनों से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। कुछ संयोजनों को अन्य संयोजनों की तुलना में अधिक या कम संतुष्टि प्राप्त होती है। जिन संयोजनों से उपभोक्ता को अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है, उनका स्थान उपभोक्ता के अधिमान क्रम (Scale of Preferences) में अपेक्षाकृत ऊँचा होगा। जिन संयोजनों से

उपभोक्ता का अपेक्षाकृत कम संतुष्टि प्राप्त होती है, उनका स्थान उपभोक्ता के अधिमान क्रम में अपेक्षाकृत नीचा होगा। ऐसे संयोजनों, जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है, उनका स्थान उपभोक्ता के अधिमान क्रम में एक जैसा अर्थात् समान होगा। इस प्रकार दो वस्तुओं के सभी संभव संयोजनों को, उनसे मिलने वाली संतुष्टि (समान, अधिक या कम) के आधार पर उपभोक्ता के विभिन्न अधिमान क्रमों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि दो वस्तुओं के विभिन्न संयोजनों के प्रति उपभोक्ता के अधिमान-क्रमों को एक चित्र के रूप में प्रस्तुत किया जाये, तो उसे अनधिमान मानचित्र (Indifference Map) कहा जाता है। एक अधिमान-क्रम को, जो कि दो वस्तुओं के ऐसे सभी संयोजनों को व्यक्त करता है, जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि मिलती है एक अनधिमान वक्र के द्वारा दिखाया जा सकता है। इस प्रकार एक अनधिमान वक्र संतुष्टि के एक स्तर को व्यक्त करता है। संतुष्टि के विभिन्न स्तर प्रदान करने वाले विभिन्न संयोजनों अर्थात् विभिन्न अधिमान क्रमों को दिखाने के लिए अलग-अलग अनधिमान वक्रों का निर्माण करना पड़ता है। जब संतुष्टि के विभिन्न स्तर प्रदान करने वाले विभिन्न संयोजनों को दिखाने के लिए अलग-अलग अनधिमान वक्रों को एक ही चित्र में दर्शाते हैं, जैसा कि चित्र 4.18 में दिखाया गया है, तो उस चित्र को 'अनधिमान मानचित्र' कहा जाता है।

तालिका 4.9 में X तथा Y वस्तुओं के पाँच ऐसे संयोजन क्रमशः 1x+25y, 2x+20y, 3x+16y, 4x+13y तथा 5x+11y दिये थे, जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है, इसलिए उपभोक्ता किसी भी एक संयोजन को चुन सकता है। इन संयोजनों के आधार पर रेखाचित्र 4.14 में अनधिमान वक्र का निर्माण किया था। इस अधिमान वक्र पर स्थित सभी बिंदु X तथा Y वस्तुओं के उन सभी संयोजनों को प्रदर्शित करते हैं, जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। लेकिन X तथा Y वस्तु के ऐसे और भी कई संयोजन हो सकते हैं, जिनसे मिलने वाली संतुष्टि, इन पाँच संयोजनों से मिलने वाली संतुष्टि की अपेक्षा अधिक या कम हो सकती है। विभिन्न संतुष्टि के स्तर को प्रदान करने वाले विभिन्न संयोजनों को दिखाने के लिए अलग-अलग अनधिमान वक्रों को बनाना होगा, क्योंकि एक अनधिमान वक्र संतुष्टि के एक स्तर को ही दिखाती है। इसे समझाने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं, जैसा कि तालिका 4.11 में दिखाया गया है :

तालिका 4.11

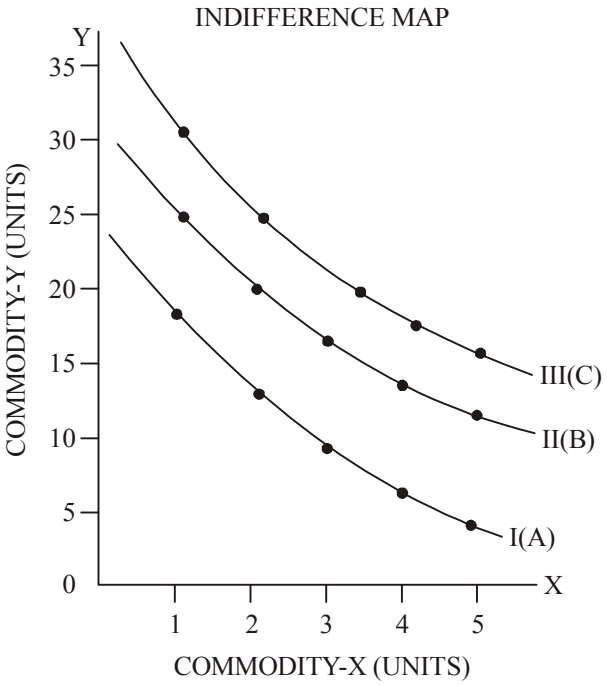
अनधिमान अनुसूचियाँ

A		B		C	
X वस्तु	Y वस्तु	X वस्तु	Y वस्तु	X वस्तु	Y वस्तु
1	18	1	25	1	31
2	13	2	20	2	25
3	9	3	16	3	20
4	6	4	13	4	17
5	4	5	11	5	15

इस तालिका के आधार पर रेखाचित्र 4.18 बनाया गया है। कॉलम A में दिए गए सभी पाँचों संयोजन से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। इसलिए इन सभी संयोजनों को एक अनधिमान वक्र के द्वारा दिखाया जा सकता है। कॉलम B में दिए गए सभी पाँचों संयोजनों से उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है लेकिन कॉलम B में दिए गए किसी भी संयोजन से उपभोक्ता को कॉलम A में दिए गये किसी भी संयोजन से अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए कॉलम A में दिये गए एक संयोजन 1x+18y की तुलना मे कॉलम B में दिए गए 1x+25y से अधिक संतुष्टि प्राप्त होगी क्योंकि दोनों में X वस्तु की मात्रा समान है लेकिन A की तुलना में B में Y वस्तु की मात्रा अधिक है। इसलिए कॉलम A तथा कॉलम B को एक ही अनधिमान वक्र के द्वारा नहीं दिखाया जा सकता। दोनों के लिये अलग-अलग अनधिमान खींचने पड़ेंगे। चूँकि कॉलम A में दिए गए संयोजनों की अपेक्षा कॉलम B में दिए गए संयोजनों से अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है, इसलिए कॉलम B को दिखाने वाली अनधिमान वक्र, II(B) कॉलम A में दिये गए संयोजनों को दिखाने वाली अनधिमान वक्र I(A) से ऊँची होगी, जैसा कि रेखाचित्र 4.18 में दिखाया गया है। इसी प्रकार तालिका 4.11 के कॉलम C में दिए गए किसी भी संयोजन से समान संतुष्टि प्राप्त होती है। लेकिन कॉलम C में दिये गए किसी भी संयोजन से कॉलम B में दिए गए किसी भी संयोजन से कॉलम B में दिए गए किसी भी संयोजन से अधिक संतुष्टि प्राप्त होती

है, अतः कॉलम C में दिए संयोजनों को दिखाने के लिए एक अलग अनधिमान वक्र III(C) खींचनी होगी, जो कि कॉलम B में दिए गये संयोजनों को दिखाने वाली अनधिमान वक्र II(B) से बायें ऊपर की ओर होगी।

चित्र : 4.18

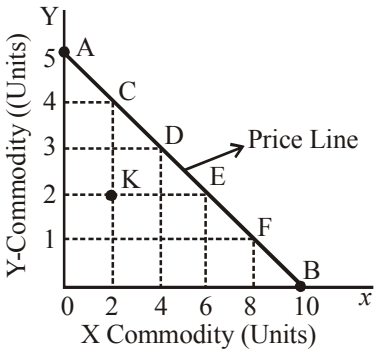


इस प्रकार संतुष्टि के विभिन्न स्तरों को व्यक्त करने वाले विभिन्न संयोजनों के आधार पर अलग-अलग अनधिमन वक्रों का निर्माण किया गया है। इन विभिन्न अनधिमान वक्रों को एक ही चित्र 4.18 में दिखाया गया है, इसलिए इसे अनधिमान मानचित्र कहते हैं। इनमें से प्रत्येक अनधिमान वक्र संतुष्टि के एक स्तर को व्यक्त करता है तथा अलग-अलग अनधिमान वक्र अलग-अलग संतुष्टि के स्तर को व्यक्त करते हैं। जो अनधिमान मूल बिंदु (बिंदु O) से जितना अधिक दाईं ओर होता है, वह संतुष्टि के उतने ही ऊँचे स्तर को व्यक्त करता है। चित्र में तीन अनधिमान वक्र ही दिखाये गए हैं। X तथा Y-वस्तुओं के ओर भी कई संयोजन हो सकते हैं, जिन्हें दिखाने के लिए अलग-अलग अनधिमान वक्र खींचने पड़ेंगे। एक उपभोक्ता के लिये सभी संभव अनधिमान वक्रों को एक ही चित्र द्वारा दिखाये जाने पर उस चित्र को उपभोक्ता का अनधिमान मानचित्र कहते हैं।

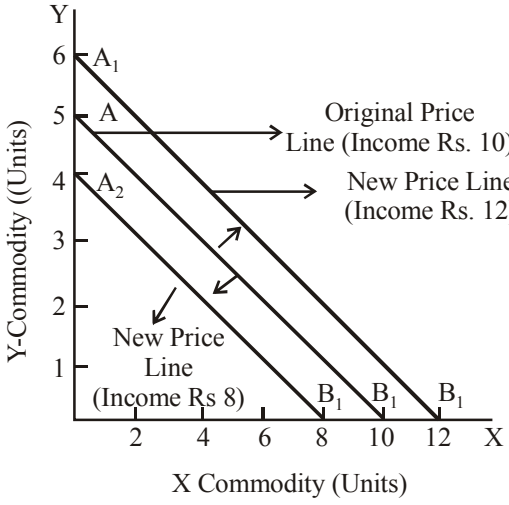
प्रत्येक उपभोक्ता का एक अनधिमान मानचित्र होता है। भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओं का अलग-अलग अनधिमान मानचित्र होता है। एक उपभोक्ता का अनधिमान मानचित्र उसकी रुचि तथा अधिमानों (Preferences) के आधार पर बनाया जाता है। जब तक उसकी रुचि तथा अधिमान स्थिर रहते हैं, उसके अनधिमान मानचित्र में कोई परिवर्तन नहीं आता। उसकी रुचि तथा अधिमानों में परिवर्तन आने से उसके अनधिमान मानचित्र में भी उसके अनुसार परिवर्तन आ जाता है। उपभोक्ता का अधिमान मानचित्र उसकी आय या वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर नहीं करता। एक उपभोक्ता का अनधिमान मानचित्र अन्य उपभोक्ताओं केअनधिमान मानचित्रों से भी प्रभावित नहीं होता।

(ii) बजट या कीमत रेखा (Budget or Price Line) : एक अनधिमान मानचित्र में जो अनधिमान वक्र मूल बिंदु से जितना दूर दाईं ओर ऊपर की ओर होता है, वह संतुष्टि के उतने ही ऊँचे स्तर को व्यक्त करता है। चूँकि प्रत्येक उपभोक्ता का उद्देश्य यह होता है कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो, इसलिए वह ऊँचे से ऊँचे अनधिमान वक्र पर दिए गए विभिन्न संयोजनों में से ही किसी एक संयोजन को चुनना चाहेगा। लेकिन वास्तव में उपभोक्ता किस अनधिमान वक्र पर पहुँच सकेगा, यह उसकी आय तथा बाजार में वस्तुओं की दी हुई कीमतों पर निर्भर करता है।

उपभोक्ता की सीमित आय व वस्तुओं की कीमतों के आधार पर हम एक रेखा खींच सकते हैं जो कि इस सीमा की द्योतक है कि उपभोक्ता किस अनधिमान वक्र तक पहुँच सकता है। मान लीजिए उपभोक्ता की आय 10 रु. है और X व Y दो वस्तुएं हैं जिन्हें



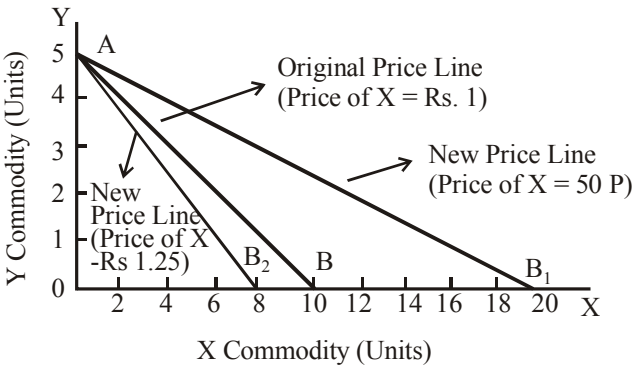
वह खरीदना चाहता है। X की कीमत 1 रुपया तथा Y की कीमत 2 रुपया प्रति इकाई है। यदि उपभोक्ता अपनी सारी आय सिर्फ X वस्तु खरीदने पर खर्च करे, तो यह X की 10 इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है। रेखाचित्र 4.19 में बिंदु B इस स्थिति को दर्शाता है। इसी प्रकार यदि वह अपनी सारी आय को सिर्फ Y वस्तु पर खर्च करे, तो वह Y की 5 इकाइयाँ खरीद सकता है। रेखाचित्र में बिंदु B इस दूसरी स्थिति को दर्शाता है। यदि A और B को मिला दें तो एक रेखा AB बन जाती है। यह रेखा X और Y के उन सारे मिश्रणों को दर्शाती है जिनमें से किसी एक को खरीदने पर पूरी आय (10 रु.) खर्च हो जाती है। C बिंदु पर 2X+4Y,D बिंदु पर 4X+3Y, E बिंदु पर 6X+2Y और बिंदु F पर 8X+1Y ऐसे मिश्रण हैं जिनमें से किसी एक को खरीदने पर कुल व्यय 10 रु. (आय के बराबर) होता है। इस रेखा की कीमत रेखा या बजट रेखा भी कहते हैं। यह रेखा दो वस्तुओं के इन सारे मिश्रणों को दर्शाती है जो कि उपभोक्ता अपनी दी हुई आय व वस्तुओं की दी हुई कीमतों के आधार पर चुन सकता है। अतः दी हुई आय व कीमतों के आधार पर उपभोक्ता को इस रेखा पर ही किसी बिंदु को चुनना है जो कि इन दोनों वस्तुओं के मिश्रण को दर्शाये जिससे कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। यदि उपभोक्ता इस रेखा से नीचे वाले क्षेत्र में कोई बिंदु जैसे K चुनता है तो यह इन दोनों वस्तुओं के उस मिश्रण (2X+2Y) को दर्शाएगा जिसे खरीदने से उसकी पूरी आय खर्च नहीं होगी। इसी प्रकार यदि वह रेखा से ऊपर वाले क्षेत्र में कोई बिंदु जैसे M चुनता है, तो वह इन दोनों वस्तुओं के उस मिश्रण (7X+3Y) को दर्शाएगा जिसको खरीदने के लिए उसकी आय पर्याप्त नहीं है। अतः न तो वह इस रेखा के ऊपर वाले क्षेत्र और न नीचे वाले क्षेत्र में किसी बिंदु को चुन सकता है, बल्कि केवल कीमत रेखा पर ही विभिन्न बिंदुओं में से किसी एक को चुन सकता है। इसका कारण यह है कि कीमत रेखा पर ही सारे बिंदु इन दोनों वस्तुओं के ऐसे विभिन्न मिश्रणों को दर्शाते हैं जिनमें किसी एक को खरीदने से उसकी कुल आय खर्च हो जाती है। कीमत रेखा का ढाल दोनों वस्तुओं की कीमतों के अनुपात (X वस्तु की कीमत /Y वस्तु की कीमत) को दर्शाता है। कोई भी कीमत रेखा एक आय विशेष के संदर्भ में ही होती है। जब उपभोक्ता की आय बढ़ जाती है तथा वस्तुओं की कीमतें वही रहती हैं तो नई कीमत रेखा पुरानी कीमत रेखा के समानांतर दाईं ओर मूल बिंदु से दूर खिसक जाती है। रेखाचित्र 4.20 में AB उपभोक्ता की प्रारंभिक कीमत रेखा है। आय बढ़कर 12 रुपये होने पर कीमत रेखा A_1B_1 हो जाती है अर्थात् नई कीमत रेखा पुरानी कीमत रेखा AB के समानांतर ऊपर को दायीं ओर खिसक (Shift) जाती है। आय के घटकर 8 रुपये होने पर कीमत रेखा A_2B_2 हो जाती है अर्थात् प्रारंभिक कीमत रेखा के समानांतर नीचे मूल बिंदु की ओर बायीं तरफ खिसक जाती है। यह ध्यान देने योग्य है कि उपभोक्ता की आय में परिवर्तन से कीमत रेखा के ढाल (slope) में परिवर्तन नहीं आता अर्थात् उनका ढाल समान $\frac{OA}{OB} = \frac{OA_1}{OB_1} = \frac{OA_2}{OB_2}$ रहता है, लेकिन सिर्फ उनके स्थान (मूल बिंदु O से दूरी) में परिवर्तन आता है। इसके विपरीत उपभोक्ता की आय स्थिर रहती है, लेकिन वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन आ जाता है, तो इसके परिणामस्वरूप कीमत रेखा के ढाल में परिवर्तन आ जाता है। इसे रेखाचित्र 4.21 के द्वारा समझा सकते हैं। मान लो कि उपभोक्ता की आय समान (10 रुपये) तथा Y वस्तु की कीमत (2 रुपये) समान रहती है लेकिन X की कीमत 1 रुपये प्रति इकाई से कम होकर 50 पैसे प्रति इकाई हो जाती है। अतः यदि उपभोक्ता अब अपनी आय 10 रुपये को X वस्तु पर ही व्यय करे तो वह X वस्तु की 20 इकाइयाँ (OB_1) खरीद सकता है। चूँकि Y वस्तु की कीमत समान रहती है, इसलिए वह अपनी आय से Y वस्तु की पहले जितनी मात्रा OA या 5 इकाइयाँ ही खरीद सकता है। इस प्रकार उसकी नई कीमत रेखा पुरानी कीमत रेखा AB के दाईं ओर खिसक कर AB_1 हो जाएगी, जैसा कि रेखाचित्र —4.21 में दिखाया है। इसी प्रकार यदि X वस्तु की कीमत 1 रुपये से बढ़कर 1.25 रुपये प्रति इकाई हो जाती है तो उपभोक्ता अब अपनी आय 10 रुपये से X वस्तु की 8 इकाइयाँ या OB_2 मात्रा ही खरीद सकता है। इसलिए



अब कीमत रेखा प्रारंभिक कीमत रेखा के बाईं ओर खिसक कर AB_2 हो जाएगी। इसी विधि से हम Y वस्तु की कीमत या X तथा Y दोनों वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन आने से कीमत रेखा में परिवर्तन मालूम कर सकते हैं। चित्र में यह स्पष्ट है कि वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन आने के परिणामस्वरूप कीमत रेखा ढाल में परिवर्तन आ जाता है। जब X वस्तु की कीमत 1 रुपया है, तो कीमत रेखा AB का ढाल $\frac{OA}{OB}\left(\frac{5}{10}=0.5\right)$ है। लेकिन X वस्तु की कीमत घटकर 50 पैसे हो जाने से नई कीमत रेखा AB_1 का ढाल $\frac{OA}{OB_1}\left(\frac{5}{20}=0.25\right)$ है जो कि $\frac{OA}{OB}$ से कम है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सिर्फ उपभोक्ता की आय में परिवर्तन आने से कीमत रेखा के स्थान में परिवर्तन आता है लेकिन उनका ढाल समान रहता है। परंतु वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन आने से कीमत रेखा ढाल में परिवर्तन आ जाता है। इससे यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि कीमत रेखा का ढाल वस्तुओं की मतों के अनुपात को तथा कीमत रेखा का स्थान उपभोक्ता की आय के स्तर को व्यक्त करते हैं।

चित्र 4.21



उपभोक्ता का संतुलन : यदि हम बजट रेखा तथा अनधिमान मानचित्र को मिलाकर एक ही रेखाचित्र पर खीचें तो हम उपभोक्ता का संतुलन मालूम कर सकते हैं अर्थात् उसकी दी गई आय तथा X तथा Y वस्तुओं की कीमतों पर वह अपनी आय को X तथा Y वस्तुओं की कितनी मात्रा खरीदने पर व्यय करें कि उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। वह रेखाचित्र 4.22 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र में अनधिमान वक्र IC_1, IC_2, IC_3, IC_4 तथा IC_5, X तथा Y वस्तुओं के विभिन्न समूहों की प्राथमिकताओं के स्तर के आधार पर बनाई जाती है। जो अनधिमान वक्र दाईं ओर जितना ऊँचा होता है उतनी ही अधिक संतुष्टि उसमें आने वाले X तथा Y वस्तु के समूह प्रदान करते हैं। इसलिए उपभोक्ता ऊँचे से ऊँचे अनधिमान वक्र पर पहुँचने का प्रयत्न करेगा लेकिन अधिक-से-अधिक कौन से अनधिमान वक्र पर पहुँच सकता है यह उसकी कीमत रेखा द्वारा निर्धारित होगा। यदि कोई अनधिमान वक्र उसकी कीमत रेखा के अंदर है तो उस स्थिति में उपभोक्ता अपनी सारी आय को व्यय नहीं कर रहा है तथा उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त नहीं होगी। इसलिए वह उस बिंदु को चुनेगा जो कीमत रेखा पर होने के साथ ही उच्चतम संभव अनधिमान वक्र पर भी हो।

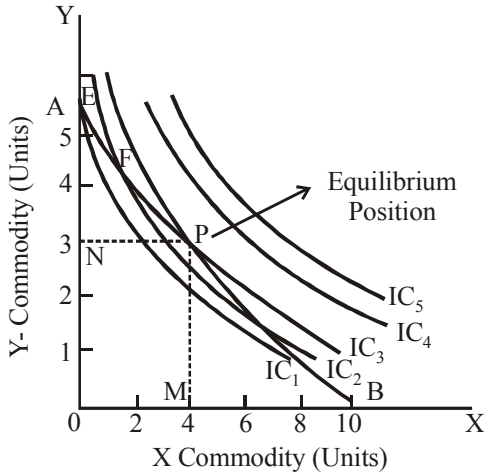
रेखाचित्र 4.22 में अनधिमान वक्र IC_1, IC_2, IC_3, IC_4 तथा IC_5 हैं तथा AB उपभोक्ता की कीमत रेखा है। उपभोक्ता कीमत रेखा पर ही कोई बिंदु चुन सकता है। रेखाचित्र में कीमत रेखा पर E, F तथा P बिंदु दिये गए हैं। मान लो कि उपभोक्ता कीमत रेखा पर E बिंदु चुनता है जो कि अनधिमान वक्र IC_1 है। लेकिन उपभोक्त देखता है कि कीमत रेखा पर ही बिंदु F उच्च अनधिमान वक्र रेखा IC_2 है जहाँ पर उसे अधिक संतुष्टि प्राप्त हो सकती है। लेकिन उपभोक्ता यह भी देखता है कीमत रेखा पर ही P बिंदु और उच्च अनधिमान वक्र IC_3 पर है इसलिए वह F बिंदु की अपेक्षा P बिंदु चुनेगा।

अब P बिंदु पर पहुँचने पर उपभोक्ता देखता है कि वह अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करता है क्योंकि यह बिंदु P बिंदु पर पहुँचने पर उपभोक्ता देखता है कि वह अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि कीमत रेखा जिस भी अनधिमान वक्र को स्पर्श करेगी वह उपभोक्त की पहुँच में सबसे ऊँचे अनधिमान वक्र है और जिस बिंदु पर यह स्पर्श (Point of tangency) होती है वह उपभोक्ता की संतुलन की स्थिति बतलाती है। यह बिंदु दोनों वस्तुओं के जिस मिश्रण को दर्शाता है, वहाँ उपभोक्ता को

उसकी सीमित आय में अधिकतम संतुष्टि प्रदान करता है। उपभोक्ता X वस्तु की OM मात्रा (4 इकाइयाँ) तथा Y वस्तु की ON मात्रा (3 इकाइयँ) खरीदेगा। इससे उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है। अतः P बिंदु पर उपभोक्ता संतुलन की स्थिति में है। संतुलन की स्थिति को एक अन्य रूप में भी देखा जा सकता है। वह बिंदु कीमत रेखा पर होने के नाते, दोनों वस्तुओं की कीमतों के अनुपात का द्योतक है और अनधिमान वक्र होने के नाते, दोनों वस्तुओं की प्रतिस्थापन की सीमांत दर बताता है। क्योंकि दोनों रेखाओं पर यह बिंदु साझा (Common) है, इसलिए इस बिंदु पर दोनों वस्तुओं की कीमतों का अनुपात और उनकी प्रतिस्थापन की सीमांत दर बराबर है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यदि उपभोक्ता अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं के खरीदने में इस प्रकार खर्च करे कि विभिन्न वस्तुओं की कीमतों का अनुपात उनकी प्रतिस्थापन की सीमांत दर के बराबर हो जाए, तभी उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो सकती है। अतः उपभोक्ता के संतुलन की शर्त है :

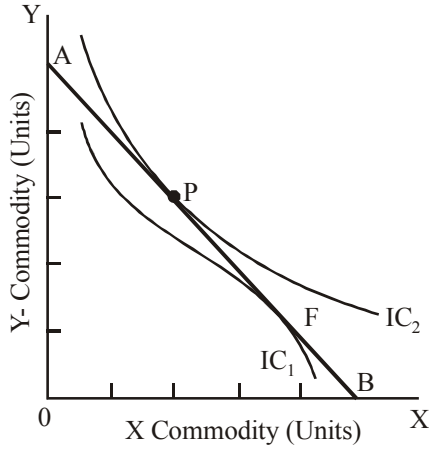
वस्तुओं की कीमतों का अनुपात-वस्तुओं की प्रतिस्थापन की सीमांत दर।

चित्र : 4.22



यद्यपि उपभोक्ता के संतुलन के लिए उपरोक्त शर्त का पूरा होना जरूरी है लेकिन संतुलन के बिंदु (P) पर प्रतिस्थापन की सीमांत दर घटती हुई होनी चाहिए अर्थात् अनधिमान वक्र मूल बिंदु के उत्तल होनी चाहिए अन्यथा वह संतुलन की स्थिति एक स्थिर संतुलन की स्थिति नहीं होगी।

चित्र : 4.22(i)



इसे रेखाचित्र 4.22(i) के द्वारा बताया जा सकता है। रेखाचित्र में कीमत रेखा AB अनधिमान वक्र IC_1 को बिंदु पर स्पर्श करती है, इसलिए दोनों वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर दोनों वस्तुओं की कीमतों के अनुपात के बराबर है। अतः उपभोक्ता के संतुलन की प्रथम शर्त के अनुसार F बिंदु पर उपभोक्ता को संतुलन की स्थिति में होना चाहिए। लेकिन यह उपभोक्ता के स्थिर संतुलन की स्थिति नहीं हो सकती क्योंकि F बिंदु पर अनधिमान वक्र मूल बिंदु के अवतल है। इसका अभिप्राय यह है कि दोनों वस्तुओं के

बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर बढ़ती हुई है। ऐसी दशा में उपभोक्ता कीमत रेखा AB पर बाएँ या दाएँ किसी भी ओर हटने पर अनधिमान वक्र IC_1 की अपेक्षा ऊँचे अनधिमान वक्र पर पहुँच सकता है जिससे उसे अधिक संतुष्टि प्राप्त होगी।

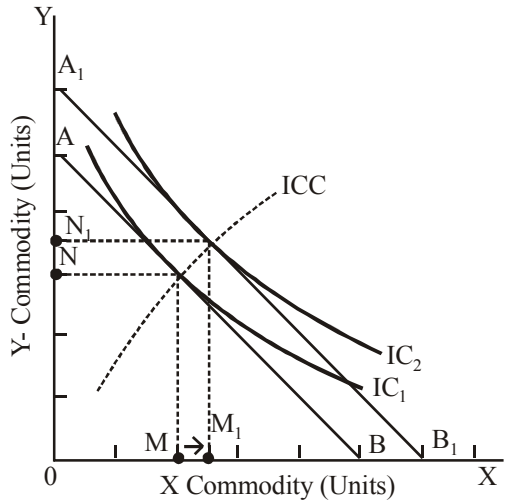
रेखाचित्र 4.22(i) में कीमत रेखा पर बाईं ओर हटने पर उपभोक्ता P बिंदु पर पहुँच सकता है, जोकि ऊँचे अनधिमान वक्र IC_2 पर है। इसलिए F की अपेक्षा P बिंदु पर उपभोक्ता की अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है। P बिंदु पर कीमत रेखा अनधिमान वक्र IC_2 को स्पर्श करती हुई है तथा अनधिमान वक्र IC_2 मूल बिंदु की ओर उत्तल भी है। इसलिए यह उपभोक्ता के स्थिर संतुलन की स्थिति को व्यक्त करता है।

अतः अनधिमान वक्र विश्लेषण के अनुसार उपभोक्ता उस समय संतुलन की स्थिति में होगा जबकि (i) कीमत रेखा अनधिमान वक्र को स्पर्श करती हुई होती है या दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर दोनों वस्तुओं की कीमतों के अनुपात के बराबर होनी चाहिए। (ii) संतुलन बिंदु पर अनधिमान वक्र मूल बिंदु की ओर उत्तल होना चाहिए अर्थात्, दोनों वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमांत दर घटती हुई होनी चाहिए।

उपभोक्ता की आय तथा वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन का माँग पर प्रभाव : अभी तक अध्ययन किया गया है कि दी हुई सीमित आय और कीमत के अंतर्गत एक उपभोक्ता संतुलन कैसे स्थापित होता है। लेकिन वास्तविक जीवन में उपभोक्ता की आय तथा वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें बदलती रहती हैं। तथा इनका उपभोक्ता के संतुलन पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए अब इस बात का अध्ययन करेंगे कि उपभोक्ता की आय तथा वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन होने से उपभोक्ता की क्या प्रतिक्रिया होती है और वह फिर से संतुलन किस प्रकार प्राप्त करता है।

(i) उपभोक्ता की आय में परिवर्तन का माँग पर प्रभाव : आय प्रभाव : पहले उपभोक्ता का आय में परिवर्तन को लेते हैं। मान लेते हैं कि वस्तुओं की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता। उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने से उपभोक्ता की माँग या उसके संतुलन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे रेखाचित्र 4.23 के द्वारा समझा सकते हैं–

चित्र : 4.23



रेखाचित्र 4.23 में X अक्ष पर X वस्तु की मात्रा तथा Y अक्ष पर Y वस्तु की मात्रा दर्शाते हैं। मान लो कि उपभोक्ता की आय 50 रुपये प्रति सप्ताह है। यदि यह अपनी सारी आय X वस्तु के खरीदने पर लगाता है तो X वस्तु की OB मात्रा खरीद सकता है और यदि यह अपनी समस्त आय Y वस्तु के खरीदने पर लगाता है तो यह Y वस्तु की OA मात्रा खरीद सकता है। AB उपभोक्ता की कीमत रेखा होगी जो कि अनधिमान वक्र IC_1 को P पर स्पर्श करती है। इसलिए P उपभोक्ता का संतुलन बिंदु होगा। उपभोक्ता अपनी आय (50 रुपये) को X वस्तु की OM मात्रा तथा Y वस्तु की ON मात्रा को खरीदने पर व्यय करेगा और इससे उसे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होगी। मान लो कि उपभोक्ता की आय 50 रुपये प्रति सप्ताह से बढ़कर 60 रुपये प्रति सप्ताह हो जाती है, वस्तुओं की कीमतें पूर्ववत् ही रहती हैं। उसके फलस्वरूप इसकी नई कीमत रेखा पुरानी कीमत रेखा के समांतर (Parallel) दाईं ओर खिसक जाएगी। A_1B_1 उपभोक्ता की नई कीमत रेखा है। अब उपभोक्ता उच्च अनधिमान वक्र पर जा सकता है। उपभोक्ता की संतुलन की

स्थिति अब क्या होगी? नई कीमत रेखा A_1B_1 अनधिमान वक्र IC_2 को P_1 पर स्पर्श करती है; इसलिए उपभोक्ता का संतुलन बिंदु अब P_1 होगा। अब उपभोक्ता अपनी आय को इस प्रकार खर्च करेगा कि वह X वस्तु की OM_1 मात्रा तथा Y वस्तु की ON_1 मात्रा खरीदेगा। अब वह X तथा Y दोनों वस्तुओं की पहले की अपेक्षा (जबकि उसकी आय 50 रुपये थी) अधिक मात्रा खरीदता है। माँग की मात्रा में इस वृद्धि (अर्थात् उपभोक्ता के संतुलन बिंदु P से P_1 होने) को हम आय प्रभाव कहते हैं। यदि हम P तथा P_1 को मिला दें तो एक वक्र बनता है। इस वक्र को हम आय उपभोग वक्र (Income consumption curve) कहते हैं। आय प्रभाव धनात्मक (Positive) या ऋणात्मक (Negative) हो सकता है। जब आय प्रभाव धनात्मक होता है तो आय उपभोग वक्र दाईं ओर ऊपर उठता हुआ होता है, जैसा कि रेखाचित्र 4.23 में दिखाया गया है। इसके विपरीत यदि उपभोक्ता की आय बढ़ने से वस्तु की माँगी गई मात्रा में कमी आ जाए तो आय प्रभाव ऋणात्मक होगा। साधारणतया आय प्रभाव धनात्मक होता है लेकिन घटिया वस्तु (Inferior good) की दशा में यह ऋणात्मक होगा अर्थात् उपभोक्ता की आय में वृद्धि होने पर घटिया वस्तु की माँग कम हो जाती है। घटिया वस्तुओं का तात्पर्य ऐसी वस्तुओं से है जिनका उपभोग आय के कम स्तर पर अधिक किया जाता है। लेकिन जैसे-जैसे आय के स्तर में वृद्धि होती है, घटिया वस्तुओं का उपभोग कम होता जाता है। जब उपभोक्ता की आय बहुत कम होती है, तब वह अच्छी किस्म की वस्तुएँ, जो अपेक्षाकृत महँगी होती है, नहीं खरीद पाता। लेकिन जैसे-जैसे उसकी आय बढ़ती जाती है। आय के एक स्तर पर पहुँच जाने के बाद उपभोक्ता उन वस्तुओं के स्थान पर, जिन्हें वह घटिया समझता था, अच्छी किस्म की वस्तुएँ खरीदने लगता है। इसलिए घटिया वस्तुओं की माँग कम हो जाती है।

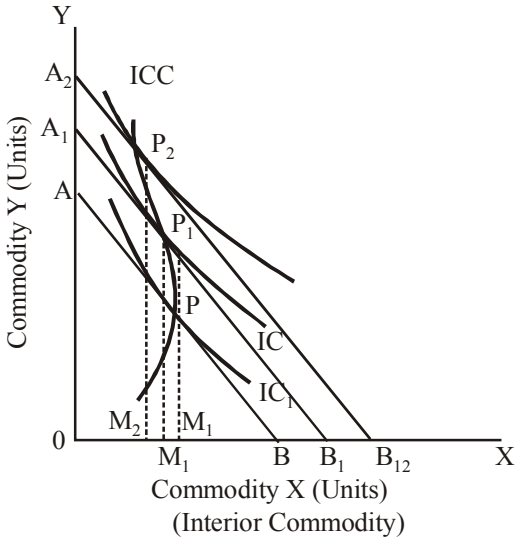
घटिया वस्तु की स्थिति में ऋणात्मक आय प्रभाव को चित्र 4.24 द्वारा समझा सकते हैं।

रेखाचित्र 4.24 से X अक्ष पर X वस्तु की मात्रा तथा अक्ष पर Y वस्तु की मात्रा दर्शाते हैं। वस्तु घटिया वस्तु की है जबकि Y वस्तु सामान्य वस्तु है। AB उपभोक्ता की कीमत रेखा है। AB कीमत रेखा अनधिमान वक्र IC_1 को P पर स्पर्श करती है। इसलिए P उपभोक्ता के संतुलन का बिंदु होगा। उपभोक्ता X वस्तु की OM मात्रा खरीदेगा। यदि उपभोक्ता की आय बढ़ती है तो नई कीमत रेखा पुरानी कीमत रेखा (AB) के समांतर दाईं ओर खिसक जाएगी। नई कीमत रेखा A_1B_1 है। A_1B_1 कीमत रेखा, अनधिमान वक्र IC_1 को P_1 पर स्पर्श करती है। इसलिए P_1 उपभोक्ता के संतुलन का नया बिंदु होगा। P_1 पर पर उपभोक्ता X वस्तु की OM_1 मात्रा खरीदता है, जब कि पहले वह P बिंदु पर X वस्तु की OM मात्रा खरीदता था। दूसरे शब्दों में उपभोक्ता की आय बढ़ने पर भी वह वस्तु (जो कि घटिया वस्तु है) की कम मात्रा खरीदता है। X वस्तु की मात्रा अब MM_1 कम खरीदी जाती है। इसलिए वह ऋणात्मक आय प्रभाव होगा। यदि उपभोक्ता की आय और बढ़ जाती है और इस प्रकार P_2 उपभोक्ता का नया संतुलन बिंदु हो जाता है। इस स्थिति में उपभोक्ता X वस्तु की OM_2 मात्रा खरीदेगा। उपभोक्ता अब X वस्तु की और भी कम मात्रा खरीदता है। M_1M_2 ऋणात्मक आय प्रभाव होगा। जैसे-जैसे उपभोक्ता की आय बढ़ती जाती है वैसे-वैसे X वस्तु की माँग कम होती जाती है अर्थात् आय प्रभाव ऋणात्मक होगा क्योंकि हमने यह माना है कि X वस्तु घटिया है। यदि आप P,P_1 तथा P_2 बिंदुओं को मिला दें तो एक वक्र बन जाता है जिसे आय उपभोग वक्र कहते हैं। घटिया वस्तु की स्थिति में आय उपभोग वक्र बाईं ओर पीछे की तरफ मुड़ती हुई होती है।

घटिया वस्तु के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि आप के ऊँचे स्तर पर जाकर ही आय प्रभाव ऋणात्मक होता है। प्रारंभ में कम आय स्तर पर आय में वृद्धि के साथ घटिया वस्तु की माँग भी बढ़ जाती है कयोंकि आय कम होने के कारण वह अच्छी किस्म की वस्तु नहीं खरीद पाता। आय के एक स्तर तक बढ़ जाने के बाद आय में वृद्धि के साथ उपभोक्त घटिया वस्तु के स्थान पर अच्छी किस्म की वस्तुओं का प्रयोग करने लगता है जिससे घटिया वस्तु की माँग कम हो जाती है। रेखाचित्र में P बिंदु के बाद ही आय प्रभाव ऋणात्मक होता है।

यहाँ पर आपको यह भी बता देना चाहते हैं कि आय प्रभाव न सिर्फ उपभोक्ता की मौद्रिक आय में परिवर्तन होने से ही होता है, बल्कि वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन होने से भी होता है। यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय समान रहे लेकिन वस्तुओं की कीमतें कम हो जाएँ तो उपभोक्ता उसी मौद्रिक आय में पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीद सकता है। दूसरे शब्दों में कीमतें कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय (Real Income) बढ़ जाती है, यदि मौद्रिक आय समान रहे।

चित्र : 4.24



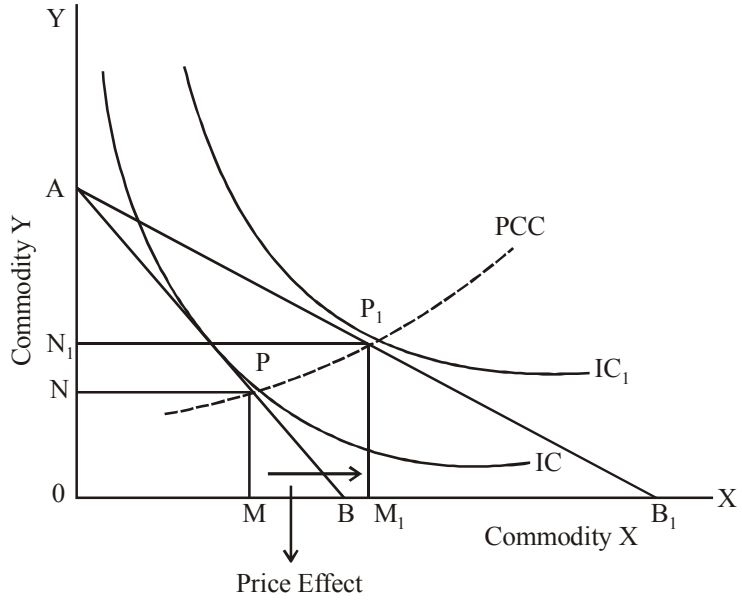
(ii) वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन की माँग पर प्रभाव : कीमत प्रभाव (Price Effect) : ऊपर यह अध्ययन किया गया कि वस्तुओं की कीमतें समान रहें, तो उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने पर वस्तु की माँग या उपभोक्ता की संतुलन पर क्या प्रभाव पड़ता है। अब यह अध्ययन करते हैं कि यदि उपभोक्ता आय तथा किसी एक वस्तु की कीमत समान रहे, तो अन्य वस्तु की कीमत में परिवर्तन से उपभोक्ता की माँग उसके संतुलन पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

मान लें कि एक वस्तु X की कीमत में परिवर्तन होता है, जबकि दूसरी वस्तु Y की कीमत तथा उपभोक्ता मौद्रिक आय स्थिर रहती हैं। उपभोक्ता की मौद्रिक आय तथा अन्य वस्तु (Y) की कीमत स्थिर रहने पर, किसी एक वस्तु (X) की सिर्फ कीमत परिवर्तन होने से उसकी माँग की मात्रा पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे 'कीमत प्रभाव' (Price Effect) कहते हैं।

किसी एक वस्तु की सिर्फ कीमत में परिवर्तन होने से उपभोक्ता की कीमत रेखा में परिवर्तन आ जाता है, जैसा कि पहले रेखाचित्र 4.21 में समझाया जा चुका है। यदि एक वस्तु की कीमत कम हो जाती है तो उपभोक्ता की कीमत रेखा दाईं ओर खिसक जाएगी और पहले की अपेक्षा ऊँचे अनधिमान वक्र को स्पर्श करेगी। अतः उपभोक्ता का संतुलन पहले की अपेक्षा ऊँचे अनधिमान वक्र पर होने के कारण उसकी संतुष्टि का स्तर बढ़ जाएगा। इसके विपरीत, किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाने पर कीमत रेखा के बाईं ओर खिसक जाने से उपभोक्ता का संतुलन पहले की अपेक्षा नीचे अनधिमान वक्र पर होने के कारण उपभोक्ता की संतुष्टि का स्तर पहले की अपेक्षा कम हो जाता है। अन्य बातें समान रहने पर किसी एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने का उसकी माँग की मात्रा पर जो कुछ प्रभाव पड़ता है, उसे कीमत प्रभाव कहा जाता है। इसे चित्र 4.25 के द्वारा समझाया जा सकता है।

रेखाचित्र 4.25 में उपभोक्ता की दी हुई मौद्रिक आय तथा X तथा Y वस्तुओं की बाजार में दी गई कीमतों के आधार पर कीमत रेखा AB खींची गई हैं। कीमत रेखा AB अनधिमान वक्र IC को P पर स्पर्श करती है। अतः P उपभोक्ता का संतुलन बिंदु है। उपभोक्ता X वस्तु की OM मात्रा खरीदता है। मान लें कि X वस्तु की कीमत गिर जाती है। उपभोक्ता अब अपनी सारी आय को सिर्फ X वस्तु पर ही व्यय करे, तो वह उसकी OB_1 मात्रा खरीद सकता है। चूँकि Y वस्तु की कीमत पहले के समान ही रहती है, इसलिए वह अपनी सारी आय को Y वस्तु पर व्यय करने पर पहले जितनी मात्रा OA ही खरीदता रहेगा। अब उपभोक्ता की नई कीमत रेखा AB_1 होगी। नई कीमत रेखा AB_1 अनधिमान वक्र IC_1 को बिंदु P_1 पर स्पर्श करती है। अतः उपभोक्ता का संतुलन बिंदु P के बजाय P_1 होगा। नए संतुलन की स्थिति में उपभोक्ता X वस्तु की OM_1 मात्रा खरीदता है। इस प्रकार उपभोक्त की X वस्तु की माँग OM से बढ़कर OM_1 हो जाती है। X वस्तु की कीमत में कमी हो जाने से उसकी माँग में MM_1 वृद्धि हो जाती है। इस वृद्धि को कीमत प्रभाव कहते हैं। संतुलन बिंदु P तथा P_1 को मिला दिया जाए तो एक वक्र PCC बन जाता है जिसे कीमत उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) कहते हैं। कीमत उपभोग वक्र यह बताता है कि उपभोक्ता की मौद्रिक आय तथा अन्य वस्तु Y की कीमत स्थिर रहने पर किसी वस्तु X की कीमत में परिवर्तन से उस वस्तु की उपभोक्ता की माँग पर क्या प्रभाव पड़ता है।

चित्र : 4.25



कीमत प्रभाव को आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव में विभक्त करना : वास्तव में उपभोक्ता की मौद्रिक आय तथा अन्य वस्तु Y की कीमत स्थिर रहने पर, X वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर उसकी माँग पर दो प्रकार से प्रभाव (कीमत प्रभाव) पड़ता है, जिन्हें आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव कहा जाता है। वास्तव में कीमत प्रभाव आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव का योग होता है।

(i) **आय प्रभाव :** जब किसी वस्तु की कीमत कम होती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ़ जाती है अर्थात् उपभोक्ता अपनी पहले जितनी मौद्रिक आय से ही उस वस्तु की पहले से अधिक मात्रा खरीद सकता है। उदाहरण के लिए X वस्तु की कीमत 2 रुपये प्रति इकाई होने पर एक उपभोक्ता 5 इकाइयाँ खरीदने पर 10 रुपये व्यय करता है। यदि X वस्तु की कीमत 2 रुपये प्रति ईकाई से कम हो कर 1 रुपया प्रति इकाई हो जाए तो उपभोक्ता पहले जितना ही व्यय 10 रुपये करके X वस्तु की 10 इकाइयाँ खरीद सकता है। किसी वस्तु की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि होने से उस वस्तु की माँग में जो परिवर्तन आता है, इसे कीमत में परिवर्तन का आय प्रभाव कहते हैं।

(ii) **प्रतिस्थापन प्रभाव :** जब किसी वस्तु की कीमत कम होती है तो वह वस्तु उसकी अन्य प्रतिस्थापन वस्तुओं (Substitutes) की तुलना में सस्ती हो जाती है और इसलिए उसकी माँग बढ़ जाती है क्योंकि अन्य वस्तुओं के स्थान पर उसे प्रतिस्थापित किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि चाय की कीमत बढ़ जाए तो उपभोक्ता चाय की जगह कॉफी का प्रतिस्थापन करने लगेंगे और यदि चाय की कीमत कम हो जाए तो उपभोक्ता कॉफी की जगह चाय का प्रतिस्थापन करने लगेंगे। माँग में इस प्रकार के परिवर्तन को प्रतिस्थापन प्रभाव कहते हैं। अतः केवल वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन (एक वस्तु की दूसरी वस्तु की तुलना में सस्ता होना) से किसी वस्तु की माँग में जो परिवर्तन आता है, उसे 'प्रतिस्थापन प्रभाव' कहा जाता है। प्रतिस्थापन प्रभाव दोनों वस्तुओं की सिर्फ सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन के कारण होता है, अतः इससे कीमत रेखा का सिर्फ ढाल बदलता है, न कि उसका स्थान (मूल बिंदु से दूरी)। प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण उपभोक्ता संतुष्टि के ऊँचे स्तर पर नहीं पहुँच सकता। वह संतुष्टि के पहले वाले स्तर या अनधिमान वक्र पर ही रहता है। लेकिन वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन आने से उपभोक्ता अपेक्षाकृत महँगी वस्तु को कम मात्रा में तथा अपेक्षाकृत सस्ती वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदता है, जिससे वस्तुओं की खरीदी जाने वाली मात्राओं में परिवर्तन आ जाता है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता का उसी अनधिमान वक्र पर संतुलन का बिंदु बदल जाता है। प्रतिस्थापन प्रभाव सदैव धनात्मक होता है। उपभोक्ता हमेशा महंगी वस्तु के स्थान पर सस्ती वस्तु का प्रतिस्थापन करता है। अतः किसी वस्तु की कीमत होने पर प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण उसकी माँग अवश्य बढ़ती है।

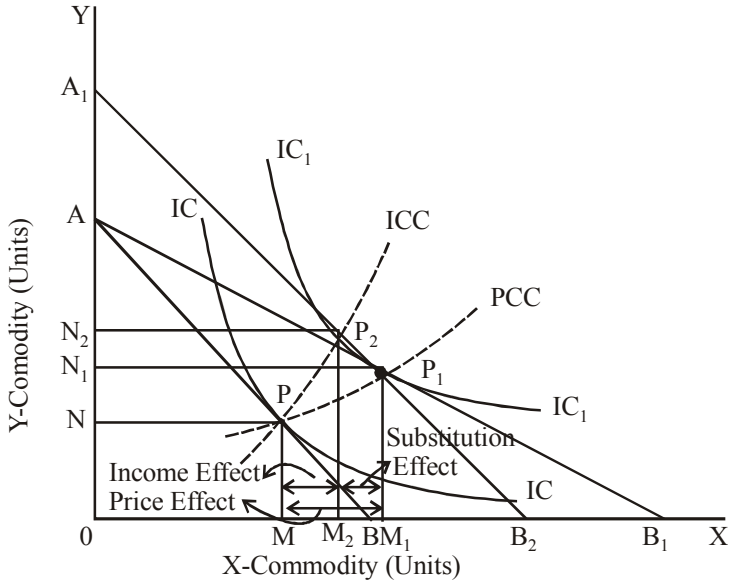
इस प्रकार किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन से उत्पन्न कीमत प्रभाव आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव का योग होता है। किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने के कारण आय-प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव एक साथ उत्पन्न होते हैं। इसलिए किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन से उसकी माँग की मात्रा पर किस प्रकार से प्रभाव पड़ेगा, इसे मालूम करने के लिए कीमत प्रभाव को आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव में पृथक करना आवश्यक हो जाता है। कीमत प्रभाव को आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापनप्रभाव में किस तरह पृथक किया जा सकता है, इसे रेखाचित्र 4.26 के द्वारा समझाया जा सकता है।

रेखाचित्र 4.26 में उपभोक्ता प्रारंभिक दी हुई कीमतों तथा आय पर बिंदु P पर संतुलन प्राप्त करता है वह दोनों वस्तुओं की क्रमशः OM तथा ON मात्रा खरीदता है। वस्तु X की कीमत गिर जाने पर उपभोक्ता की कीमत रेखा AB से बदलकर AB_1 हो जाती है क्योंकि अब वह पूरी आय खर्च करने पर वस्तु Y की पहले जितनी मात्रा (OA), किंतु X की पहले से अधिक (OB) के स्थान पर OB_1 मात्रा खरीद सकता है। अब उपभोक्ता का नया संतुलन बिंदु P_1 पर स्थापित होता है। वह दोनों वस्तुओं की क्रमशः ON_1 तथा OM_1 मात्रा खरीदता है।

वस्तु X की कीमत कम हो जाने से उसकी माँग की मात्रा OM से बढ़कर OM_1 हो गई है। X वस्तु माँग में मात्रा में यह वृद्धि MM_1 या कीमत प्रभाव दो प्रभावों का परिणाम है—आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव। इसलिए यह मालूम करना चाहिए कि माँग में यह वृद्धि कितनी आय प्रभाव के कारण है तथा कितनी प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण। यह मालूम करने के लिए कि इसमें कितनी आय प्रभाव के कारण है तथा कितनी प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण, हम पुरानी कीमत रेखा AB के समांतर काल्पनिक नई कीमत रेखा A_1B_2 खींचें जो नए अनधिमान वक्र IC_1 को भी स्पर्श करती है, तो हमें एक नया संतुलन बिंदु P_2 प्राप्त होता है। कीमत रेखा A_1B_2 पुरानी कीमत रेखा AB से समानांतर है, अतः दोनों वस्तुओं की कीमतों का अनुपात वही है। केवल उपभोक्ता की आय में वृद्धि हुई है जिससे वह X वस्तु की अधिक मात्रा (OM के स्थान पर OM_2) खरीद सकता है। AB_1 कीमत रेखा पर संतुलन बिंदु P_1 तथा परिवर्तित कीमत रेखा A_1B_2 पर संतुलन बिंदु P_2 अनधिमान वक्र IC_2 पर स्थित है। हम यह कह सकते हैं कि यदि वस्तुओं की कीमतें वही रहती, किंतु उपभोक्ता की आय बढ़ जाती है तो उपभोक्ता का संतुलन बिंदु P_2 पर होता तथा उपभोक्ता वस्तु X की OM_2 मात्रा खरीदता। किंतु क्योंकि कीमतें बदल गई हैं, अतः उपभोक्ता का संतुलन नई कीमत रेखा AB_1 के बिंदु के P_1 पर स्थापित होता है जहाँ वह अनधिमान वक्र IC_1 को स्पर्श करती हैं।

इस रेखाचित्र में हम बिंदु P के बिंदु P_2 के स्थान परिवर्तन को ''आय-प्रभाव'' तथा बिंदु P_2 के बिना P_1 से स्थान परिवर्तन को ''प्रतिस्थापन प्रभाव'' कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में आय प्रभाव के परिणामस्वरूप दोनों वस्तुओं का उपभोग बढ़ जाता है, किंतु प्रतिस्थापन प्रभाव वस्तु X के पक्ष में कार्य करता है (क्योंकि वस्तु X की कीमत गिरी है) तथा वस्तु X का उपभोग अधिक बढ़ जाता है, जबकि वस्तु Y का उपभोग कम हो जाता है। वस्तु X की माँग की मात्रा में MM_2 की वृद्धि आय प्रभाव के कारण है तथा M_2M_1 की वृद्धि प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण है।

चित्र : 4.26

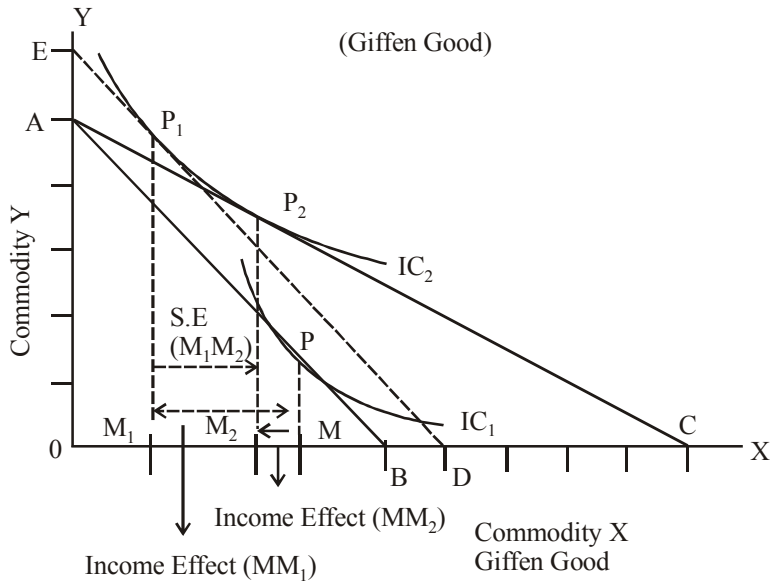


अतः कीमत में परिवर्तन का माँग पर प्रभाव-कीमत प्रभाव (Price effect)—दो प्रकार के प्रभावों का जोड़ है। प्रतिस्थापन प्रभाव और आय प्रभाव। प्रतिस्थापन प्रभाव सदा धनात्मक होता है। उपभोक्ता हमेशा महँगी वस्तु के स्थानपर सस्ती वस्तु का प्रतिस्थापन करना चाहेगा। इसलिए किसी वस्तु की कीमत कम होने पर प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण उसकी माँग की मात्रा में अवश्य वृद्धि होती है। लेकिन आय प्रभाव धनात्मक भी हो सकता है और ऋणात्मक भी। आय प्रभाव धनात्मक होगा या ऋणात्मक, यह वस्तु की प्रकृति पर निर्भर करती है। यदि वस्तु 'सामान्य वस्तु' (Normal Good) है तो इस स्थिति में आय प्रभाव धनात्मक होगा। इसलिए सामान्य वस्तु की स्थिति में उसकी कीमत में कमी होने पर प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव—दोनों ही धनात्मक होने के कारण उसकी माँग की मात्रा अवश्य बढ़ती है। लेकिन यदि वस्तु घटिया (inferior) वस्तु है तो उस स्थिति में आय प्रभाव ऋणात्मक होता है। इसलिए घटिया वस्तु की स्थिति में दोनों प्रभावों का योग (अर्थात् कीमत प्रभाव) क्या होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि ऋणात्मक आय-प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव की तुलना में कम है या अधिक। यदि प्रतिस्थापन प्रभाव अधिक शक्तिशाली है, तो धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव के ऋणात्मक आय-प्रभाव होने पर भी, उससे अधिक होने के कारण दोनों प्रभावों का योग (अर्थात् कीमत प्रभाव) धनात्मक ही होगा और इस स्थिति में भी कीमत कम होने पर वस्तु की माँग बढ़ेगी और माँग रेखा बाएँ से दाएँ नीचे की ओर गिरती हुई होगी। ऐसा उस स्थिति में होता है, जबकि उपभोक्ता अपनी आय का बहुत कम भाग ही घटिया वस्तु पर व्यय करता है। यद्यपि घटिया वस्तु की स्थिति में आय प्रभाव ऋणात्मक होता हैद्व लेकिन ऋणात्मक आय प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव के कम होने के कारण कीमत प्रभाव धनात्मक होगा। इसलिए ऐसी घटिया वस्तु, जिस पर उपभोक्ता अपनी आय का अपेक्षाकृत बहुत ही कम भाग व्यय करता है, की कीमत कम होने पर उसकी माँग की मात्रा बढ़ेगी।

यदि घटिया वस्तु ऐसी है कि उपभोक्ता अपनी आय का अपेक्षाकृत काफी बड़ा भाग व्यय करता है तो ऋणात्मक आय प्रभाव के धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक होने के कारण कीमत प्रभाव ऋणात्मक होगा अर्थात् उस वस्तु की कीमत कम होने से उसकी माँग की मात्रा में कमी तथा कीमत बढ़ने से उसकी माँग की मात्रा में वृद्धि होगी। दूसरे शब्दों में, ऐसी वस्तु की स्थिति में माँग का नियम लागू नहीं होता। माँग वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर गिरती हुई होने के बजाय बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर उठती हुई होगी। ऐसी वस्तु को 'गिफन वस्तु' (Giffen Good) कहा जाता है क्योंकि ऐसी वस्तु के बारे में सर्वप्रथम ब्रिटिश अर्थशास्त्री रोबर्ट गिफन (Robert Giffen) ने बताया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'घटिया वस्तु' तथा 'गिफन वस्तु' में अंतर है। यद्यपि 'गिफन वस्तु' आवश्यक रूप से घटिया वस्तु होती है लेकिन सब घटिया वस्तुएँ 'गिफन वस्तुएँ' नहीं होती हैं। 'गिफन वस्तु' का तात्पर्य किसी ऐसी घटिया वस्तु से है जिस पर उपभोक्ता अपनी कुल आय का अपेक्षाकृत काफी बड़ा भाग (a large proportion of income) व्यय करता है, जिससे ऋणात्मक आय प्रभाव के धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक होने के कारण कीमत प्रभाव ऋणात्मक होता है। दूसरे शब्दों में, 'गिफन वस्तु' की कीमत कम होने से उसकी माँग की मात्रा में कमी तथा कीमत बढ़ने से उसकी माँग की मात्रा में वृद्धि होती है। इसे रेखाचित्र 4.27 के द्वारा समझाया जा सकता है।

मान लें कि X वस्तु 'गिफन वस्तु' है, जिसे X-अक्ष पर दिखाया गया है। उपभोक्ता की दी हुई आय तथा वस्तुओं की दी हुई कीमतों के आधार पर खींची गई कीमत रेखा AB अनधिमान वक्र IC_1 को बिंदु P पर स्पर्श करती है। संतुलन बिंदु P पर उपभोक्ता गिफन वस्तु X-की OM मात्रा खरीदता है। मान लें कि गिफन वस्तु X की कीमत कम हो जाती है और उपभोक्ता की कीमत रेखा खिसककर AC हो जाती है। जो कि अनधिमान वक्र IC_2 को P_2 पर स्पर्श करती है। उपभोक्ता के संतुलन के इस नए बिंदु P_2 उपभोक्ता X वस्तु की OM_2 मात्रा खरीदता है। इस प्रकार X वस्तु (गिफन वस्तु) की कीमत कम होने से उसकी माँग की मात्रा OM से घटकर OM_2 हो गई है। दूसरे शब्दों में, इस गिफन वस्तु की माँग की मात्रा में MM_2 की कमी आ गई है। यह ऋणात्मक कीमत-प्रभाव को व्यक्त करती है। यह कीमत-प्रभाव दो प्रभावों—आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव का योग है। यह मालूम करने के लिए कि इसमें से कितनी कमी ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण हुई है, हम एक काल्पनिक कीमत रेखा ED खींचते हैं जो कि पुरानी कीमत रेखा AB के समांतर होती है। कीमत रेखा ED अनधिमान वक्र IC_2 को P_1 पर स्पर्श करती है, जहाँ पर उपभोक्ता X वस्तु की OM_1 यात्रा खरीदता है। X वस्तु की मात्रा में MM_1 कमी ऋणातमक आय प्रभाव को व्यक्त करती है। लेकिन वस्तु की कीमत कम होने से उपभोक्ता का संतुलन बिंदु P_2 है, जहाँ पर उपभोक्ता X वस्तु की OM_2 मात्रा खरीदता है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु की M_1M_2 मात्रा में वृद्धि धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण हुई है। लेकिन ऋणात्मक आय प्रभाव MM_1 धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव M_1M_2 से अधिक है, इसलिए ऋणात्मक कीमत प्रभाव MM_2 होगा। दूसरे शब्दों में X वस्तु जो कि एक गिफन वस्तु है, की कीमत में कमी होने से उसकी मँग की मात्रा में MM_2 की कमी आ गई है।

चित्र : 4.27



इस प्रकार यदि कोई वस्तु, गिफन वस्तु है, तो उसकी कीमत में कमी आने से उसकी माँग की मात्रा में कमी तथा कीमत बढ़ने से उसकी माँग की मात्रा में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में गिफन वस्तु की स्थिति में किसी वस्तु की कीमत और उसकी माँग की मात्रा में प्रत्यक्ष (Direct) संबंध होता है अर्थात् उसकी कीमत तथा माँग की मात्रा में एक ही दिशा में परिवर्तन होता है। इसका तात्पर्य है कि गिफन वस्तु की स्थिति में माँग का नियम लागू नहीं होता। गिफन वस्तु की माँग वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर उठती हुई होती है। अतः गिफन वस्तु माँग के नियम का अपवाद है। इस स्थिति को 'गिफन का विरोधाभास'' (Giffen's paradox) से ही जाना जाता है।

संक्षेप में किसी वस्तु की कीमत कम होने पर उसकी माँग पर पड़ने वाला प्रभाव निम्नलिखित होगा :

(i) घटिया वस्तु को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं की कीमत कम होने पर उसकी मँग की मात्रा में वृद्धि होगी क्योंकि आय तथा प्रतिस्थापन प्रभाव, दोनों ही धनात्मक होते हैं, जिससे उसकी माँग बढ़ी है।

(ii) घटिया वस्तु की स्थिति में भी, यदि घटिया वस्तु ऐसी है, जिस पर उपभोक्ता अपनी आय का अपेक्षाकृत बहुत ही कम भाग व्यय करता है, कि ऋणात्मक आय प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव में कम होता है, तो कीमत प्रभाव धनात्मक होगा, अर्थात् घटिया वस्तु की कीमत कम होने पर उसकी माँग की मात्रा में वृद्धि होगी।

(iii) सिर्फ गिफन वस्तु की स्थिति में ही अर्थात् ऐसी घटिया वस्तु जिस पर उपभोक्ता अपनी आय का अपेक्षाकृत काफी बड़ा भाग व्यय करता है, जिससे कि ऋणात्मक आय प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक होता है, वस्तु की कीमत कम होने पर माँग की मात्रा में भी कमी आती है। दूसरे शब्दों में सिर्फ गिफन वस्तु की स्थिति में ही माँग का नियम लागू नहीं होता।

माँग वक्र का व्युत्पन्न (निकालना) (Derivation of Demand Curve) :

अनधिमान विश्लेषण की सहायता से भी माँग वक्र का व्युत्पन्न (Drivation) किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कीमत उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) से माँग वक्र खींची जा सकती है।

मार्शल के माँग वक्र व हिक्स द्वारा प्रतिपादित कीमत उपभोग वक्र में क्या अंतर हैं? परंपरागत माँग वक्र हमें यह बताती है कि उपभोक्ता किसी वस्तु की विभिन्न कीमतों पर कितनी माँग करेगा। कीमत उपभोग वक्र भी वही बात बताती है कि कीमत में परिवर्तन के कारण माँग में क्या परिवर्तन होता है। दोनों वक्र निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित हैं–

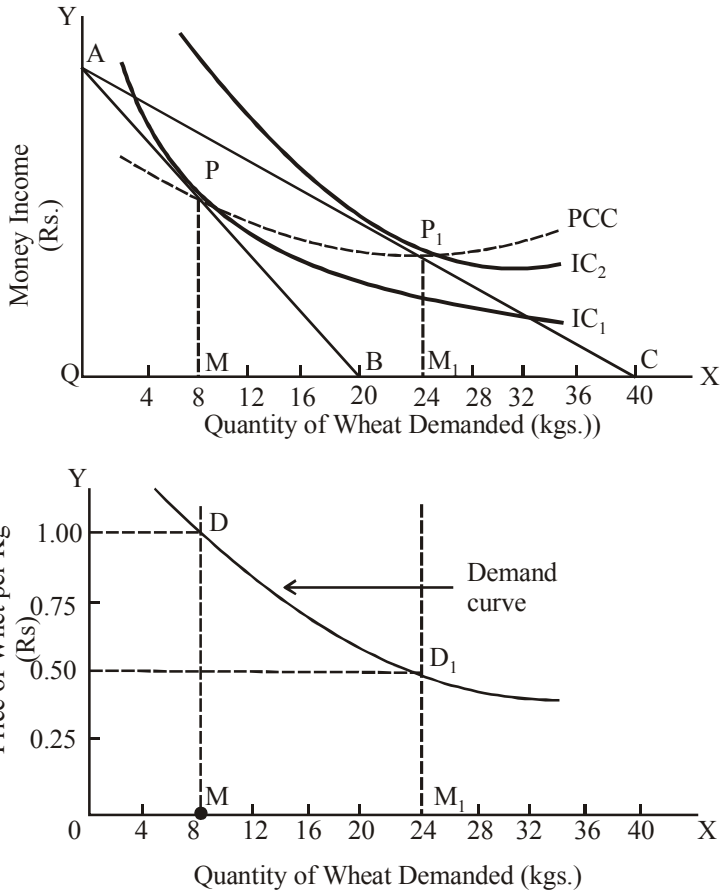
(i) उपभोक्ताओं की प्राथमिकता आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(ii) उपभोक्ता की मौद्रिक आय स्थिर रहती है।

(iii) केवल एक वस्तु की कीमत कम होती है।

(iv) अन्य वस्तुओं की कीमतें स्थिर रहती हैं।

इन मान्यताओं के अंतर्गत सामान्यतया उपभोक्ता कम कीमत पर अधिक माँग व अधिक कीमत पर कम माँग करता है। लेकिन इन दोनों वक्रों के आकार में अंतर है। इसका कारण यह है कि ये अलग-अलग तरीकों से खींची गई हैं। परंपरागत माँग वक्र (Traditional demand curve) खींचने के लिए हम X अक्ष पर माँग की मात्रा व Y अक्ष पर कीमत दिखाते हैं। कीमत उपभोग वक्र खींचने के लिए हम X अक्ष पर एक वस्तु की माँग की मात्रा तथा Y अक्ष पर मौद्रिक आय दिखाते हैं।



माँग वक्र कीमत व माँग की मात्रा के संबंध को प्रत्यक्ष रूप से दिखाती है जब कि कीमत उपभोग वक्र वस्तु की कीमत को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाती। बजट रेखा या कीमत रेखा का ढलान कीमतों के अनुपात को दिखाती है। कीमत उपभोग वक्र से हमें यह पता नहीं चलता कि विभिन्न कीमतों पर माँग की मात्रा कितनी होगी।

परंपरागत माँग वक्र कीमत प्रभाव दिखाती है। यह आय प्रभाव व प्रतिस्थापन प्रभाव को अलग-अलग नहीं दिखा सकता। लेकिन कीमत-उपभोग वक्र इन दोनों प्रभावों को अलग-अलग दिखाती है।

दोनों की तुलना करने से यह पता लगता है कि प्रत्येक में अपने गुण हैं। माँग वक्र प्रत्यक्ष रूप में कीमत के माँग से संबंध को स्थापित करती है जबकि कीमत-उपभोग वक्र आय प्रभाव व प्रतिस्थापित प्रभाव को अलग-अलग दिखाती है। कीमत-उपभोग वक्र से माँग वक्र खींची जा सकती है। यह रेखाचित्र 4.28 में दिखाया गया है। रेखाचित्र के ऊपरी भाग में कीमत-उपभोग वक्र खींची गई है और निचले भाग में माँग वक्र।

रेखाचित्र के ऊपरी भाग में X अक्ष पर X वस्तु की माँग की मात्रा तथा Y अक्ष पर उपभोक्ता की मौद्रिक आय को दिखाया गया है। मान लें कि उपभोक्ता की आय OA (20 रुपये) हैं जो कि स्थिर रहती है। मान लो कि X वस्तु की प्रति इकाई कीमत 1 रुपया है। उपभोक्ता यदि अपनी आय को X वस्तु पर व्यय करता है तो वह उसकी OB या 20 इकाइयाँ खरीद सकता है। अतः उपभोक्ता की कीमत रेखा AB होगी। कीमत रेखा अनधिमान वक्र IC_1 को P बिंदु पर स्पर्श करती है। अतः यह उपभोक्ता का संतुलन बिंदु होगा। वह X वस्तु की OM (या 8 इकाइयाँ) खरीदता है। मान लें कि X वस्तु की कीमत 1 रुपये से कम होकर 0.50 पैसे प्रति इकाई हो जाती है। उपभोक्ता अब यदि अपनी सारी आय की X वस्तु पर खर्च करता है तो वह उसकी OC मात्रा (40 इकाइयाँ) खरीद सकता है। अतः उपभोक्ता की नई कीमत रेखा AC होगी जो कि अनधिमान वक्र IC_2 को P_1 पर स्पश्न करती है। अतः उपभोक्ता का संतुलन बिंदु P_1 होगा जहाँ वह X वस्तु की OM_1 मात्रा (24 इकाइयाँ) खरीदता है। X वस्तु की विभिन्न कीमतों पर संतुलन बिंदु P तथा P_1 को मिलाने पर कीमत उपभोग वक्र (PCC) बन जाता है। कीमत उपभोग वक्र (PCC) यह बताता है कि अन्य बातें समान रहने पर X वस्तु की कीमत 1 रुपये (OA/OB) तथा 0.50 पैसे (OA/OC) होने पर उसकी माँग की मात्रा क्रमशः 8 इकाइयाँ (OM) तथा 24 इकाइयाँ (OM_1) होगी। इसी जानकारी को रेखाचित्र के निचले भाग में चित्र द्वारा प्रस्तुत करके माँग वक्र मालूम किया जा सकता है। रेखाचित्र के निचले भाग में X-अक्ष पर X-वस्तु की माँग की मात्रा तथा Y-अक्ष पर X-वस्तु की प्रति इकाई कीमत दिखाई गई है। इसमें D तथा D_1 बिंदु X-वस्तु की कीमत के क्रमशः 1 रुपया तथा 0.50 पैसे प्रति इकाई होने पर उसकी माँग की मात्रा क्रमशः OM (8 इकाइयाँ) तथा OM_1 (24 इकाइयों) को व्यक्त करते हैं। D तथा D_1 को मिलाने पर एक वक्र DD_1 बन जाता है, जिसे माँग वक्र कहते हैं। यह माँग वक्र अन्य बातें यथा समान रहने पर, X-वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उसकी माँग की मात्रायें व्यक्त करता

है। इस प्रकार अनधिमान वक्र विश्लेषण या कीमत उपभोग वक्र की सहायता से उपभोक्ता की किसी वस्तु की माँग वक्र का व्युत्पन्न किया जा सकता है।

अनधिमान वक्र विश्लेषण का मूल्यांकन : अनधिमान वक्र विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण से श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि वह उपयोगिता विश्लेषण की कमियों को दूर करता है।

प्रथम, अनधिमान वक्र विश्लेषण में उपयोगिता की मात्रात्मक धारणा को छोड़कर क्रमवाचक धारणा का प्रयोगकिया गया है। इसमें यह नहीं मापना पड़ता कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को कितनी मात्रा में संतुष्टि प्राप्त होती है। अनधिमान वक्र में सिर्फ यह जानना पड़ता है कि उपभोक्ता को विभिन्न वस्तुओं का कौन-सा समूह अधिक संतुष्टि देता है और कौन-सा कम और कौन-से समूह उसे समान संतुष्टि देते हैं। इसलिए अनधिमान वक्र में उपभोक्ता के संतुलन को ज्ञात करने के लिए उपयोगिता को मापने की जरूरत नहीं है।

द्वितीय, उपयोगिता विश्लेषण आपस में संबंधित वस्तुओं, जैसे पूरक (complements) तथा स्थानापन्न (substitutes) वस्तुओं से निपटने की क्षमता नहीं रखता, लेकिन अनधिमान वक्र विश्लेषण की सहायता से हम पूरक और स्थानापन्न दोनों प्रकार की वस्तुओं पर विचार कर सकते हैं।

तृतीय, उपयोगिता विश्लेषण चूँकि मुद्रा की स्थिर सीमांत उपयोगिता मानता है, इसलिए आय प्रभाव का विश्लेषण नहीं कर सकती है। लेकिन अनधिमान वक्र विश्लेषण द्वारा हम आय तथा प्रतिस्थानापन्न प्रभाव को स्पष्टतया मालूम कर सकते हैं।

अनधिमान वक्र विश्लेषण की परिसीमाएं :

इस विश्लेषण की दो महत्त्वपूर्ण परिसीमाएं (Limitations) हैं–

(i) इसमें यह मान्यता की गई है कि उपभोक्ता अपनी प्राथमिकता अनुसूची की जानकारी रखता है। उसे प्रतिस्थापन दर, विभिन्न सम्मिश्रणों के बारे में अपनी प्राथमिकता के क्रम आदि की पूर्ण जानकारी है। एक उपभोक्ता संभवत; यह तो जान सकता है कि 3 कप कॉफी और 16 सिगरेट से उतनी ही संतुष्टि मिलती है जितनी 20 सिगरेट व 2 कप कॉफी से। लेकिन यह दो वस्तओं की सभी संभव सम्मिश्रणों की वांछनीयता की तुलना नहीं कर सकता। 10 कप कॉफी व 5 सिगरेट तथा 6 कप कॉफी व 8 सिगरेट दोनों में कौन-सा सम्मिश्रण अधिक वांछनीय है, यह बताना मुश्किल है। अतः यह मान्यता है कि उपभोक्ता को किन्हीं दो वस्तुओं के सारे सम्मिश्रणों के संबंध में जानकारी है, उचित नहीं है।

(ii) उदासीनता वक्र विश्लेषण केवल दो वस्तुओं के संदर्भ में उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन करता है। व्यवहार में ऐसी स्थिति का खास महत्त्व नहीं है क्योंकि उपभोक्ता दो से अधिक वस्तुओं का उपभोग करता है। यदि उपभोक्ता 3 वस्तुओं को खरीदता है तो त्रिविम रेखाचित्र (Three Dimensional Diagram) इस्तेमाल करना पड़ेगा। इससे यह अध्ययन अत्यंत जटिल बन जाता है। तीन से अधिक वस्तुओं के लिए हम ज्योमेट्री का प्रयोग नहीं कर सकते तथा उसके लिए जटिल बीजगणितीय (Algebra) विधि का प्रयोग करना पड़ता है जो कि काफी मुश्किल है। इसके अतिरिक्त यह विश्लेषण केवल ऐसी वस्तुओं के लिए उपयुक्त है जिनका प्रतिस्थापन संभव है। पूरक वस्तुओं (complementary goods) के लिए यह विश्लेषण अनुपयुक्त है।

इन परिसीमाओं के बावजूद यह विश्लेषण काफी लोकप्रिय बन गया है। यह लोकप्रियता केवल माँग के सिद्धांत में ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व उत्पादन सिद्धांत में भी बढ़ी है।

भाग I
माँग की लोच
प्रभाग I

भूमिका

हम इस बात का विवेचन पहले की विस्तारपूर्वक कर चुके हैं कि किसी वस्तु की माँग उसकी अपनी कीमत, दूसरी संबद्ध वस्तुओं की कीमतों, उपभोक्ताओं की आय, उनकी रुचियों तथा अधिमानों, विज्ञापन, कीमतों में भावी उतार-चढ़ावोंके बारे में लोगों की प्रत्याशाओं और बहुत से अन्य कारकों पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, माँग का नियम हमें यह बताता है कि अन्य सभी बातें समान रहते हुए, सामान्यतया जब किसी वस्तु की कीमत गिरती है तो उसकी मांगी गई मात्रा में वृद्धि होती है और जब उसकी कीमत बढ़ती है तो मांगी गई मात्रा में कमी होती है। इसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि जब उपभोक्ताओं की आय या अन्य वस्तुओं की कीमतों में कोई परिवर्तन होता है तो विभिन्न वस्तुओं की माँग किस प्रकार प्रभावित होती है। आप जानते हैं कि तापमान में परिवर्तन का बर्फ की माँग पर क्या प्रभाव होता है। ये नियम या प्रवृत्तियाँ हमें केवल यह बताती हैं कि कुछ कारकों में परिवर्तन के कारण विभिन्न वस्तुओं की मांगी गई मात्राओं में किस दिशा में परिवर्तन होगा, परंतु यह नहीं बताती कि परिवर्तन कितना होगा।

लोच की अवधारणा

विश्लेषणात्मक तथा प्रयोगात्मक उद्देश्यों के लिए कई बार किसी वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले कारकों के प्रति माँग की संवेदनशीलता की मात्रा, या किसी एक कारक की तुलना में किसी अन्य कारक के प्रति माँग की संवेदनशीलता, या फिर किसी एक ही कारक के प्रति विभिन्न वस्तुओं की माँग की सापेक्ष संवेदनशीलता का जानना आवश्यक हो जाता है। माँग लोच की अवधारणा उन कारकों के प्रति माँग की संवेदनशीलता के नापने की एक युक्ति है जो माँग को प्रभावित करती है।

सिद्धांततः, माँग लोच की अवधारणा की सहायता से ऐसे किसी भी कारक में परिवर्तन के प्रति मांगी गई मात्रा की संवेदनशीलता को नापना संभव होना चाहिए जो माँग को प्रभावित करता है। यद्यपि विभिन्न वस्तुओं की माँग को प्रभावित करने वाले कारकों में से कुछ का परिमाण नापा जा सकता है और इसलिए उनमें परिवर्तनों के प्रति माँग की संवेदनशीलता को भी नापना संभव है, परंतु कुछ अन्य परिमाण को नापा नहीं जा सकता और इसीलिए ऐसे कारकों के प्रति माँग की संवेदनशीलता को नापना संभव नहीं होता। सामान्यतः माँग लोच की अवधारणा का प्रयोग (1) वस्तुओं की अपनी कीमतों, (2) अन्य वस्तुओं की कीमतों और (3) उपभोक्ताओं की आय में परिवर्तनों के प्रति माँग की संवेदनशीलता को नापने के लिए किया जाता है। किसी वस्तु की अपनी कीमत में परिवर्तनों के प्रति उसकी माँग की संवेदनशीलता के माप को माँग की कीमत लोच' कहते हैं। उपभोक्ताओं की आय में परिवर्तनों के प्रति किसी वस्तु की माँग की संवेदनशीलता के माप को माँग की 'आय लोच', कहा जाता है और किसी अन्य वस्तु की कीमत में परिवर्तनों के प्रति एक वस्तु की माँग की संवेदनशीलता के माप को 'आड़ी लोच' का नाम दिया जाता है।

खंड II

माँग लोच नापने की समस्या

जब हम माँग लोच नापने के विषय में सोचते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि इसे कीमत और मांगी हुई मात्रा में हुए निरपेक्ष परिवर्तनों (Absolute changes) के रूप में नापा जा सकता है। परंतु समस्या की प्रकृति से ही स्पष्ट है कि हम माँग की संवेदनशीलता को कीमत तथा मांगी गई मात्रा के निरपेक्ष परिवर्तनों के माध्यम से नहीं नाप सकते। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि कीमत में एक रुपयों की कमी के कारण चावल की मांगी गई मात्रा में 1000 क्विंटल की वृद्धि होती है। परंतु नाप की इकाइयाँ भिन्न हैं (कीमत रुपये में नापी जाती है जबकि चावल क्विंटल में) और इसलिए कीमत में एक रुपया परिवर्तन का 1000 क्विंटल के परिवर्तन से तुलना करने का कोई आधार नहीं है। इन आंकड़ों के आधार पर यह नहीं कह सकते कि मांगी गई मात्रा में परिवर्तन कीमत के परिवर्तन की तुलना में कम है या समान है या अधिक है। और जब, दो या अधिक वस्तुओं की माँग की संवेदनशीलता की तुलना करने का प्रश्न होता है तो उनकी कीमतों या मात्राओं के समान निरपेक्ष परिवर्तन जितना स्पष्ट करते हैं उससे कहीं अधिक छिपा लेते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि गेहूँ और रेडियो की कीमतों में 5 रुपये की कमी के कारण, गेहूँ की माँग में 1000 क्विंटल का और रेडियो की मांग में 500 का विस्तार होता है। एक क्विंटल गेहूँ और एक रेडियो के अतुलनीय होने के प्रश्न को छेड़ भी दें, कीमतों और मात्राओं के निरपेक्ष परिवर्तनों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रवृत्त होते हैं कि रेडियो की तुलना में गेहूँ की माँग अधिक

लोचदार है। परंतु दोनों वस्तुओं की कीमतों में 5 रु. का परिवर्तन उपभोक्ता के लिए समान महत्त्व नहीं रखता। मान लीजिए गेहूँ की पुरानी कीमत 100 रु. प्रति क्विंटल थी और रेडियो की कीमत 500 रु. प्रति सैट थी। निश्चित रूप से, 100 रु. में 5 रु. की कमी 500 रु. में समान कमी से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि गेहूँ की कीमत में 5 प्रतिशत की कमी हुई है जबकि रेडियो की कीमत में केवल एक प्रतिशत की कमी हुई है। इसी प्रकार मात्रा में हुआ एक परिवर्तन महत्त्वहीन परिवर्तन हो सकता है यदि आरंभिक मांगी गई मात्रा एक काफी बड़ी मात्रा हो, और यही परिवर्तन महत्त्वपूर्ण होगा यदि आरंभिक मांगी गई मात्रा एक छोटी मात्रा हो। मान लीजिए, उपरोक्त उदाहरण के अनुसार, कीमत में कमी के कारण गेहूँ की माँग में 1000,000 क्विंटल में 1010,000 क्विंटल और रेडियो की माँग में 10,000 से 10, 50 इकाई का विस्तार हुआ। इसका अर्थ है कि गेहूँ की माँग में एक प्रतिशत विस्तार हुआ जबकि रेडियो की माँग में 5 प्रतिशत विस्तार हुआ। कीमतों तथा मांगी गई मात्राओं के प्रतिशत परिवर्तनों की तुलना करने से पता चलता है कि गेहूं की कीमत में 5 प्रतिशत कमी होने पर उसकी माँग में केवल 1 प्रतिशत विस्तार हुआ जबकि रेडियो की कीमत में 1 प्रतिशत की कमी है। उसकी माँग में 5 प्रतिशत विस्तार हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि रेडियो की माँग गेहूँ की माँग से बहुत अधिक लोचदार है। कीमतों तथा मात्राओं के निरपेक्ष परिवर्तनों की तुलना के आधार पर हम एक बहुत गलत परिणाम पर पहुँचे थे। **इसीलिए माँग लोच को सदा कीमत और मांगी गई मात्रा के सापेक्ष (अर्थात् प्रतिशत या आनुपातिक) परिवर्तनों के माध्यम से नापा जाता है। प्रतिशत या आनुपातिक परिवर्तन नाप की इकाई से स्वतंत्र होते हैं।** केवल कीमत और मांगी गई मात्रा के प्रतिशत परिवर्तन की तुलना करके ही हम यह कह सकते हैं कि माँग का प्रतिशत परिवर्तन कीमत के प्रतिशत परिवर्तन की तुलना में अधिक है, समान है या कम है। उपरोक्त कठिनाइयों के कारण, लोच कभी भी निरपेक्ष परिवर्तन के रूप में नहीं नापी जाती। इसे सदा कीमत तथा मात्रा के सापेक्ष परिवर्तनों (Relative change) के माध्यम से ही नापा जाता है। माँग लोच के सभी मापों का उद्देश्य यह निश्चित करना होता है कि कीमत के सापेक्ष परिवर्तन की तुलना में मांगी गई मात्रा का सापेक्ष परिवर्तन अधिक है, समान है, या कम है।

खंड III

मांग लोच नापने की विधियाँ

I

मांग लोच की गुणात्मक मांग

यदि माँग लोच नापने का उद्देश्य लोच का गुणात्मक या मोटा अनुमान ही लगाना है तो हमारे पास प्रतिशत परिवर्तन के दो विभिन्न माप हैं। **(I) कीमत और मात्रा के सापेक्ष परिवर्तनों की तुलना :** कीमत तथा मांगी गई मात्रा के सापेक्ष परिवर्तनों की तुलना के आधार पर हम मांग लोच के बारे में निम्नलिखित वक्तव्य दे सकते हैं।

1. यदि मांगी गई मात्रा का सापेक्ष परिवर्तन कीमत के सापेक्ष परिवर्तन से अधिक है तो लोच का मूल्य इकाई से अधिक कहा जाता है या मांग को 'लोचदार' कहा जाता है।

2. यदि मांगी गई मात्रा का सापेक्ष परिवर्तन कीमत के सापेक्ष परिवर्तन के बराबर है तो लोच का मूल्य इकाई माना जाता है।

3. यदि मांगी गई मात्रा का सापेक्ष परिवर्तन कीमत के सापेक्ष परिवर्तन से कम है तो लोच का मूल्य इकाई से कम माना जाता है या मांग को कम लोचदार या बेलोचदार कहा जाता है।

4. उस स्थिति में जबकि कीमत में परिवर्तन के कारण मांगी गई मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता तो लोच शून्य के बराबर कही जाती है या मांग को 'पूर्णतया बेलोच' कहा जाता है।

5. दूसरी ओर, जब कीमत में एक छोटे से परिवर्तन के कारण मांगी गई मात्रा में असीम परिवर्तन होता है तो लोच का मूल्य अनंत माना जाता है/या मांग को 'पूर्णतया लोचदार' कहा जाता है।

(II) कुल व्यय विधि : उपरोक्त विधि का एक दूसरा विकल्प है : कीमत परिवर्तन के पश्चात् वस्तु पर उपभोक्ताओं द्वारा किए जाने वाले कुल व्यय की, कीमत परिवर्तन से पहले वाले कुल व्यय से तुलना करके, लोच के बारे में उपरोक्त प्रकार के वक्तव्य देना इस विकल्प के पीछे एक साधारण तर्क है। जब कीमत में परिवर्तन के कारण एक वस्तु की मांगी गई मात्रा में परिवर्तन होता है तो इसके फलस्वरूप उस वस्तु पर उपभोक्ताओं द्वारा किए जाने वाले कुल व्यय में भी परिवर्तन होने की प्रवृत्ति होती है। यदि मांगी गई मात्रा में हुआ सापेक्ष परिवर्तन कीमत के सापेक्ष परिवर्तन से अधिक है तो सामान्यतः कीमत में कमी की स्थिति में वस्तु पर होने वाला

कुल व्यय पहले से अधिक और कीमत में वृद्धि की दशा में नया व्यय पुराने व्यय से कम होगा। दूसरी ओर, यदि मांगी गई मात्रा का सापेक्ष परिवर्तन कीमत के सापेक्ष परिवर्तन से कम है तो सामान्यतः वस्तु पर होने वाला उपभोक्ताओं का कुल व्यय कीमत में कमी की स्थिति में पहले से कम और कीमत में वृद्धि की हालत में पहले से अधिक होगा। और जब मांगी गई मात्रा का सापेक्ष परिवर्तन कीमत के सापेक्ष परिवर्तन के समान होता है तो कुल व्यय स्थिर रहता है। इस साधारण गणितीय गुण के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने प्रतिशत विधि का यह विकल्प बनाया है जिसे 'कुल व्यय विधि' कहा जाता है। कुल व्यय विधि के अनुसार, मांगी गई मात्रा के सापेक्ष परिवर्तन की कीमत के सापेक्ष परिवर्तन से तुलना करने की बजाय हम कीमत परिवर्तन के पश्चात् उपभोक्ताओं द्वारा की जाने वाले कुल व्यय की तुलना, कीमत परिवर्तन से पहले वाले कुल व्यय से करते हैं और मांग लोच के बारे में निम्न प्रकार के गुणात्मक अनुमान लगाते हैं।

1. यदि कीमत परिवर्तन के पश्चात् वस्तु पर होने वाला कुल व्यय (नई कीमत × नई मात्रा) आरंभिक कुल व्यय (पुरानी कीमत × पुरानी मात्रा) से कीमत में कमी की स्थिति में अधिक और कीमत में वृद्धि की स्थिति में कम है, अर्थात् उपभोक्ता के कुल व्यय में परिवर्तन कीमत परिवर्तन की विपरीत दिशा में होता है, तो मांग लोच को इकाई से अधिक या मांग को लोचदार कहा जाता है।

2. यदि कीमत परिवर्तन के पश्चात् भी कुल व्यय पहले जितना रहता है तो लोच का मूल्य इकाई के बराबर माना जाता है।

3. यदि कीमत परिवर्तन के पश्चात् होने वाला कुल व्यय कीमत में कमी की स्थिति में पहले व्यय से कम तथा कीमत में वृद्धि की स्थिति में पहले व्यय से अधिक हो, अर्थात् उपभोक्ता के कुल व्यय में परिवर्तन उसी दिशा में होता है, जिस दिशा में कीमत में परिवर्तन होता है, तो मांग लोच के मूल्य को इकाई से कम या मांग को बेलोच कहा जाता है।

कुल व्यय विधि की व्याख्या अब हम एक साधारण उदाहरण की सहायता से करते हैं। मान लीजिए जब किसी वस्तु की कीमत गिरती है तो वस्तु पर उपभोक्ताओं के कुल व्यय में निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं।

कीमत (रुपए)	मांगी गई मात्रा (इकाइयाँ)	कुल व्यय (रुपये)	लोच का मूल्य
9	13	117	$=>1$
8	15	120	$=1$
6	20	120	$=<1$
5	23	115	

जब कीमत के 9 रु. से गिरकर 8 रु. हो जाने के कारण वस्तु पर कुल व्यय 117 रु. से बढ़ कर 120 रु. हो जाता है तो लोच का मूल्य इकाई से अधिक माना जाता है। दूसरी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जब कीमत के 8 रु. से बढ़कर 9 रु. हो जाने के कारण कुल व्यय 120 रु. की बजाय 117 रु. हो जाता है तो लोच का मूल्य इकाई से अधिक माना जाता है।

जब कीमत परिवर्तन (कीमत में वृद्धि या कमी दोनों ही स्थितियों में) के पश्चात् भी कुल व्यय 120 रु. पर ही स्थिर रहता है तो लोच का मूल्य इकाई से कम माना जाता है।

जब कीमत के 6 रु. से गिर कर 5 रु. हो जाने के कारण वस्तु पर कुल व्यय 120 रु. की बजाय 115 रु. हो जाता है तो लोच का मूल्य इकाई से कम माना जाता हे। कीमत में वृद्धि की स्थिति में हम कहेंगे कि जब कीमत के 5 रु. से बढ़कर 6 रु. हो जाने के कारण कुल व्यय 115 रु. की बजाय 120 रु. होता है, तो लोच इकाई से कम मानी जाती है।

यह बात ध्यानपूर्वक नोट की जानी चाहिए कि उपरोक्त विधियाँ केवल यह जानने में हमारी सहायता करती हैं कि लोच का मूल्य इकाई से अधिक है, समान है या इकाई से कम है। ये विधियाँ हमें लोच का सही मूल्य नहीं बतातीं। नीचे वर्णित दो विधियों की सहायता से लोच का सही माप मालूम किया जाता है।

II

मांग लोच के मात्रात्मक माप

1. प्रतिशत (या आनुपातिक) पपरिवर्तन विधि :

इस विधि के अनुसार लोच का सही मात्रात्मक मूल्य मालूम करने के लिए मांगी गई मात्रा के सापेक्ष परिवर्तन को कीमत के सापेक्ष परिवर्तन से भाग दिया जाता है। अतः लोच का मूल्य $= \frac{\text{मांगी गई मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$

$$= \frac{\frac{\text{मांगी की मात्रा में परिवर्तन}}{\text{प्रारंभिक मांग की मात्रा}} \times 100}{\frac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{प्रारंभिक कीमत}} \times 100}$$

उदाहरण के लिए, मान लीजिए किसी वस्तु की कीमत जब 20 रु. से 19 रु. प्रति इकाई होती है, तो मांगी गई मात्रा 1000 से बढ़कर 1100 इकाई हो जाती है। इस उदाहरण में कीमत में सापेक्ष परिवर्तन 5 प्रतिशत है $(1/20 \times 100 = 5)$ और मांगी गई मात्रा में सापेक्ष परिवर्तन 10 प्रतिशत है $(100/1000 \times 100 = 10)$। इस लिए इस स्थिति में लोच का मूल्य $10\% \div 5\% = 2$ होगा।

सांकेतिक रूप में, यदि हम लोच को e से, आरंभिक कीमत और मांगी गई मात्रा को क्रमशः P और Q से तथा मांगी गई मात्रा और कीमत के निरपेक्ष परिवर्तनों को क्रमशः ΔQ और ΔP से व्यक्त करें तो उपरोक्त सूत्र को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

$$e = \frac{(\Delta Q/Q) \times 100}{(\Delta P/P) \times 100} = \frac{\Delta Q/Q}{\Delta P/P}$$

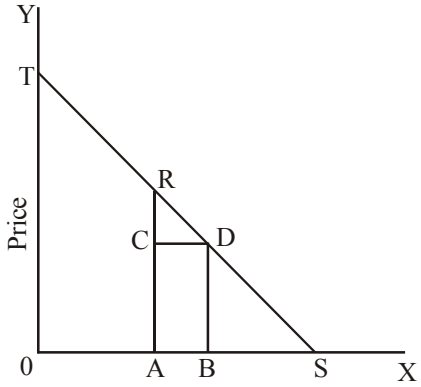
$$= \frac{\Delta Q}{Q} \times \frac{P}{\Delta P/P}$$

$$= \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q}$$

2. लोच मापने की ग्राफीय विधि :

वास्तव में यह विधि ऊपर वर्णित 'प्रतिशत परिवर्तन विधि' का केवल एक ग्राफीय रूपांतर है। मांग वक्र मांग सूची का ग्राफीय चित्रण ही होता है। इसलिए दोनों विधियों की सहायता से प्राप्त परिणाम निश्चय ही समान होंगे। यह समझाने के लिए कि एक मांग वक्र की सहायता से लोच का मूल्य कैसे ज्ञात किया जाता है, नीचे रेखाचित्र 5.1 में एक मांग वक्र खींचा गया है।

चित्र : 5.1



रेखाचित्र 5.1 के अनुसार, जब वस्तु की कीमत AR से गिरकर BD होती है तो मांगी गई मात्रा OA से बढ़कर OB हो जाती है। इस प्रकार मांगी गई मात्रा में निरपेक्ष परिवर्तन (ΔQ) AB (या CD) के बराबर है और कीमत में निरपेक्ष परिवर्तन (ΔP) CR के बराबर है जबकि आरंभिक मांगी गई मात्रा (Q) QA और आरंभिक कीमत (P) AR है।

उपरोक्त सूत्र के अनुसार $e = \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q}$ रेखाचित्र 5.1 के अनुसार

$$e = \frac{AB}{CR} \times \frac{AR}{OA}$$

$= \frac{CD}{CR} \times \frac{AR}{OA}$ (क्योंकि AB = CD)

$= \frac{AS}{AR} \times \frac{AR}{OA}$ (क्योंकि RCD और RAS दो समरूप त्रिकोण हैं, इसलिए $\frac{CD}{CR} = \frac{AS}{AR}$) $= \frac{AS}{OA}$

$= \frac{RS}{TR}$ (क्योंकि AR और OT समानांतर हैं, इसलिए AR, OS तथा TS को एक ही अनुपात में विभाजित करता है। इस बात को ध्यानपूर्वक नोट कीजिए कि भिन्न RS/TR में RS सीधी रेखा मांग वक्र (जो कि दोनों अक्षों से T और S पर मिलता है) का दायां भाग और TR उसका बायां भाग है। इसलिये ऐसे किसी भी नीचे की ओर ढलते हुए सीधी रेखा मांग वक्र के किसी बिंदु पर लोच का मूल्य ज्ञात करने के लिए हम एक काम चलाऊ नियम बना सकते हैं जिसके अनुसार ऐसे वक्र के किसी एक बिंदु पर लोच का मूल्य—मांग वक्र का दायां भाग ÷ उसका बायां भाग।

III

लोच गुणांक के चिन्ह पर एक टिप्पणी : लोच गुणांक के चिह्न के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात की चर्चा करना यहाँ पर आवश्यक है। लोच गुणांक का $\frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q}$ मूल्य। मांग नियम के अनुसार वस्तु की कीमत और उसकी मांगी गई मात्रा में विपरीत संबंध ा है अर्थात् सामान्यतः दोनों में परिवर्तन विपरीत दिशाओं में होते हैं। जब कीमत गिरती है तो मांगीगई मात्रा में वृद्धि होती है। गणितीय भाषा में इसका अर्थ है क यदि कीमत में परिवर्तन धनात्मक है तो मात्रा में परिवर्तन ऋणात्मक होगा। उदाहरण के लिए, यदि कीमत के 10 रु. की बजाय 8 रु. हो जाने पर मांगी गई मात्रा 100 की बजाय 120 इकाई (+20) होगी। इसलिए सामान्यतः $\Delta Q/\Delta P$ एक ऋणात्मक मात्रा होगी जिसके कारण लोच गुणांक का चिह्न ऋणात्मक होगा। केवल उन असामान्य स्थितियों में अर्थात् गिफिन वस्तु की स्थिति में, जब कीमत और मात्रा में परिवर्तन एक ही दिशा में हो, लोच गुणांक धनात्मक होगा। बहरहाल, परंपरा के अनुसार, जब कीमत और मात्रा के परिवर्तन मांग के नियम के अनुरूप हैं तो लोच गुणांक धनात्मक माना जाता है। उस असाधारण स्थिति में जब कीमत की मात्रा के परिवर्तन मांग के नियम के विपरीत हों (अर्थात् कीमत गिरने पर मात्रा का घटना और कीमत के बढ़ने पर मात्रा का बढ़ना), तो लोच गुणांक का चिह्न ऋणात्मक माना जाता है। इसलिए लोच गुणांक का चिह्न .... अंकित करना चाहिए।

खंड IV

विभिन्न वस्तुओं की मांग लोच के निर्धारक तत्त्व : सभी वस्तुओं की कीमत लोच समान नहीं होती। कुछ वस्तुओं की मांग काफी लोचदार होती है जबकि कुछ वस्तुओं की मांग कम लोचदार या पूर्णतया बेलोच होती है। विभिन्न वस्तुओं की मांग की लोच बहुत से तत्वों से प्रभावित होती है। नीचे हम केवल कुछ ऐसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की चर्चा करते हैं जो विभिन्न वस्तुओं की मांग लोच को प्रभावित करते हैं।

(1) निकट स्थानापन्न वस्तुओं की सुलभता : किसी वस्तु की मांग लोच को प्रभावित करने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में एक है निकट स्थानापन्न वस्तुओं की सुलभता। टूथपेस्ट, शेविंग ब्लेड, साबुन, जूता पालिश, आदि वस्तुओं के बहुत सारे निकट स्थानापन्न (विभिन्न ब्रांड) बाजार में मिलते हैं। यदि अन्य टूथपेस्टों की कीमतें स्थिर रहते हुए, किसी एकटूथपेस्ट की कीमत में परिवर्तन होता है तो निश्चय ही काफी प्रतिस्थापन होगा, अर्थात् कीमत गिरने की हालत में अन्य टूथपेस्टों के स्थान पर इस पेस्ट का अधिक इस्तेमाल और कीमत में वृद्धि की स्थिति में अन्य पेस्टों का अधिक इस्तेमाल होगा। इसलिए ऐसी वस्तु की मांग के काफी लोचदार होने की संभावना है जिसकी बहुत सी निकट स्थानापन्न वस्तुएं हों। दूसरी ओर, ऐसी वस्तुओं की मांग आमतौर पर कम लोचदार होगी जिसकी बहुत कम स्थानापन्न वस्तुएं हैं। उदाहरणार्थ, कोई अन्य वस्तु नमक के स्थान पर इस्तेमाल नहीं की जा सकती। इसलिए, नमक की मांग की लोच बहुत कम होती है।

(2) वस्तु के विभिन्न प्रयोग : ऐसी वस्तु की मांग आमतौर पर लोचदार होगी जिसके बहुत सारे प्रयोग हों। यदि ऐसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है तो उपभोक्ता कम आवश्यक प्रयोगों में भी इसका इस्तेमाल कम कर देते हैं। दूसरी ओर, जब ऐसी वस्तु की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता कम आवश्यक प्रयोगों में भी इसका उपयोग करना आरंभ कर देते हैं या पहले से अधिक कर देते

हैं। बिजली ऐसी वस्तु का एक अच्छा उदाहरण है। जब बिजली की कीमत अधिक होती है तो उपभोक्ता इसका इस्तेमल केवल आवश्यक प्रयोगों, जैसे उजाले के लिए ही करते हैं, परंतु कीमत गिरने पर इसका इस्तेमाल गरम करने, ठंडा करने, पंखों, सजावट आदि के लिए भी करना आरंभ कर देते हैं। इसलिए, बिजली की मांग काफी लोचदार होती है।

(3) वस्तु की प्रकृति : मांग की लोच वस्तु की प्रकृति पर भी निर्भर करती है, अर्थात् वस्तु विलास वस्तु है या जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तु है। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं की मांग सामान्यतः कम लोचदार होती है जबकि विलास वस्तुओं की मांग प्रायः अधिक लोचदार होती है। कोई भी मूल भोजन सामग्री कीमत परविर्तनों के प्रति बहुत कम संवेदनशील होती है क्योंकि कीमत अधिक हो या कम; लोग इसके बिना गुजारा नहीं कर सकते। इसके विपरीत, जब विलास वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती है तो लोग इन वस्तुओं के बिना गुजारा कर सकते हैं। इसीलिए जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं की मांग कम लोचदार होती है और विलास वस्तुओं की मांग काफी लोचदार होती है।

(4) कीमत का स्तर : बहुत अधिक और बहुत कम कीमत पर मांग की लोच बहुत कम होती है। यदि कीमत बहुत अधिक या बहुत कम हो तो इसमें एक छोटे से परिवर्तन से मांग पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, क्योकि पैंसिलों की कीमत काफी कम है इसलिये सभी अपनी आवश्यकतानुसार इसे इस्तेमाल करते हैं। यदि कीमत और भी कम हो जाए तो इसकी मांग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा। दूसरी ओर कारों की कीमत में यदि 5 या 10 रु. की कमी हो जाए तो भी केवल धनी लोग ही इन्हें खरीद पाएंगे जो पहले भी खरीदते थे। इसलिए, मांग की लोच बहुत ऊंची और बहुत कम कीमतों पर प्रायः बहुत कम होती है।

(5) उपभोक्ताओं के बजट में वस्तु का महत्त्व : जब एक उपभोक्ता किसी वस्तु पर अपनी आय का अपेक्षाकृत एक छोटा सा भाग खर्च करता है तो वस्तु की कीमत में वृद्धि की स्थिति में उपभोक्ता उस वस्तु की कोई अन्य स्थानापन्न वस्तु तलाश करने की या उसका उपयोग कम करने की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। ऐसी स्थिति में कीमत परिवर्तन का कोई विशेष आय प्रभाव नहीं होता। उादाहरण के लिए दियासलाई, नमक, जूता पालिश, अखबार जैसी वस्तुओं पर औसत उपभोक्ता अपनी आय का एक छोटा सा भाग खर्च करता है। जब ऐसी किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है तो इससे उपभोक्ता के बजट पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता वस्तु के उपयोग में कोई परिवर्तन करने को बाध्य नहीं होता। इसलिये ऐसी वस्तु की मांग प्रायः बेलोच होती है। दूसरी ओर जब किसी वस्तु पर उपभोक्ता को अपनी आय का एक काफी बड़ा भाग खर्च करना पड़ता है तो उसकी कीमत में छोटे से परिवर्तन से भी उसके बजट पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसे अपने बजट को फिर से व्यवस्थित करना पड़ता है। इसलिए, ऐसी वस्तु की तुलना में जिस पर कोई उपभोक्ता अपनी आय का केवल एक छोटा सा भाग खर्च करता है, ऐसी वस्तु की मांग अधिक लोचदार होगी जिस पर उपभोक्ता अपनी आय का एक काफी बड़ा भाग खर्च करता है।

(6) नए उपभोक्ताओं द्वारा वस्तु की खरीद की संभावना : जब किसी वस्तु की कीमत बहुत अधिक होती है, तो केवल कुछ धनी लोग ही उसे खरीद पाते हैं। परंतु जब कीमत गिरती है तो कुछ ऐसे उपभोक्ता भी उस वस्तु को खरीदना आरंभ कर देते हैं जो ऊंची कीमत पर उसे खरीद नहीं सकते थे। इस प्रकार, जैसे-जैसे वस्तु की कीमत गिरती है नए उपभोक्ता उसे खरीदना आरंभ कर देते हैं और इस प्रकार उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ती जाती है। इसलिए कीमत में ऐसी कमी, जो अनेक आय वर्गों के नए उपभोक्ताओं को वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित करती है, मांग को भी काफी लोचपूर्ण बनाती है।

(7) वस्तु की खरीद स्थगित कर सकने की संभावना : किसी वस्तु की मांग की लोच इस बात पर भी निर्भर करती है कि यदि आवश्यक हो तो उसकी खरीद स्थगित की जा सकती है या नहीं। फर्नीचर, फ्रिज, टेलीविजन जैसी टिकाऊ उपयोग वस्तुओं और अन्य कम आवश्यक वस्तुओं की खरीद को प्रायः भावी अच्छे अवसरों की आशा में स्थगित किया जा सकता है। ऐसी वस्तु की तुलना में जिसकी खरीद को स्थगित नहीं किया जा सकता, एक ऐसी वस्तु की मांग लोच अधिक होगी जिसकी खरीद को आसानी से स्थगित किया जा सकता है। इसी कारण दवाइयों, शिक्षा, जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं की मांग आमतौर पर बहुत कम लोचदार होती है।

(8) विचारधीन समयावधि : कीमत वृद्धि की स्थिति में उपभोक्ता की वास्तविक आय में कमी होती है जिसके फलस्वरूप उसे अपनी क्रय सामग्री को पुनः व्यवस्थित करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए उसे अपनी आदतों को बदलना पड़ता है और अपेक्षाकृत सस्ती स्थानापन्न वस्तुएं तलाश करनी पड़ती है। क्योंकि अच्छी स्थानापन्न वस्तुएं तलाख करने तथा अपनी आदतें बदलने में समय लगता है, इसलिये ऐसा करने के लिए जितना अधिक समय मिलेगा, उतनी ही मांग की लोच भी अधिक होगी और जितना कम समय मिलेगा उतनी ही मांग की लोच भी कम होगी। दूसरे शब्दों में अल्पकाल में मांग की लोच प्रायः कम होती और दीर्घकाल में अधिक।

अंत में हमें यह बात ध्यानपूर्वक नोट करनी चाहिए कि किसी वस्तु की मांग की लोच को प्रभावित करने में बहुत से तत्त्व सक्रिय हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, नमक जीवन निर्वाह की एक आवश्यक वस्तु है, इसकी कोई स्थानापन्न वस्तु भी नहीं है, बहुत सस्ता भी बिकता है जिसके कारण एक उपभोक्ता की आय का बहुत छोटा भाग इस पर खर्च होता है और इन बातों के अलावा इसके उपभोग को स्थगित भी नहीं किया जा सकता। अतः नमक का निम्न मांग लोच के इतने सारे कारण हैं। इसीलिए किसी भी वस्तु की मांग लोच की व्याख्या करने के लिए हमें उन सभी तत्त्वों को ध्यान में रखना चाहिए जो संभवतः उसकी मांग को प्रभावित कर सकते हैं।

खंड V

मांग लोच की अन्य अवधारणाएं

मांग की ''आड़ी लोच'' तथा ''आय लोच''

अवधारणाएं : मांग लोच का हमारा विवेचन अभी तक केवल वस्तु की मांग तथा उसकी अपनी कीमत में परिवर्तनों से संबंधित रहा है। इसे मांग की कीमत लोच कहते हैं। किंतु एक वस्तु की मांग अपनी कीमत के अलावा कई अन्य तत्त्वों पर भी निर्भर करती है। संबद्ध वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ताओं की आय इनमें से ऐसे तत्त्व हैं जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और इनका प्रभाव मापा जा सकता है। जिस प्रकार हम वस्तु की अपनी कीमत में परिवर्तन के प्रति उसकी मांगी मात्रा की संवेदनशीलता को मापते हैं, ठीक उसी प्रकार हम किसी वस्तु की मात्रा की संवेदनशीलता को उपभोक्ताओं की आय और अन्य संबद्ध वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तनों के प्रति भी माप सकते हैं।

किसी वस्तु की कीमत स्थिर रहते हुए, उपभोक्ताओं की आय में परिवर्तनों के प्रति उस वस्तु की मांगी गई मात्रा की संवेदनशीलता के माप को मांग की ''आय लोच'' कहते हैं। उसी प्रकार, किसी वस्तु की कीमत स्थिर रहते हुए, किसी अन्य संबद्ध वस्तु की कीमत में परिवर्तन के प्रति उस वस्तु की मांगी गई मात्रा की संवेदनशीलता के नाप को मांग की ''आड़ी लोच'' कहते हैं।

मांग की आय लोच मापने की विधि : ''आय लोच'' मापने के लिए प्रतिशत परिवर्तन विधि का ही प्रयोग किया जाता है।

$$\text{मांग की आय लोच} = \frac{\text{वस्तु की मांगी गई मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{उपभोक्ताओं की आय में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि उपभोक्ताओं की वास्तविक आय में 20% वृद्धि के कारण टेलीविजनों की मांग में 10% की वृद्धि होती है। इस उदाहरण के अनुसार टेलीविजनों की मांग की आय लोच 0.5 (10% ÷ 20% = 0.5) है। आमतौर पर, उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि के कारण, घटिया वस्तुओं को छोड़कर, सभी सामान्य वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है। घटिया वस्तुओं के मामले में उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि के कारण उनकी मांग में कमी होती है और आय में कमी की स्थिति में मांग में वृद्धि होती है। परंपरा के अनुसार, आय में परिवर्तनों के कारण जब किसी वस्तु की मांग सामान्य दिशा में परिवर्तित होती है (अर्थात् आय में वृद्धि के साथ मांग में वृद्धि तथा आय में कमी के साथ मांग में कमी) तो आय लोच का मूल्य धनात्मक माना जाता है। दूसरी ओर, घटिया वस्तु की स्थिति में (जब आय में कमी के कारण मांग में वृद्धि होती है और आय में वृद्धि के साथ मांग में कमी होती है) तो आय लोच का मूल्य ऋणात्मक माना जाता है।

आड़ी लोच नापने की विधि :

आड़ी लोच भी प्रतिशत परिवर्तन विधि की सहायता से ही नापी जाती है। मान लीजिए, X और Y दो संबद्ध वस्तुएं हैं और हम वस्तु Y की कीमत में परिवर्तनों के प्रति वस्तु X की मांग आड़ी लोच नापना चाहते हैं। मांग की आड़ी लोच नापने का सूत्र है :

$$\text{वस्तु की मांग की आड़ी लोच} = \frac{\text{वस्तु X की मांगी गई मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{वस्तु Y की कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

मान लीजिए X और Y दो स्थानापन्न वस्तुएं हैं और वस्तु Y की कीमत में 10 प्रतिशत वृद्धि के कारण X की मांगी गई मात्रा में 20% की वृद्धि होती है। इस उदाहरण के अनुसार वस्तु X की मांग की आड़ी लोच 2 होगी (अर्थात् 20% 10% = 2)। कुछ वस्तुएं परस्पर पूरक भी हो सकती हैं। यदि X और Y आपस में पूरक हैं तो वस्तु Y की कीमत में कमी के कारण वस्तु X की मांग में वृद्धि होगी। अतः स्थानापन्न वस्तुओं के मामले में एक वस्तु की कीमत और दूसरी वस्तु की मांग एक ही दिशा में परिवर्तित होते हैं जबकि

पूरक वस्तुओं के मामले में एक की कीमत और दूसरी की मांग विपरीत दिशाओं में परिवर्तित होते हैं। बहरहाल परंपरा के नुसार जब एक वस्तु की कीमत और दूसरी वस्तु की मांग एक दिशा में परिवर्तित होते हैं (जैसा कि स्थानापन्न वसतुओं के साथ होता है), तो लोच का मूल्य धनात्मक माना जाता है और पूरक वस्तुओं के मामले में जब एक वस्तु की कीमत और दूसरी की मंग में परिवर्तन विपरीत दिशाओं में होते हैं, तो लोच का मूल्य ऋणात्मक माना जाता है। अन्य शब्दों में, स्थानापन्न वस्तुओंकी आड़ी लोच धनात्मक मानी जाती है और पूरक वस्तुओं की ऋणात्मक।

II

पूर्ति की लोच

यदि किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है तो उसकी पूर्ति की गई मात्रा में वृद्धि होती है और कीमत में कमी होने पर पूर्ति की गई मात्रा में कमी होती है। अतः वस्तु की कीमत और उसकी पूर्ति एक ही दिशा में परिवर्तित होते हैं। वस्तु की कीमत में परिवर्तन के प्रति उसकी पूर्ति की संवेदनशीलता के नाप को पूर्ति की लोच कहा जाता है। मान लीजिए, चावल की कीमत 400 रु. प्रति क्विंटल से बढ़कर 500 रु. हो जाने के कारण इसकी पूर्ति की गई मात्रा 10,000 क्विंटल की बजाय 15,000 क्विंटल प्रति सप्ताह हो जाती है। इस उदाहरण के अनुसार चावल की पूर्ति की लोच 2 होगी अर्थात्

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{पूर्ति की गई मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

$$= \frac{(15000-10000)\div 10000}{(500\div 400)\div 400}$$

$$= \frac{5000\div 10000}{100\div 400}$$

$$= 1/2\div 1/4=2$$

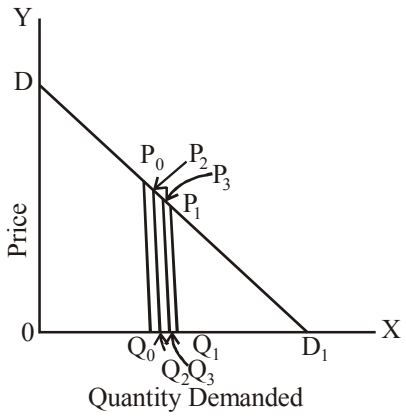
III

बिंदु लोच तथा चाप लोच में अंतर

l eL; k %ऊपर खंड I में कीमत लोच का मूल्य एक सूत्र के रूप में $\Delta Q/\Delta P \times P/Q$ द्वारा व्यक्त किया था। $\Delta Q/\Delta P$ कीमत में प्रति इकाई परिवर्तन के कारण मांगी गई मात्रा की परिवर्तन दर को व्यक्त करता है। परंतु कीमत परिवर्तन छोटा है या बड़ा, यह इस अभिव्यक्ति से पता नहीं चलता। जब ΔP (अर्थात् कीमत परिवर्तन) कुछ बड़ा होता है तो इसके कारण कीमतों और (प्रत्येक कीमत से संबंधित) मात्राओं का एक क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है—अर्थात् असवंख्या P/Q भिन्न पैदा हो जाते हैं। उदाहरण के लिए नीचे रेखा चित्र 5.2 में, कीमत के P_o से गिरकर P_1 हो जाने के कारण $\frac{P_oQ_o}{OQ_o}$, $\frac{P_2Q_2}{OQ_2}$, $\frac{P_3Q_3}{OQ_3}$ जैसे अनेक P/Q भिन्न पैदा हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, मांग वक्र के P_oP_1 क्षेत्र पर स्थित प्रत्येक बिंदु से एक नया P/Q भिन्न संबद्ध होता है। क्षेत्र P_0P_1 में लोच का मूल्य नापने के लिए किस P/Q भिन्न को लिया जाए? दूसरी समस्या यह है कि P_0P_1 जैसे क्षेत्र पर $\Delta Q/\Delta P$ का मूल्य स्थिर तभी रह सकता है जब (कीमत परिवर्तन छोटा हो या बड़ा) मात्रा की परिवर्तन दर समान रहे—यानी केवल तब जबकि मांग का P_0P_1 भाग एक सीधी रेखा है। उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं :—

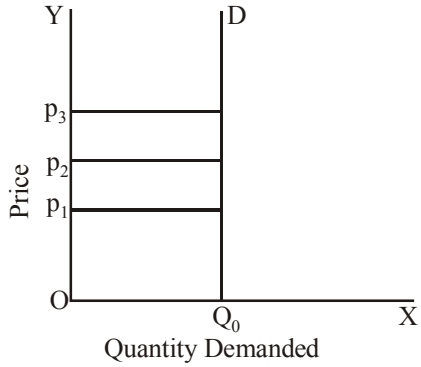
(क) नीचे की ओर झुकने वाले सीधी रेखा मांग वक्र पर स्थित प्रत्येक बिंदु पर $\Delta Q/\Delta P$ का का मूल्य dQ/dP के बराबर होता है तथा P/Q भिन्न का मूल्य हर बिंदु पर अलग होता है। इसलिए ऐसे मांग वक्र के प्रत्येक बिंदु पर लोच का मूल्य (dQ/dP x P/Q) अलग होता है।

चित्र : 5.2

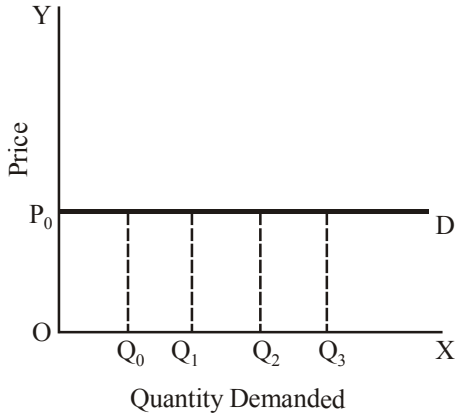


(ख) लंबवत् मांग वक्र के हर बिंदु पर लोच का मूल्य शून्य होता है क्योंकि $\Delta Q/\Delta P = dQ/dP$=शून्य, क्योंकि कीमत में परिवर्तन के कारण मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे मांग वक्र को पूर्णतया बेलोच मांग वक्र कहा जाता है। यह लंबवत् तथा Y अक्ष के समांतर होता है जैसाकि रेखाचित्र 5.3 में दिखाया गया है। रेखाचित्र में कीमत चाहे OP_1 हो या बढ़कर OP_2 या OP_3 हो जाए, मांग की मात्रा OQ_0 समान रहती है।

(ग) क्षेतिजीय मांग वक्र (जैसा कि रेखाचित्र 5.4 में दिखाया गया है) की स्थिति में $\Delta Q/\Delta P = dQ/dP$=oc (infinite) असीम होता है, इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु की प्रचलित कीमत पर क्रेता उसकी असीमित (infinite) मात्रा खरीदने को तैयार है। लेकिन कीमत में अत्यंत सूक्ष्म भी वृद्धि होने पर उसकी कुछ भी मात्रा खरीदने को तैयार नहीं है अर्थात् उसकी मांग घट कर शून्य हो जाती है। इसे पूर्णतया लोचदार मांग वक्र कहते हैं यह मांग X अक्ष के समांतर होती है। ऐसे मांग वक्र के प्रत्येक बिंदु पर लोच का मूल्य अनंत (infinity) होता है। रेखाचित्र 5.4 में OP_0 कीमत पर मांग की मात्रा अनंत है, लेकिन कीमत में तनिक भी वृद्धि होने पर उसकी मांग की मात्रा घट कर शून्य हो जाती है।



चित्र 5.3

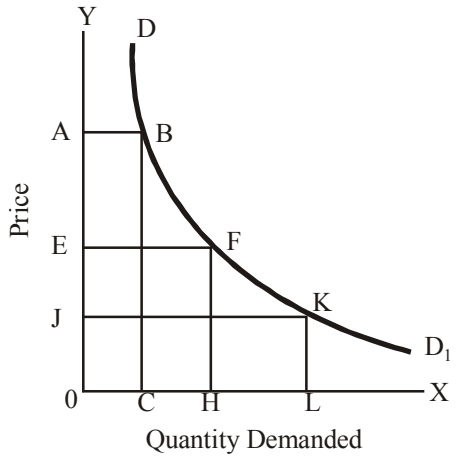


चित्र 5.4

टेढ़ी-मेढ़ी रेखा मांग वक्र की हालत में P/O भिन्न के मूल्य में परिवर्तनों के अलावा भिन्न $\Delta Q/\Delta P$ का मूल्य भी कीमत में छोटे और अपेक्षाकृत बड़े परिवर्तनों के लिए समान नहीं होगा। इसलिए, टेढ़ी-मेढ़ी रेखा मांग वक्रों की स्थिति में, सिवाय उस स्थिति के जबकि dQ/dP सदा ही 1 के बराबर रहता है, लोच का मूल्य हर बिंदु पर भिन्न होगा। ऐसा मांग वक्र जिस पर स्थित प्रत्येक बिंदु पर लोच का मूल्य इकाई के बराबर होता है, आयताकार हाइपरबोला (Rectangular hyperbola) की आकृति का होता है जैसे कि रेखाचित्र 5.5 में दिखाया गया है।

आयताकार हाइपरबोला की यह विशेषता होती है कि उस पर स्थित सभी बिंदुओं द्वारा अंतरित आयतों के क्षेत्रफल परस्पर समान होते हैं। ऊपर रेखाचित्र 5.5 में आयत ABCO, EFHO और JKLO आदि के क्षेत्रफल समान हैं। इन आयतों के क्षेत्रफल क्या व्यक्त करते हैं? ये क्षेत्रफल वस्तु पर हुए कुल व्यय के सूचक हैं। उदाहरण के लिए, आयत ABCO का क्षेत्रफल = OC (मांगी गई मात्रा) x BC (कीमत), जो कुल व्यय के अलावा कुछ और नहीं है। इसी प्रकार, आयत EFHO और JKLO के क्षेत्रफल भी, FH तथा KL कीमतों पर कुल व्यय के सूचक होंगे। ये सभी कुल व्यय तभी परस्पर समान होते हैं जब मांग वक्र के हर बिंदु पर लोच का मूल्य इकाई के बराबर होता है।

चित्र 5.5



उपरोक्त स्थिति को छोड़कर, सभी असरल रेखा मांग वक्रों के प्रत्येक बिंदु पर लोच का मूल्य भिन्न होता है।

चाप लोच की अवधारणा : ऊपर के विवेचन से यह परिणाम निकलता है : जब कीमत में कुछ बड़ा परिवर्तन होता है तो, उपरोक्त विशेष स्थितियों को छोड़कर, यह कीमत तथा प्रत्येक कीमत से संबद्ध मात्रा का एक क्षेत्र उत्पन्न कर देता है जिसके हर बिंदु पर लोच का मूल्य भिन्न होता है। ऐसी स्थिति में, लोच के किसी एक विशेष मूल्य को मांग वक्र के पूरे खंड की लोच का सूचक नहीं माना जा सकता। इस समस्या से निपटने के लिए अर्थशास्त्रियों ने ''चाप लोच'' की अवधारणा की सहायता ली है। चाप लोच की अवधारणा कीमत के अपेक्षाकृत बड़े परिवर्तनों की हालत में मांगी गई मात्रा की औसत संवेदनशीलता का नाप होता है (अर्थात्, मांग वक्र के किसी विशेष खंड पर लोच का औसत मूल्य)।

चाप लोच नापने की विधि :

चाप लोच नापने के लिए, किसी विशेष कीमत और उससे संबद्ध मात्रा पर आधारित P/Q की बजाय, हम नई तथा पुरानी कीमत

की औसत $\frac{Po+P1}{2}$ और नई तथा पुरानी मात्रा की औसत $\frac{Qo+Q1}{2}$ पर आधारित P/Q भिन्न अर्थात् $\left[\frac{\frac{P1+Po}{2}}{\frac{Q1+Qo}{2}}=\frac{P1+Po}{Q1+Q1}\right]$

का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार चाप लोच $= \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P_1+P_0}{Q_1+Q_0}$

$= \frac{Q_1-Q}{P_0-P_1} \times \frac{P_1+P_0}{Q_1+Q_0}$

एक साधारण गणितीय उदाहरण की सहायता से हम चाप लोच नापने की विधि समझाने का प्रयत्न करते हैं। मान लीजिए एक वस्तु की कीमत 10 रु. से 8 रु. प्रति इकाई हो जाने के कारण उसकी मांग 1000 की बजाय 1500 इकाई हो जाती है। इस उदाहरण में चाप लोच का मूल्य क्या होगा? उदाहरण के अनुसार P_o=10 रु., P_1=8 रु., Q_o=1000 और Q_o=1500

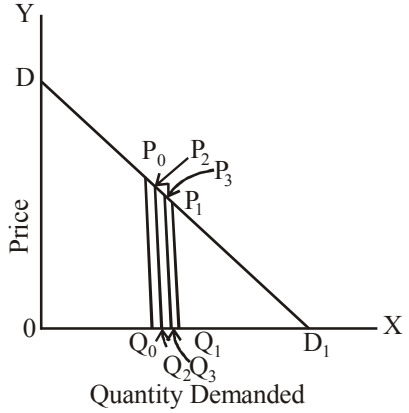
$$\text{चाप का लोच} = \frac{Q_1 - Q}{P_0 - P_1} \times \frac{P_1 + P_0}{Q_1 + Q_0}$$

$$= \frac{1500 - 1000}{10 - 8} \times \frac{8 + 10}{1500 + 1000}$$

$$= \frac{500}{2} \times \frac{18}{2500} = \frac{9}{5} = 1.8$$

यदि हम P/Q भिन्न में कोई एक कीमत ओर कोई एक मात्रा का प्रयोग करते तो लोच का मूल्य कुछ और होता। मान लीजिए, हम आरंभिक कीमत P_o और मात्रा Q_o पर आधारित P/Q भिन्न अर्थात् $\frac{10}{1000}$ के प्रयोग से लोच का मूल्य निकालते, तो लोच का मूल्य होता $\frac{500}{2} \times \frac{10}{1000} = 2.5$ । दूसरी ओर यदि लोच का मूल्य P_1/Q_1 भिन्न (अर्थात् 8/1500) के आधार पर निकालते, तो लोच का मूल्य होता $\frac{500}{2} \times \frac{8}{1500} = 4/3 = 1.33$ । अतः प्रयोग किए गए P/Q भिन्न के अनुसार लोच का मूल्य भी अलग निकलता है। लोच के ये दो मूल्य दो छोर के मूल्य हैं। इनके अलावा, इन दोनों के बीच में लोच के और बहुत से मूल्य होंगे क्योंकि दोनों P/Q भिन्नों के बीच में और अनेक P/Q भिन्न हैं। चाप लोच किसी एक कीमत विशेष और उससे संबद्ध मात्रा विशेष के संदर्भ में लोच का माप नहीं है। वास्तव में चाप लोच कीमत में अपेक्षाकृत बड़े परिवर्तनों की स्थिति में मांग वक्र खंड की औसत लोच का अनुमान है।

बिंदु लोच की अवधारणा : जब लोच कीमत में बहुत छोटे परिवर्तन के आधार पर नापी जाती है, तो उसे मांग की बिंदु लोच कहा जाता है। यदि कीमत परिवर्तन बड़ा हो तो मांग वक्र पर एक चाप बन जाती है, परंतु कीमत परिवर्तन बहुत ही छोटा अर्थात् नहीं के बराबर, हो तो चाप के स्थान पर हम एक बिंदु की कल्पना कर सकते हैं। रेखाचित्र 5.6 में यदि P_oP_1 चाप को छोटे से छोटा किया जाए तो P_o और P_1 अलग-अलग होने की बजाय एक ही बिन्दु हो सकता है। बिन्दु लोच, चाप लोच के मूल्य की वह सीमा है जब चाप इतनी छोटी हो कि P_1 और P_o एक ही बिंदु बन जाए, अर्थात् कीमत परिवर्तन लगभग शून्य के बराबर हो।



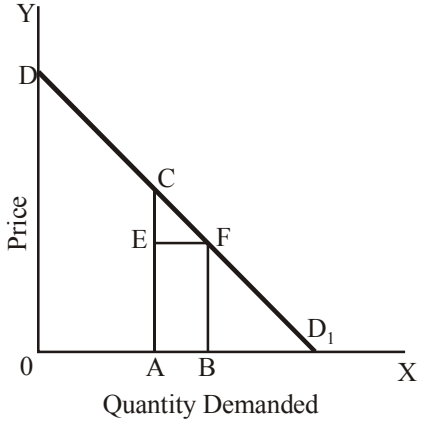
चित्र 5.6

$$\text{बिंदु लोच} = \frac{dQ}{dP} \times \frac{P}{Q}$$

$\frac{dQ}{dP}$ प्रति इकाई कीमत में परिवर्तन के प्रत्युत्तर में मात्रा की परिवर्तन दर को व्यक्त करता है, जबकि कीमत परिवर्तन बहुत ही छोटा यानी लगभग शून्य के बराबर हो।

बिंदु लोच नापने की विधि : ऊपर लिखित समीकरण में $\frac{dQ}{dP}$ किसी विशेष बिंदु पर एक वक्र के ढलान का विलोम (reciprocal) है। एक सीधी रेखा की यह ज्यामितीय विशेषता होती है कि इसके प्रत्येक बिंदु पर इसका ढलान बराबर होता है। इसलिए सीधी रेखा मांग वक्र के प्रत्येक बिंदु पर $\frac{dQ}{dP}$ का मूल्य बराबर होता है। रेखाचित्र 5.7 में C और F पर $\frac{dQ}{dP}$ का मूल्य समान होता है। सीधी रेखा की इस ज्यामितीय विशेषता की सहायता से हम एक असरल रेखा मांग वक्र के किसी विशेष बिंदु पर लोच माप सकते हैं।

किसी बिंदु पर असरल मांग रेखा का ढलान उसी बिंदु पर स्पर्श रेखा (Tangent) के ढलान के बराबर होता है। दूसरे शब्दों में, स्पर्शिता के बिंदु पर सरल रेखा तथा असरल रेखा दोनों का ढलान बराबर होता है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि असरल रेखा मांग वक्र के किसी बिंदु पर लोच का मूल्य उतना होगा जितना कि उसी बिंदु पर स्पर्श रेखा पर होगा। इसलिए सीधी रेखा मांग वक्र पर बिंदु लोच नापने की विधि की सहायता से हम असरल रेखा मांग वक्र पर भी बिंदु लोच नाप सकते हैं। इसलिए पहले हम सीधी रेखा मांग वक्र पर बिंदु लोच नापने की विधि की व्याख्या करते हैं।



चित्र 5.7

ऊपर रेखाचित्र 5.7 में D D_1 एक सीधी रेखा मांग वक्र है। हम बिंदु C पर लोच नापना चाहते हैं। बिंदु C पर P/Q का मूल्य = $\frac{CA}{OA}$ । सीधी रेखा की ज्यामितीय विशेषता के कारण D D_1 वक्र के प्रत्येक बिंदु पर $\frac{dQ}{dP}$ का मूल्य $\frac{EF}{CE}$ के बराबर है। इसलिए,

बिंदु C पर लोच का मूल्य = $\frac{EF}{CE} \times \frac{CA}{OA}$

= $\frac{AD_1}{CA} \times \frac{CA}{OA}$ [CEF और CAD_1 समरूप त्रिभुज हैं। इसलिए $\frac{EF}{CE} \times \frac{AD_1}{CA}$]

= $\frac{AD_1}{OA}$

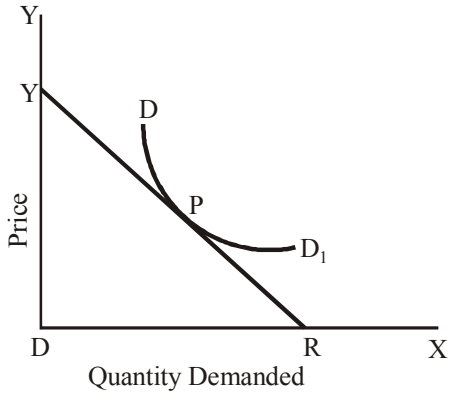
= $\frac{CD_1}{CD}$ [CA तथा DO समानांतर है। इसलिए CA, OD_1 और DD_1 को एक ही अनुपात में बांटता है। इसलिए $AD_1/OA = CD_1/DC$]

यह ध्यानपूर्वक नोट कीजिये कि भिन्न $\frac{CD_1}{CD}$ में C बिंदु से CD_1 वक्र DD का बायां भाग है और CD उसका बायां भाग है। इसके आधार पर सीधी रेखा मांग वक्र पर बिंदु लोच नापने का यह काम चलाऊ नियम बना सकते हैं कि किसी बिंदु पर

$$\text{लोच का मूल्य} = \frac{\text{वक्र का दायां भाग}}{\text{वक्र का बायां भाग}}$$

असरल रेखा मांग वक्र पर बिंदु लोच नापने की विधि : एक सीधे मांग वक्र के किसी बिंदु पर लोच का मूल्य = वक्र का दायां भाग ÷ वक्र का बायां भाग। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि यदि एक सरल रेखा मांग वक्र किसी असरल रेखा मांग वक्र का स्पर्श करता हो, तो स्पर्श बिंदु पर दोनों भिन्नों, P/Q तथा $\frac{dQ}{dP}$ के मूल्य परस्पर समान होते हैं।

जिसके फलस्वरूप उस बिंदु पर लोच का मूल्य भी दोनों वक्रों पर बराबर होगा। इसलिए, किसी असरल रेखा पर बिंदु लोच नापने के लिए, असरल रेखा के बिंदु विशेष पर हम एक स्पर्श रेखा खींचते हैं। असरल रेखा पर लोच का मूल्य वही होगा जो उस बिंदु पर सीधी रेखा पर होगा। रेखाचित्र 5.8 में मांग वक्र DD_1 के बिंदु P पर लोच का मूल्य नापने के लिए TR रेखा खींची गई है जो बिंदु P पर DD_1 को स्पर्श करती है। बिंदु P पर लोच का मूल्य दोनों ही रेखाओं पर होगा। $\frac{PR}{PR}$ के बराबर है।



चित्र : 5.8

खंड IV

मांग लोच के कुछ रोचक नियम

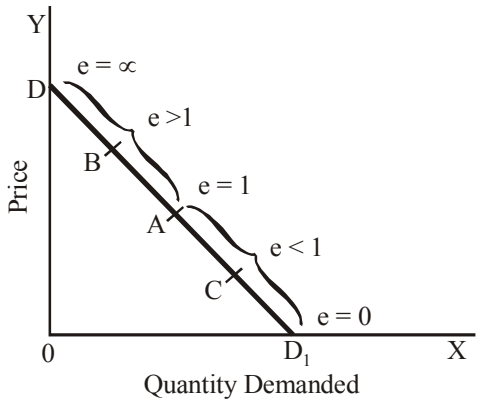
1. नीचे की ओर ढलते हुए सरल रेखा मांग वक्र पर बिंदु लोच का मूल्य शून्य से लेकर अनंत (infinity) तक होता है।

प्रमाण

$$\text{बिंदु लोच का मूल्य} = \frac{dQ}{dP} \times \frac{P}{Q}$$

रेखाचित्र 5.9 में क्योंकि DD_1 वक्र एक सीधी रेखा है इसलिए उसका ढलान (dP/dQ) और उसका उल्टा (Reciprocal) अर्थात् (dQ/dP) हर बिंदु पर बराबर है। P/Q भिन्न का मूल्य शून्य से लेकर अनंत (infinity) तक बदलता है।

P/Q का मूल्य बिंदु D_1 पर शून्य के बराबर हैं (जहाँ पर कि मांग वक्र X अक्ष से मिलता है) और बिंदु D पर अनंत के बराबर है (जहां कि मांग वक्र Y अक्ष से मिलता है)। इसलिए बिंदु D_1 पर लोच का मूल्य शून्य के बराबर e=O है और बिंदु D पर अनंत के बराबर $e=\alpha$ है।



चित्र : 5.9

एक सीधी रेखा मांग वक्र जो कि दोनों अंशों पर मिलती है, के मध्य बिंदु A पर मांग की लोच इकाई के बराबर (e=1) होगी क्योंकि मांग वक्र के नीचे का भाग AD_1 तथा ऊपर का भाग AD दोनों समान हैं। मांग वक्र के मध्य बिंदु A तथा D के बीच के प्रत्येक बिंदु पर मांग की लोच इकाई से अधिक (e>1) लेकिन अनंत से कम होगी। उदाहरण के लिए B बिंदु पर मांग वक्र के नीचे का भाग BD_1 मांग वक्र ऊपर के भाग BD से अधिक है, अतः B बिंदु पर मांग की लोच इकाई से अधिक होगी। इसके विपरीत मांग वक्र के मध्य बिंदु A तथा D_1 के बीच के प्रत्येक बिंदु पर मांग की लोच इकाई से कम (e<1) लेकिन शून्य से अधिक होगी। उदाहरण के लिए बिंदु C पर मांग वक्र DD_1 के नीचे का भाग CD_1 मांग वक्र के ऊपर के भाग CD से कम है, इसलिए C बिंदु पर मांग की लोच इकाई से कम होगी।

2. दो या दो से अधिक समानांतर मांग वक्रों के विभिन्न बिंदुओं पर लोच का मूल्य।

(क) दो या अधिक समानांतर मांग वक्रों में से मूल बिंदु से दूर वाले वक्र पर प्रत्येक कीमत पर पास वाले वक्र की तुलना में लोच का मूल्य अधिक होता है।

प्रमाण

$$\text{बिंदु का लोच} = \frac{dQ}{dP} \times \frac{P}{Q}$$

रेखा चित्र 5.10 में क्योंकि दोनों वक्र D_1D_1 तथा D_2D_2 समानांतर हैं इसलिए dQ/dP का मूल्य दोनों वक्रों के प्रत्येक बिंदु पर समान है। परंतु P/Q का मूल्य प्रत्येक कीमत पर D_1D_1 की तुलना में D_2D_2 पर कम है। उदाहरण के लिए $\frac{P_2Q_2}{OQ_2} < \frac{P_1Q_1}{OQ_1}$ । इसलिए प्रत्येक कीमत पर लोच का मूल्य D_1D_1 की तुलना में D_2D_2 पर कम है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि जब कोई वक्र अपने समानांतर रहते हुए दाईं ओर खिसकात है तो प्रत्येक कीमत पर पहला की तुलना में कम लोचदार हो जाता है और बाईं ओर खिसकने से प्रत्येक कीमत पर पहले से अधिक लोचदार हो जाता है।

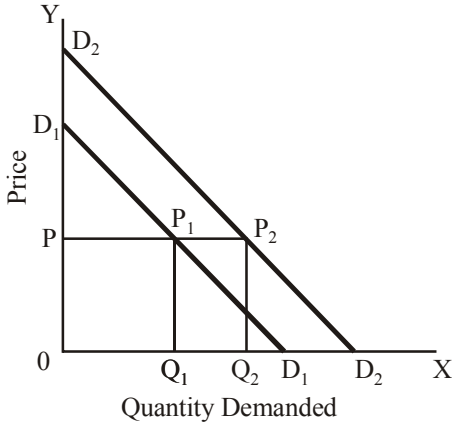
(ख) मांग के प्रत्येक स्तर पर दो (या अधिक) समानांतर वक्रों में से वह वक्र अधिक लोचदार होता है जो मूल बिंदु से दूर होता है।

प्रमाण

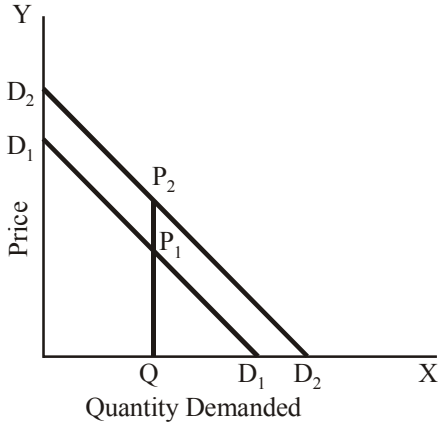
$$\text{बिंदु लोच} = \frac{dQ}{dP} \times \frac{P}{Q}$$

रेखाचित्र 5.11 में, परस्पर समानांतर होने के कारण दोनों वक्रों के प्रत्येक बिंदु पर $\frac{dQ}{dP}$ का मूल्य समान है परंतु P/Q का मूल्य मांग के प्रत्येक स्तर पर D_1D_1 की तुलना में D_2D_2 पर अधिक है। उदाहरण के लिए $P_2Q/OQ > P_1Q/OQ$ । इसलिए मांग के प्रत्येक स्तर पर D_1D_1 की तुलना में D_2D_2 अधिक लोचदार है।

चित्र : 5.10



चित्र : 5.11



(ग) दो (या अधिक) समानांतर मांग वक्रों तथा मूल बिंदु से खींची गई एक सीधी रेखा के कटान बिंदुओं पर लोच का मूल्य समान होता है।

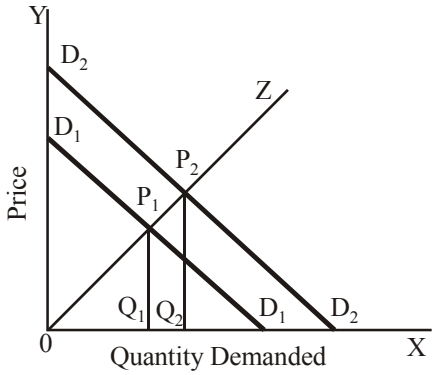
प्रमाण

$$\text{बिंदु लोच} = \frac{dQ}{dP} \times \frac{P}{Q}$$

परस्पर समानांतर होने के कारण दोनों वक्रों के प्रत्येक बिंदु पर $\frac{dQ}{dP}$ का मूल्य समान है। इसके साथ-साथ P/Q का मूल्य भी P_1 और P_2 पर समान है जहां रेखा OZ दोनों मांग वक्रों को काटती है। क्योंकि त्रिभुज OQ_1P_1 और OQ_2P_2 समरूप है और इसलिए

$$\frac{p_1Q_1}{OQ_1} = \frac{P_2Q_2}{OQ_2}$$

चित्र : 5.12



इसलिए P_1 तथा P_2 पर लोच का मूल्य समान है।

(3) कीमत अक्ष (Y अक्ष) पर किसी एक ही बिंदु से आरंभ होने वाले सीधे मांग वक्रों पर बिंदु लोच का मूल्य।

(क) प्रत्येक कीमत स्तर पर बिंदु लोच का मूल्य समान होता है।

प्रमाण

रेखाचित्र 5.13 में PP_2 रेखा OD_2 के समानांतर खींची गई हैं। इसलिए $\frac{P_2D_2}{P_2D} = \frac{P_1D_1}{P_1D} = \frac{OP}{PD}$ ।

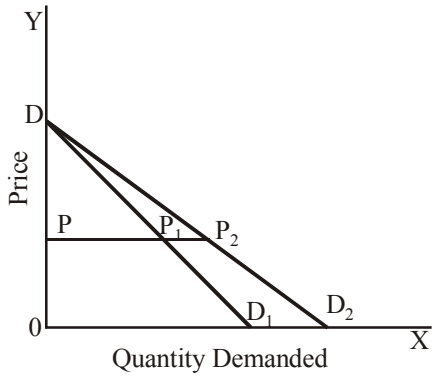
मांग रेखा DD_2 के बिंदु P_2 पर लोच का मूल्य = $\frac{P_2D_2}{P_2D}$ और DD_1 के बिंदु P_1 पर लोच का मूल्य = $\frac{P_1D_1}{P_1D}$ । इसलिए P_2 तथा P_1 पर लोच का मूल्य समान है।

(ख) मांग के प्रत्येक स्तर पर समतल की तुलना में ढालू वक्र पर लोच का मूल्य पर अधिक होता है।

प्रमाण

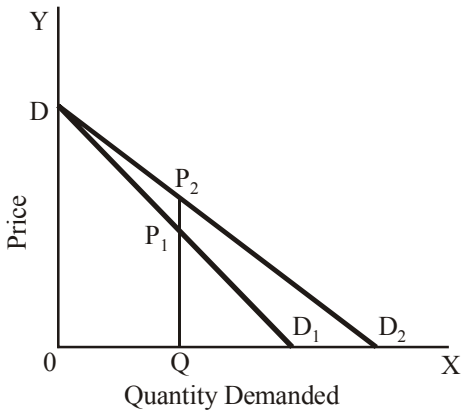
रेखाचित्र 5.14 में P_2Q के OD समानांतर होने के कारण $\frac{P_1D_1}{P_1D} = \frac{QD_1}{OQ}$ तथा $\frac{P_2D_2}{P_2D} = \frac{QD_2}{OQ}$

चित्र : 5.13



$\frac{QD_2}{OQ}$ तथा $\frac{QD_1}{OQ}$ की तुलना करने से पता चलता है कि $\frac{QD_2}{OQ} > \frac{QD_1}{OQ}$ । इसलिए $\frac{P_2D_2}{P_2D} > \frac{P_1D_1}{P_1D}$

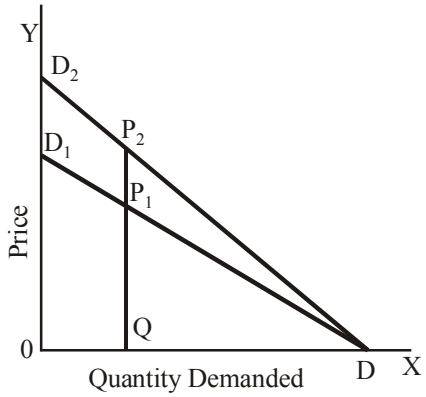
चित्र : 5.14



अतः बिंदु P_1 की तुलना में बिंदु P_2 पर लोच का मूल्य अधिक है। अतः कीमत अक्ष (Y-अक्ष) पर किसी एक बिंदु से प्रारंभ होने वाले दो (या अधिक) सीधे मांग वक्रों पर मांग के प्रत्येक स्तर पर समतल मांग वक्र पर मांग की लोच अपेक्षाकृत ढालू मांग वक्र पर मांग की लोच से अधिक होती है।

(4) मात्रा अक्ष (X अक्ष) से एक ही बिंदु पर मिलने वाले सीधे मांग वक्रों पर मांग के प्रत्येक स्तर पर लोच का मूल्य समान होता है।

चित्र : 5.15



प्रमाण

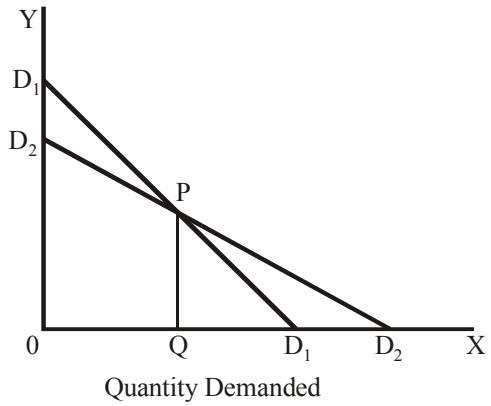
रेखाचित्र 5.15 में P_2Q के OD_2 के समानांतर होने के कारण $\frac{P_2D}{P_2D_2} = \frac{P_1D}{P_1D_1} = \frac{QD}{OQ}$ । बिंदु P_2 पर लोच का मूल्य = $\frac{P_2D}{P_2D_2}$ और बिंदु P_1 पर लोच का मूल्य = $\frac{P_1D}{P_1D_1}$ । इसलिए, P_1 और P_2 पर लोच का मूल्य समान है। अतः मांग के प्रत्येक स्तर पर दोनों मांग वक्र D_1D तथा D_2D समालोचदार है।

(5) आपस में काटते हुए दो (या अधिक) सीधे मांग वक्रों में से कटान के बिंदु पर ढालू मांग वक्र की तुलना में समतल मांग वक्र अधिक लोचदार होता है।

प्रमाण

रेखाचित्र 5.16 में बिंदु P पर दोनों वक्रों के लिए P/Q का मूल्य एक ही है। इसलिए, इस बिंदु पर लोच का मूल्य दोनों वक्रों के $\frac{dQ}{dP}$ के अनुपात पर निर्भर करेगा।

चित्र : 5.16



$\frac{dQ}{dP}$ का मूल्य प्रत्येक बिंदु पर वक्र D_1D_1 (जो दोनों में से ढालू है) की तुलना में वक्र D_2D_2 (जो दोनों में से समतल है) पर अधिक है। इसलिए, बिंदु P पर लोच का मूल्य का मूल्य D_1D_1 की तुलना में D_2D_2 पर अधिक है।

भाग II

मांग व पूर्ति सिद्धांत के कुछ प्रयोग

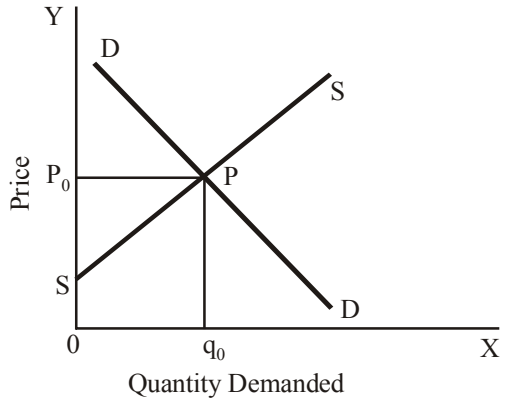
प्रभाग I

भूमिका : जब हम कीमत-सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे थे, तो हमारा ध्यान मुख्यतः इन पर केंद्रित था : (1) संतुलन कीमत और संतुलन मात्रा का निर्धारण, (2) मांग व पूर्ति वक्रों के स्थान-परिवर्तन का संतुलन कीमत व मात्रा पर प्रभाव, (3) कीमत को किसी प्रकार संतुलन-स्तर से ऊपर या नीचे रखने का परिणाम। इससे पहले कि हम व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करने के लिए मांग व पूर्ति सिद्धांत का प्रयोग करें, यह उपयोगी होगा कि हम उपर्युक्त पहलुओं के संदर्भ में अपनी स्मृति को ताज़ा कर लें। अतः अगले विभाग में हम वही दोहराएंगे जो आप पिछले पाठ में पढ़ चुके हैं।

प्रभाग II

1. संतुलन कीमत (एवं मात्रा) का निर्धारण : यदि मांग व पूर्ति वक्र दिए हुए हों, तो संतुलन कीमत (अर्थात् वह कीमत जो मांगी मात्रा को पूर्ति की मात्रा के बराबर कर देती है) का निर्धारण उस एक मात्र बिंदु पर होता है जहां दोनों वक्र एक दूसरे को काटते हैं। यह नीचे के रेखाचित्र 5.17 में दिखाया गया है।

चित्र : 5.17

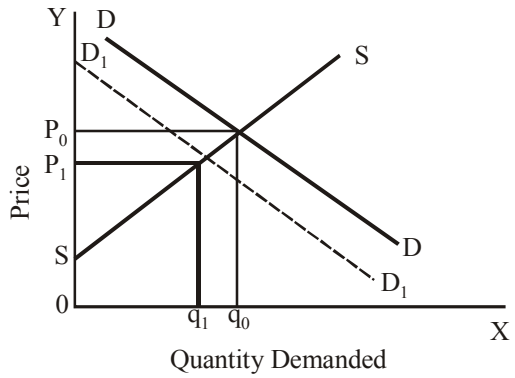


ऊपर के रेखाचित्र में, मांग व पूर्ति वक्रों के काटन P बिंदु पर संतुलन-कीमत OP_o तथा संतुलन-मात्रा Oq_o का निर्धारण करता है। इसका अर्थ है कि जब तक मांग व पूर्ति की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, Oq_o मात्रा की मांग व पूर्ति की जाती रहेगी और OP_o संतुलन-कीमत रहेगी। जब मांग या पूर्ति, किसी में भी कोई परिवर्तन होगा, तो एक नया संतुलन स्थापित होगा। अगले प्रभाग में हम इस बात की जांच करेंगे कि मांग व पूर्ति की स्थितियों में परिवर्तन का संतुलन-स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है।

2. मांग-वक्र का स्थान-परिवर्तन और संतुलन :

(1) मांग वक्र का बायीं ओर हटना अर्थात् मांग में कमी : आम तौर पर, जब पूर्ति वक्र दिया हुआ हो, तो मांग वक्र के बायीं ओर या नीचे स्थानांतरण का परिणाम यह होता है कि संतुलन-कीमत भी कम हो जाती है और मांग व पूर्ति की मात्रा भी, जैसा कि नीचे रेखाचित्र 5.18 में दिखाया गया है।

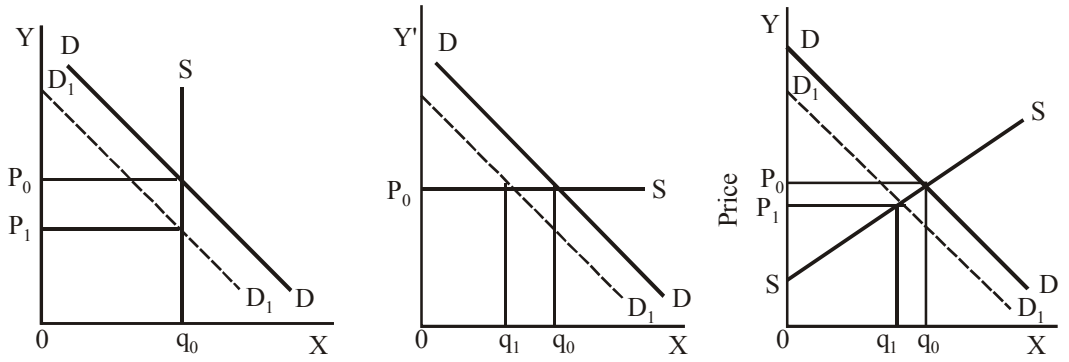
चित्र : 5.18



इस रेखाचित्र में, जब मांग वक्र DD बायीं ओर स्थानांतरण के बाद D_1D_1 हो जाता है, तो कीमत OPo से गिर कर Op_1 हो जाती है और व पूर्ति की मात्रा Oqo से घट कर Oq_1 रह जाती है।

बहरहाल जैसा कि नीचे दिए गए रेखाचित्र 5.19 में दिखाया गया है, यदि मांग वक्र का बायीं ओर स्थानांतरण दिया हुआ हो, तो पूर्ति वक्र को लोच जितनी कम होगी, उतनी ही कीमत में गिरावट अधिक होगी और बेची व खरीदी गई मात्रा में कमी कम होगी। दूसरे शब्दों में, मांग में कमी होने पर, पूर्ति की लोच जितनी अधिक होगी, कीमत पर असर उतना ही कम होगा और मात्रा पर ज्यादा। जब पूर्ति वक्र पूर्णतया बेलोच होता है, तो कीमत में गिरावट अधिकतम होती है जबकि खरीदी व बेची गई मात्रा में बिल्कुल कोई परिवर्तन नही होता। दूसरी ओर, पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचशील होने की स्थिति में, कीमत में कोई कमी नहीं आती और बेची व खरीदी गई मात्रा में कमी अधिकतम होती है। बीच वाली स्थिति में जबकि पूर्ति-वक्र न पूर्णतया लोचहीन होता है और न ही पूर्णतया लोचशील, (अर्थात् ऊपर की ओर उठते हुए पूर्ति वक्र की स्थिति में), कुछ हद तक कीमत में कमी आती है और कुछ हद तक बेची व खरीदी गई मात्रा में।

चित्र : 5.19



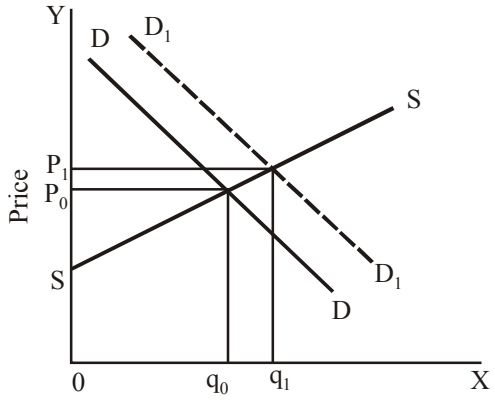
Quantity Demanded/Supplied

ऊपर रेखाचित्र (A) में, पूर्ति वक्र के पूर्णतया बेलोचदार होने की स्थिति में, मांग वक्र DD के बायीं ओर स्थानांतरण के फलस्वरूप, कीमत Op_o से गिर कर Op_1 हो जाती है जबकि बेची व खरीदी गई मात्रा Oq_o ही रहती है। दूसरी ओर रेखाचित्र (B) में पूर्ति वक्र P_oS के पूर्णतया लोचदार होने की स्थिति में कीमत Op_o पर स्थिर रहती है जबकि बेची व खरीदी गई मात्रा Oq_o से घट कर Oq_1 हो जाती है। रेखाचित्र (C) में ऊपर की ओर उठते हुए पूर्ति वक्र की स्थिति में कीमत में भी कुछ कमी होती है और बेची व खरीदी गई मात्रा में भी कमी होती है।

2. मांग वक्र का दायीं ओर स्थानांतरण—मांग में वृद्धि :

आमतौर पर, जब पूर्ति वक्र दिया हुआ हो, तो मांग वक्र के दायीं ओर स्थानांतरण के परिणामस्वरूप, संतुलन कीमत व बेची व खरीदी गई मात्रा, दोनों की प्रवृत्ति बढ़ने की होती है।

चित्र : 5.20

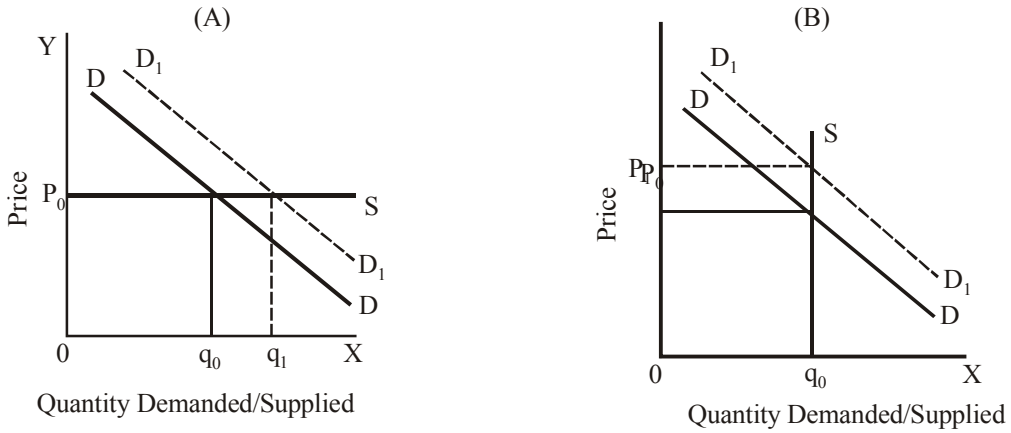


Quantity Demanded/Supplied

ऊपर दिए गए रेखाचित्र में, मांग वक्र DD के दायीं ओर स्थानांतरित होकर D_1D_1 हो जाने पर, कीमत Op_o से बढ़कर Op_1 हो जाती है और मात्रा Oq_o से बढ़कर Oq_1।

बहरहाल, मांग वक्र के दायीं ओर स्थानांतरण की दशा में, पूर्तिवक्र की लोच जितनी ही अधिक होगी, कीमत में वृद्धि उतनी ही कम होगी और मात्रा में वृद्धि ज्यादा। पूर्णतया लोचशील पूर्तिवक्र की अत्यधिक स्थिति में, कीमत में वृद्धि बिल्कुल नहीं होती और केवल बेची व खरीदी गई मात्रा ही बढ़ती है। दूसरी ओर, जब पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचहीन होता है, तो केवल कीमत में वृद्धि होती है और मात्रा स्थिर रहती है। यह रेखाचित्र 5.21 (A) व (B) में दिखाया गया है। रेखाचित्र (A) में पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचदार है, अतः मांग में वृद्धि के फलस्वरूप कीमत Op_o पर स्थिर रहती है जबकि मात्रा Oq_o से बढ़कर Oq_1 हो जाती है। दूसरी ओर रेखाचित्र (B) दिखाता है कि किस प्रकार, पूर्ति वक्र के पूर्णतया लोचहीन होने की स्थिति में, मात्रा Oq_o स्थिर रहती है जबकि कीमत में काफी वृद्धि हो जाती है।

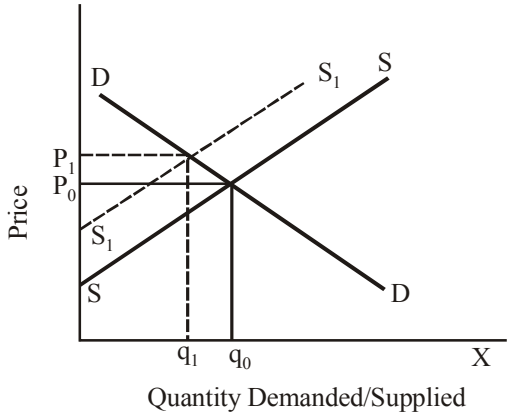
चित्र : 5.21



3. पूर्तिवक्र का स्थानांतरण और संतुलन :

(1) पूर्तिवक्र का बायीं ओर स्थानांतरण—पूर्ति में कमी—आमतौर पर, जब मांग वक्र दिया हुआ हो, तो पूर्ति वक्र के बायीं ओर स्थानांतरण के फलस्वरूप, कीमत की प्रवृत्ति बढ़ने की होती है और बेची व खरीदी गई मात्रा की घटने की। यह नीचे दिए गए रेखाचित्र 5.22 से स्पष्ट हो जाता है।

चित्र : 5.22

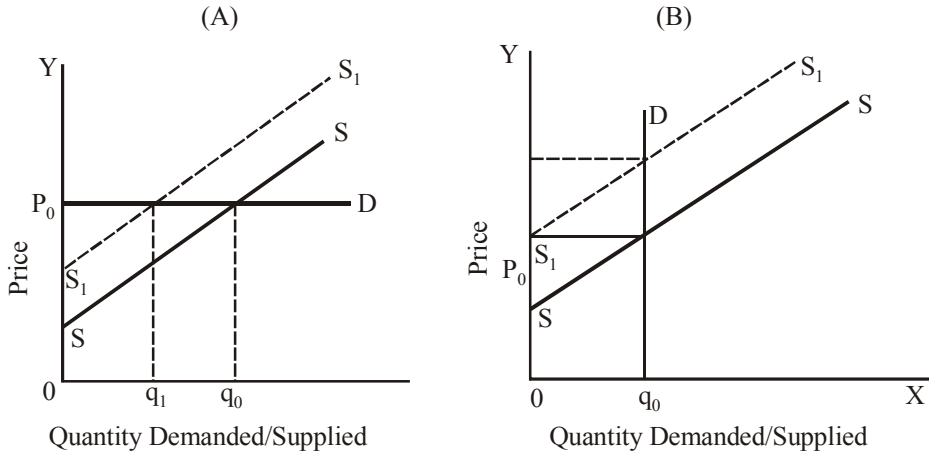


रेखाचित्र में, पूर्ति वक्र SS के बायीं ओर स्थानांतरित होकर S_1S_1 हो जाने पर कीमत Op_o से बढ़कर Op_1 हो जाती है जबकि Oq_o से घटकर Oq_1 रह जाती है।

बहरहाल, पूर्तिवक्र के बायीं ओर हटने की स्थिति में, मांग वक्र की लोच जितनी अधिक होगी, कीमत में वृद्धि उतनी ही कम होगी और बेची व खरीदी गई मात्रा में कमी उतनी ही ज्यादा। इसके विपरीत स्थिति में, ठीक इसके उल्टा होगा। यदि संयोग से मांग वक्र

पूर्णतया लोचशील हो, तो संतुलन कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता और केवल बेची व खरीदी गई मात्रा में ही कमी होती है। इसके विपरीत, यदि मांग वक्र पूर्णतया लोचहीन हो, तो मात्रा स्थिर रहती है जबकि कीमत में वृद्धि होती है। बीच की स्थिति में (अर्थात् जब मांग वक्र दायीं ओर नीचे की तरफ झुका हुआ हो), कुछ हद तक कीमत में वृद्धि होती है और कुछ हद तक मात्रा में कमी, जैसा कि रेखाचित्र 5.22 में दिखाया गया है। नीचे दिए गये रेखाचित्र 5.23 पूर्णतया लोचशील और पूर्णतया लोचहीन मांग वक्रों की अत्यधिक स्थितियां दर्शाते हैं।

चित्र : 5.23

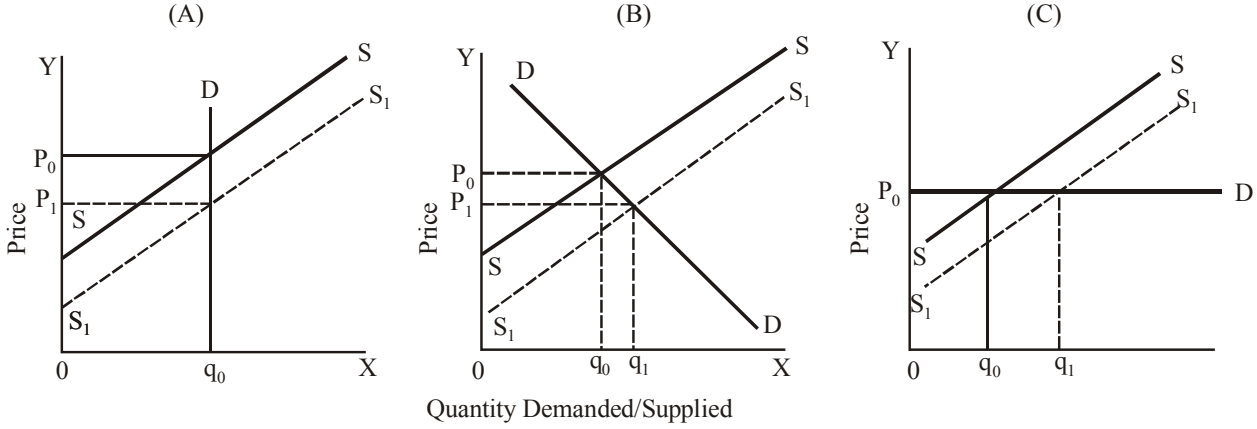


रेखाचित्र (A) पूर्णतया लोचशील मांग वक्र की स्थिति दर्शाता है जिसमें कीमत Op_o पर स्थिर रहती है जबकि मात्रा Oq_o से घटकर Oq_1 रह जाती है। इसके विपरीत रेखाचित्र (B) में, पूर्णतया लोचहीन मांग की स्थिति का चित्रण है जिसमें कीमत Op_o से बढ़कर Op_1 हो जाती है, किंतु मात्रा Oq_o पर ही स्थिर रहती है।

(2) पूर्ति वक्र का दायीं ओर स्थानांतरण-पूर्ति में वृद्धि :

पूर्ति वक्र के दायीं ओर खिकसने की स्थिति में परिणाम ऊपर बताए गए परिणामों के बिल्कुल विपरीत होते हैं। कोई भी मांग वक्र हो, पूर्ति वक्र के दायीं ओर खिसकने से, आमतौर पर संतुलन-कीमत की प्रवृत्ति गिरने की होती है औरमात्रा की बढ़ने की। बहरहाल, पूर्ति वक्र के दायीं ओर खिसकने की स्थिति में, मांग वक्र जितना अधिक लोचशील होगा, उतनी ही कीमत में गिरावट कम होगी और बेची व खरीदी जाने वाली मात्रा में वृद्धि अधिक। यदि मांग वक्र पूर्णतया लोचहीन है, तो बेची व खरीदी गई मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होगा और केवल कीमत में कमी होगी। इसके विपरीत यदि मांग वक्र पूर्णतया लोचशील हो, तो कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होगा जबकि बेची व खरीदी जाने वाली मात्रा बढ़ जाएगी। यह स्थितियाँ नीचे दिए गए रेखाचित्र में दिखाई गई हैं।

चत्र : 5.24



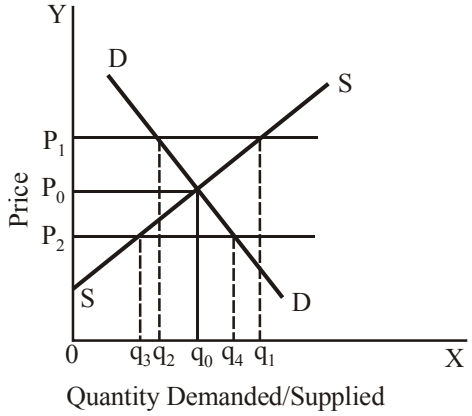
रेखाचित्र 5.24 (A) दिखाता है कि यदि मांग वक्र पूर्णतया लोचहीन हो, तो पूर्ति वक्र के दायीं ओर खिसकने पर केवल कीमत में कमी होती है जबकि मात्रा स्थिर रहती है। एक पूर्णतया लोचशील मांग वक्र की स्थिति में (रेखाचित्र C), बेची व खरीदी जाने वाली मात्रा Oq_o से बढ़कर Oq_1 हो जाती है जबकि कीमत Op_o पर स्थिर रहती है। बीच की स्थिति में (रेखाचित्र B), कीमत में कुछ कमी होती है और मात्रा में कुछ वृद्धि।

(4) कीमत को कृत्रिम रूप से संतुलन कीमत से ऊपर या नीचे रखने के संभव प्रभाव

संतुलन (अर्थात् वह बिंदु जहाँ एक कीमत पर मांगी गई मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है) की परिभाषा से ही यह स्पष्ट है कि किसी भी ऐसी कीमत पर, जो संतुलन कीमत से कम या अधिक है, मांगी गई मात्रा पूर्ति की मात्रा से अधिक होगी, या फिर पूर्ति की मात्रा मांगी गई मात्रा से अधिक होगी। केवल संतुलन कीमत पर ही दोनों मात्राएं बराबर होती हैं।

जैसाकि रेखाचित्र 5.25 में दिखाया गया है, DD मांग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र के साथ, संतुलन कीमत Op_o होगी और संतुलन मात्रा Oq_o। किसी भी ऐसी कीमत पर, जो संतुलन कीमत से अधिक है, पूर्ति की मात्रा मांगी गई मात्रा से अधिक होगी। उदाहरण के लिए, यदि किसी प्रकार बाजार कीमत को Op_1 पर रखा जाए, तो पूर्ति की मात्रा मांगी गई मात्रा से Oq_2q_1 अधिक होगी। दूसरी ओर, यदि कीमत को Op_2 पर रखा जाए, तो मांगी गई मात्रा पूर्ति से q_3q_4 अधिक होगी। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कीमत को संतुलन कीमत से अधिक रखने का स्थिति में पूर्ति-आधिक्य की दशा उत्पन्न हो जाती है जो बाजार कीमत को नीचे की ओर धकेलती हे। यदि कीमत को संतुलन कीमत से कम रखा जाए, तो मांग आधिक्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो बाजार कीमत को ऊपर की ओर धकेलती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूर्ति-आधिक्य की दशा में (जब कीमत को संतुलन कीमत से ऊपर रखा जाता है), उत्पादक दी हुई बाजार-कीमत पर अधिक मात्रा बेचने के इच्छुक होते हैं, किंतु खरीदारों की कमी होती है। इसके विपरीत, मांग-आधिक्य की दशा में, क्रेता दी हुई कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने के इच्छुक होते हैं, किंतु पूर्ति यथेष्ट नहीं होती। अगले प्रभाग में हम इस बात की व्याख्या करेंगे कि यदि जरूरत पड़े तो बाजार कीमत को संतुलन कीमत से ऊपर या नीचे कैसे कायम रखा जा सकता है और इसके क्या प्रभाव हो सकते हैं।

चित्र : 5.25



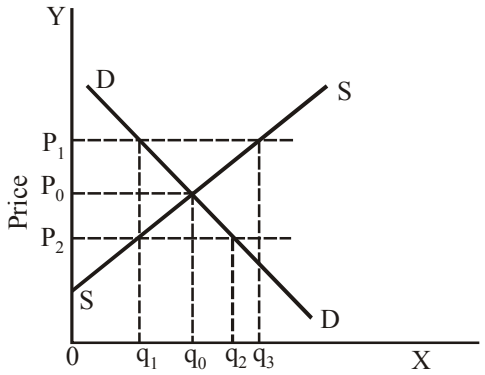
प्रभाग - III

1. कीमत नियंत्रण और राशनिंग : जब कभी प्राकृतिक या मानव-निर्मित कारणों से किसी आवश्यक वस्तु की कमी हो जाती है, तो सरकार उसकी कीमत-वृद्धि पर नियंत्रण रखने के लिये उसकी अधिकतम कीमत निर्धारित कर देती है। इस समय हमारी सरकार बहुत-सी वस्तुओं की कीमतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करके मुद्रा-स्फीति की दर को नियंत्रित करने का प्रयत्न कर रही है। यदि कीमतों को मांग व पूर्ति की बाजार-शक्तियों द्वारा निर्धारित होने के स्थान पर उनका कानून द्वारा निर्धारण किया जायें, तो आपके विचार में इसका क्या परिणाम होगा?

अधिकतम कीमत निर्धारित करने का उद्देश्य है कीमत को एक इच्छित स्तर के ऊपर न जाने देना। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि कानून द्वारा निर्धारित अधिकतम कीमत संतुलन कीमत से अधिक है, तो इसका न तो बाजार कीमत पर कोई प्रभाव पड़ेगा, न मात्रा पर। यह रेखाचित्र 5.26 से स्पष्ट हो जाता है।

Op_o संतुलन कीमत है। यदि अधिकतम कीमत इससे अधिक, मान लो Op_1 निर्धारित की जाये, तो यह अवश्य ही गिर कर संतुलन कीमत के बराबर पहुंच जाएगी। ऐसी स्थिति में, बाजार कीमत संतुलन-स्तर पर ही स्थिर रहेगी। इसके विपरीत, यदि अधिकतम कीमत संतुलन कीमत से नीचे, मान लो Op_2 पर, निर्धारित की जाये, तो संतुलन कीमत कानून द्वारा निषिद्ध हो जाएगी। इस (बाजार) कीमत पर, विक्रेता वस्तु की Oq_1 मात्रा की ही पूर्ति करने को तैयार होंगे जबकि क्रेता इसकी Oq_2 मात्रा खरीदने को तैयार होंगे। दूसरे शब्दों में, बाजार में q_1q_2 के बराबर मांग-आधिक्य उत्पन्न हो जाएगा।

चित्र : 5.26



Quantity Demanded/Supplied

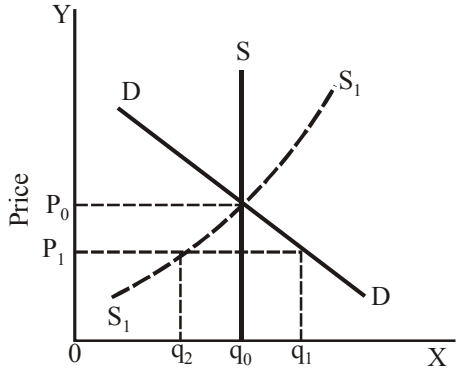
मांग आधिक्य की स्थिति में, यदि उपलब्ध पूर्ति का किसी प्रकार की राशनिंग द्वारा क्रेताओं में आवंटन न किया जाये तो क्रेता अधिकाधिक कीमत पर वस्तु की सीमित मात्रा को खरीदने का प्रयत्न करेंगे। यदि सख्ती से राशन-प्रणाली को लागू किया जाये, तो एक ऐसे काला-बाजार का जन्म होगा जिसमें वस्तु कानून द्वारा निर्धारित कीमत से अधिक कीमत पर बिकेंगी। आमतौर पर होता यह है कि राशन-प्रणाली को सख्ती से लागू करने पर भी, वस्तु की सीमित मात्रा का कुछ हिस्सा नियंत्रित कीमत पर बिकता है और कुछ काला बाजार कीमत पर।

किराया नियंत्रण—एक उदाहरण : कई बार सरकार उचित किराए पर लोगों को रहने के मकान उपलब्ध कराने के लिए, कानून द्वारा निजी मकानों के अधिकतम किराये का निर्धारण करती है। उदाहरणार्थ, देहली में एक किराया नियंत्रण कानून लागू है। रहने के मकानों के विषय में एक विशेष बात यह है कि अल्पकाल में उनकी पूर्ति स्थिर होती है—पूर्णतया लोचहीन। एक बार जब मकानों का निर्माण हो जाता है, तो मकान-मालिकों के पास उन्हें किराये पर (जो भी किराया मिले) देने के अलावा और विकल्प नहीं रहता। (इसमें मान्यता है कि उन्हें स्वयं मकान की जरूरत नहीं।) मकान खाली रखने से किसी भी किराये पर उसे देना वे बेहतर समझते हैं। जैसाकि रेखाचित्र 5.27 में दिखाया गया है, अल्पकाल मे किराया नियंत्रण का प्रभाव यह होता है कि किराया Op_o से कम Op_1 करने पर मकानों की कमी हो जाती है क्योंकि मकानों की मांग Oq_o से बढ़कर Oq_1 हो जाती है जबकि पूर्ति स्थिर रहती है।

हाँ, समय के साथ-साथ, मकानों से किराये के रूप में कम प्रतिफल मिलने के कारण, मकानों की पूर्ति कम होती जायेगी। लोग किराये पर देने के लिए नए मकान बनाएंगे नहीं और पुराने मकानों का अनुरक्षण (रख-रखाव) नहीं करेंगे। वास्तव में, यदि कानून द्वारा निर्धारित किराया रख-रखाव की लागत से भी कम है, तो मकान-मालिक अपने मकानों का पूरी तरह परित्याग कर देंगे और समय के साथ उन्हें गिरने-ढहने देंगे। इसके परिणामस्वरूप, पूर्ति वक्र अधिक लोचदार होता जाएगा (जैसे रेखाचित्र 5.27 में S_1S_1 वक्र)। पूर्ति के लोचशील हो जाने पर, पूर्ति नयी स्थिति में और भी कम होकर Oq_2 रह जाएगी जिससे मकानों की कमी (अर्थात् मांग अंतराल) q_oq_1 से बढ़कर q_2q_1 हो जायेगी।

मकानों की कमी की स्थिति में किरायेदार अधिकाधिक किराये के प्रस्तावों द्वारा मकानों की उपलब्ध पूर्ति के लिये प्रतिस्पर्धा करेंगे। क्योंकि कानून एक सीमा से अधिक किराया लेने की आज्ञा नहीं देता, मालिक नये किरायेदारों से 'प्रवेश फीस' (पगड़ी) इत्यादि के रूप में एक मुश्त राशि लेने लगेंगे। जब ऐसा करना (अर्थात् इस प्रकार की राशि लेना) संभव हो जाय, तो मकान मालिकों को इस बात की भी प्रेरणा मिलेगी कि वे नये किरायेदारों से 'पगड़ी' लेने के लालच में बैठे हुये किरायेदारों को निकाल दें।

चित्र : 5.27



Quantity Demanded/Supplied

2. न्यूनतम कीमत कानून : कभी-कभी समाज के कुछ विशेष वर्गों के हितों की रक्षा के उद्देश्य से सरकार के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह कानून द्वारा ऐसी न्यूनतम कीमतें निर्धारित कर दे जिनसे कम कीमतों पर किन्हीं वस्तओं और सेवाओं को खरीदा या बेचा न जा सके। इसके कुछ उदाहरण हैं : श्रम की विभिन्न श्रेणियों के लिये न्यूनतम वेतन कानून, कृषि वस्तुओं के लियं न्यूनतम या समर्थित कीमतें (Support price or floor price), पुनर्विक्रय कीमत निर्धारण आदि।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि न्यूनतम कीमत निर्धारित करने की आवश्यकता तभी पड़ती है जब यह समझा जाये कि मुक्त (अर्थात् अनियंत्रित) बाजार कीमत इच्छित स्तर से नीचे है। अतः मुक्त बाजार कीमत से कम कीमत निर्धारित करने का न तो कोई अर्थ है, न फायदा। इस प्रकार के कीमत निर्धारण की स्थिति में, बाजार कीमत व न्यूनतम कीमत कानून में कोई विरोध नहीं होगा। इसके विपरीत, जब कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम कीमत बाजार-कीमत से अधिक होती है, तो कानून बाजार कीमत पर वस्तु को बेचने की आज्ञा नहीं देता। जैसाकि हम ऊपर व्याख्या कर चुके हैं, यदि निर्धारित कीमत संतुलन कीमत से अधिक हो, तो पूर्ति-आधिक्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है अर्थात्-क्रेता वस्तु की जितनी मात्रा खरीदने के इच्छुक होते हैं, विक्रेता उससे अधिक मात्रा बेचने को तैयार होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो क्रेताओं की कमी हो जाती है और विक्रेता क्रेताओं को कई प्रकार आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं—कीमत कम करके, कानून से बचाव के रास्ते निकाल कर या फिर कानून का पूरी तरह उल्लंघन करके। उदाहरण के लिए, जब श्रम की किन्हीं श्रेणियों के लिए न्यूनतम वेतन का निर्धारण किया जाता है, तो इससे बेरोजगारी उत्पन्न होती है जिससे श्रमिकों को न्यूनतम वेतन से कम वेतन पर अपना श्रम बेचने को मजबूर हो जाते हैं। प्रायः हम ऐसी शिकायत सुनते हैं कि देहली में प्राइवेट स्कूल अध्यापकों को जितनी तनख्वाह देते हैं व जिस पर उनके हस्ताक्षर दिखाते हैं, वास्तव में उन्हें उससे कम तनख्वाह देते हैं। छोटी दुकानों, कारखानों वर्कशापों, आदि में भी प्रायः ऐसा ही होता है।

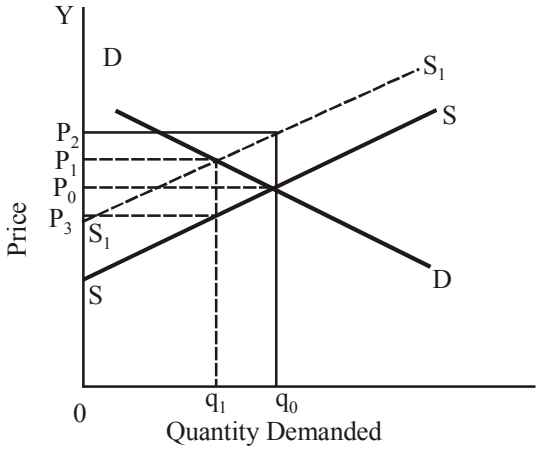
(3) वस्तु-करों का आपात : पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में सरकार की आय के मुख्य स्रोत वस्तुओं पर कर (अप्रत्यक्ष कर) होते हैं, जैसे, बिक्री कर, उत्पादन शुल्क, आयात व निर्यात कर आदि। कीमत सिद्धांत हमें इन करों के वस्तुओं की मात्रा व कीमत पर प्रभावों के विषय में क्या बताता है? कर वास्तव में कौन देता है—क्रेता या उत्पादक?

जैसाकि रेखाचित्र 5.28 में दिखाया गया है, वस्तु कर का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि वस्तु की पूर्ति वक्र वस्तुकर की मात्रा के बराबर पूरा ऊपर उठ जाता है अर्थात् बायीं ओर खिसक जाता है। इस रेखाचित्र में, वस्तु पर P_op_2 के बराबर कर लगने पर, आरंभिक पूर्ति वक्र SS अपना स्थान बदल कर S_1S_1 हो जाता है। नया पूर्ति वक्र S_1S_1 यह बताता है कि कर के लगने से पहले की स्थिति की तुलना में वस्तु की प्रत्येक मात्रा की पूर्ति अब पहले से अधिक कीमत पर की जाती है क्योंकि अब कीमत का एक अंश सरकार कर के रूप में ले लेती है। नया-पूर्ति वक्र मांग वक्र को नए नये बिंदु पर काटता है जिसके फलस्वरूप कीमत Op_1 और मात्रा Oq_1 निर्धारित होती है। अतः वस्तु पर कर लगने के फलस्वरूप, कुछ तो उसकी कीमत में वृद्धि होती है, कुछ खरीदी व बेची जाने वाली मात्रा में कमी। वस्तु कर का वही प्रभाव होता है जो पूर्ति में कमी का। यह बात ध्यान से नोट करने की है कि क्रेताओं द्वारा दी जाने वाली कीमत में वृद्धि ($=p_op_1$) कर की मात्रा ($=p_op_2$) से कम होती है और कर देने के पश्चात् जो कीमत उत्पादकों को मिलती है, वह पहले से p_op_3 कम होती है। दूसरे शब्दों में, क्रेता के प्रति इकाई कर का p_op_1 भाग अदा करते हैं और उत्पादक p_op_3। कर आपात

का अर्थ है कि कर वास्तव में कौन देता है। जिस स्थिति की हम बात कर रहे हैं, उसमें कर का आपात अंशतः क्रेताओं पर पड़ता है और अंशतः उत्पादकों पर–p_op_1/p_op_3 के अनुपात में।

जब मांग व पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचशील व पूर्णतया लोचहीन न हो, तो आमतौर पर कीमत में होने वाली वृद्धि कर की मात्रा से कम होगी। किंतु मांग व पूर्ति वक्रों की सापेक्ष लोच के अनुसार, स्थिति इससे भिन्न भी हो सकती है।

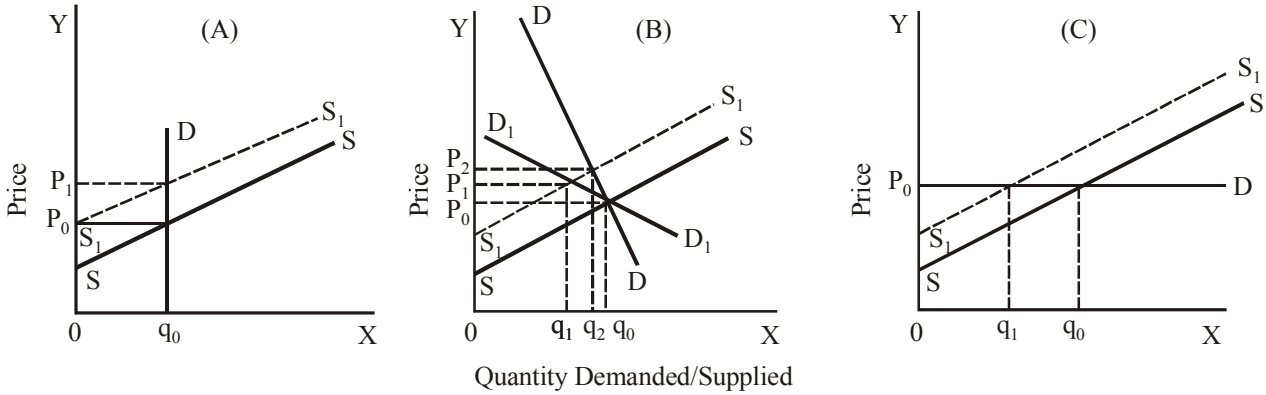
चित्र : 5.28



(4) मांग व पूर्ति की लोच का प्रभाव : नीचे दिये गए रेखाचित्रों 5.29 से, करोत्तर कीमत (टैक्स के पश्चात् कीमत) के निर्धारण तथा कर-आपात के वितरण में, मांग व पूर्ति की लोच की भूमिका स्पष्ट हो जाती है।

तीनों रेखाचित्रों में एक ही पूर्ति वक्र SS खींचा गया है जो p_op_1 के बराबर प्रति इकाई कर लगने पर समान रूप से ऊपर उठ जाता है व S_1S_1 हो जाता है। आरंभिक मांग व पूर्ति वक्रों के कटान द्वारा निर्धारित कर-पूर्व कीमत व मात्रा भी तीनों रेखचित्रों में समान है। करोत्तर कीमत व मात्रा पर मांग की लोच के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए और कर-आपात का वितरण जानने के लिए, भिन्न-भिन्न लोच वाले तीन मांग वक्र खींचे गए हैं।

चित्र : 5.29



रेखाचित्र 5.29 (A) में, मांग वक्र पूर्णतया लोचहीन है जिसके परिणामस्वरूप करोत्तर कीमत Op_1 कर-पूर्व कीमत Op_o से उतनी ही अधिक है जितनी कर की मात्रा। ध्यान दीजिए कि बेची व खरीदी गई मात्रा उतनी ही रहती है। इसके विपरीत, रेखाचित्र (C) स्थिति का दूसरा छोर दिखाता है जिसमें मांग वक्र पूर्णतया लोचशील है। इस स्थिति में कीमत में वृद्धि बिल्कुल नहीं होती, केवल खरीदी व बेची जाने वाली मात्रा में ही कमी होती है। रेखाचित्र (B) में हमने बीच की स्थिति दिखाई है जिसमें मांग वक्र की लोच शून्य से अधिक तथा अनंत से कम के बीच में है। इस स्थिति में करोत्तर कीमत प्रारंभिक कीमत से अधिक होती है, किंतु कर की पूरी मात्रा जितनी अधिक नहीं। इस रेखाचित्र में हमने भिन्न-भिन्न लोच वाले दो मांग वक्र (DD और D_1D_1) खींचे हैं। D_1D_1 वक्र की लोच DD वक्र की लोच से अधिक है। इसके फलस्वरूप, DD मांग वक्र की तुलना में D_1D_1 मांग वक्र की स्थिति में कर लगाने के कारण कीमत

में होने वाली वृद्धि कम होगी। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मांग वक्र की लोच जितनी अधिक होगी, उतना ही उपभोक्ताओं पर कर आपात कम होगा और उत्पादकों पर ज्यादा। दूसरे शब्दों में, अपेक्षाकृति अधिक लोचशील मांग वक्र की स्थिति में, उपभोक्ता करोत्तर कीमत वृद्धि का कम भाग अदा करेंगे और उत्पादकों को मिलने वाली कर निवल कीमत में कमी अधिक होगी। पूर्णतया लोचशील मांग वक्र की आत्यन्तिक स्थिति में, कीमत में वृद्धि बिल्कुल नहीं होगी तथा कर का पूरा बोझ उत्पादकों पर पड़ेगा। दूसरी ओर, एक पूर्णतया लोचहीन मांग वक्र की स्थिति में कीमत में वृद्धि कर पूरी मात्रा बराबर होती है, अतः कर का पूरा बोझ उपभोक्ताओं पर पड़ता है।

भाग IV

कृषि की समस्याएं : कृषि एक समस्यायुक्त उद्योग है। भोजन जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक है। फिर भी, पिछली लगभग दो शताब्दियों के दौरान, अधिकांश अर्थव्यवस्थाओं में, कृषि में लगी जनसंख्या के प्रतिशत में निरंतर कमी हुई है और इसके साथ ही, गैर-कृषि कीमतों की तुलना में कृषि वस्तुओं की कीमतों में भी गिरावट आई है। इसके फलस्वरूप, जो लोग कृषि क्षेत्र में रह गए हैं, उनकी आय राष्ट्रीय औसत से काफी कम है। इसीलिए सरकारों को कई प्रकार से हस्तक्षेप करने की जरूरत महसूस होती है। सरकार द्वारा उठाए गए कदमों और उनके परिणामों को समझने के लिए, यह आवश्यक है कि हम कृषि की उन विशेषताओं को ध यान में रखें जिनके कारण कृषि में समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

कृषि वस्तुओं की पूर्ति की समस्याएं : गैर-कृषि वस्तुओं की तुलना में, कृषि-वस्तुओं की पूर्ति (सामूहिक रूप से—किसी एक वस्तु की स्थिति भिन्न हो सकती है) काफी लोचहीन होती है जिसके कई कारण हैं। पहले तो, कृषि उत्पादन के लिए सबसे आवश्यक साधन है भूमि जिसकी पूर्ति सभी अर्थव्यवस्थाओं में लगभग स्थिर होती है। अतः अधिक भूमि पर खेती करके कृषि उत्पादन में वृद्धि करने की संभावना, विशेषकर अल्पकाल में, बहुत ही सीमित होती है। दूसरे, कृषि-उत्पादन की समय संरचना लोचहीन होती है क्योकि प्राकृतिक-प्रक्रियाओं को पूरा होने के लिए एक निश्चित समयावधि चाहिए। हम चाहें भी तो इन प्रक्रियाओं को न अधिक लंबा कर सकते हैं, न छोटा। अतः एक निश्चित समयावधि (जैसा एक वर्ष) में, उसी भूमि पर अधिक बार खेती करके, उत्पादन को बढ़ाया नहीं जा सकता। उद्योग की स्थिति इसके विपरीत है। एक निश्चित समयावधि में, उसी साज-सज्जा का अधिक या कम सघनता से प्रयोग करके, औद्योगिक उत्पादन को काफी हद तक बढ़ाया या कम किया जा सकता है।

तीसरे, कृषि-कीमतें कम होने पर भी, (1) किसानों की अधिकांश लागतें उसी प्रकार चलती रहती हैं और वे उत्पादन कम करके उनमें कमी नहीं कर सकते तथा (2) किसान उत्पादन बढ़ाने में अधिक प्रयास लगा कर, अपने परिवार की आय स्थिर रखने की जी-जान से कोशिश करते हैं। इन कारणों से, कृषि वस्तुओं की पूर्ति काफी लोचहीन होती है। कृषि वस्तुओं की पूर्ति की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें ऐसे प्राकृतिक कारणों से बहुत अधिक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं जिन पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं होता जैसा वर्षा, बाढ़, कीट, कोहरा, तेज हवा इत्यादि। जब प्रकृति बहुत अनुकूल होती है, तो कृषि उत्पादन अनुमान से बहुत अधिक हो जाता है, जब कि प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्पादन बहुत कम रह जाता है।

अतः कृषि वस्तुओं की पूर्ति, मानव-नियंत्रण के बाहर होने के कारण और प्राकृतिक कारकों पर अत्यधिक निर्भर होने के कारण, न केवल लोचहीन होती है, अपितु उसमें प्रतिवर्ष अत्यधिक उतार-चढ़ाव भी आते रहते हैं।

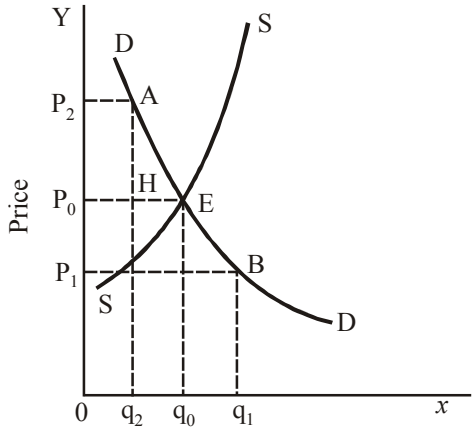
2. कृषि-वस्तुओं की मांग की विशेषताएं : अधिकांश कृषि-वस्तुओं की मांग, कीमत तथा आय दोनों में परिवर्तन के प्रत्युत्तर में, आमतौर पर काफी लोचहीन होती है। ये वस्तुएं प्रायः जीवन की ऐसी मूलभूत आवश्यकताएं होती हैं जिनकी स्थानापन्न वस्तुएं नहीं होती तथा जिनके उपभोग को, कीमतों में परिवर्तन होने पर, न ज्यादा बढ़ाया जा सकता है न घटाया जा सकता है। अतः इन वस्तुओं की मांग की लोच बहुत कम होती है। दूसरे, यह भी एक प्रामाणिक तथ्य है कि ज्यों-ज्यों हमारी आय बढ़ती है, भोजन पर होने वाले हमारे व्यय में वृद्धि अनुपात से कम होती है। इस प्रकार कृषि वस्तुओं की मांग की न केवल कीमत लोच, अपितु आय-लोच भी कम होती है। कृषि-वस्तुओं के उत्पादन में आने वाले अत्यधिक उतार-चढ़ावों के साथ-साथ (जो कृषि की प्रकृति पर अत्यधिक निर्भरता के कारण आते हैं), उनकी मांग व पूर्ति की कम लोच के न केवल किसानों पर, अपितु अर्थव्यवस्था पर बड़े दूरगामी प्रभाव पड़ते हैं। अब हम इन प्रभावों की चर्चा करेंगे।

(3) कृषि-कीमतों में अल्पकालिक उतार-चढ़ाव तथा किसानों की आय : एक ओर तो कृषि उत्पादन की पूर्ति काफी लोचहीन होती है, और दूसरी ओर, उसमें मानव के नियंत्रण के बाहर प्राकृतिक कारणों से प्रतिवर्ष उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसके

साथ ही कृषि वस्तुओं की मांग भी काफी लोचहीन होती है। इन दोनों बातों का संयुक्त प्रभाव यह पड़ता है कि कृषि उत्पादन तथा कृषि-कीमतों (अतः कृषि आयों) में आने वाले उतार-चढ़ाव विपरीत दिशाओं में होते हैं। यह नीचे के रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है।

इस रेखाचित्र में पूर्ति वक्र SS उन मात्राओं को दर्शाता है जिन्हें किसान विभिन्न कीमतों पर उत्पादित करने की योजनाएं बनाते हैं। मांग वक्र DD उन मात्राओं को दिखाता है जिन्हें विभिन्न कीमतों पर क्रेता खरीदने को तैयार होते हैं। यदि उत्पादन योजनाएं पूरी हो जाएं, तो Op_o संतुलन-कीमत होगी और Oq_o संतुलन मात्रा जैसाकि इस रेखाचित्र में दिखाया गया है। मान लो, अच्छे और बुरे वर्षों को मिलाकर, उत्पादन Oq_2 और Oq_1 के बीच रहता है। बुरे वर्षों को मिलाकर, उत्पादन Oq_2 और Oq_1 के बीच रहता है। बुरे वर्ष मे जबकि उत्पादन Oq_2 ही रह जाता है, बाजार-कीमत बढ़कर Op_2 हो जाती है, जबकि अच्छे वर्ष में, उत्पादन Oq_1 हो जाने पर कीमत गिरकर Op_1 रह जाती है। इस प्रकार, कृषि उत्पादन के Oq_2 व Oq_1 के बीच घूमती है।

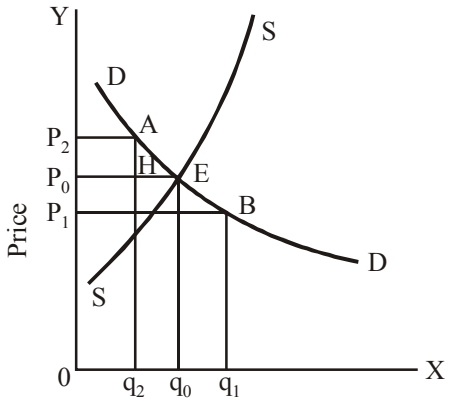
चित्र : 5.30



Quantity Demanded/Supplied

रेखाचित्र 5.30 तथा 5.31 में, मांग की लोच के कीमत पर पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। रेखाचित्र 5. 30 के मांग वक्र की तुलना में रेखाचित्र 5.31 का मांग वक्र कहीं अधिक चपटा (अर्थात् अधिक लोचशील) है। दोनों रेखाचित्रों के पूर्ति वक्र तथा कृषि उत्पादन की सीमाएं समान हैं। मांग वक्र की लोच अधिक होने के परिणामस्वरूप रेखाचित्र 5.30 की तुलना में रेखाचित्र 5.31 में, कीमत में आने वाले उतार चढ़ाव कम हैं। इसका कारण है दोनों मांग-वक्रों की लोच में अंतर।

चित्र : 5.31



Quantity Demanded/Supplied

पहले हमने मांग की लोच को मापने के संदर्भ में यह कहा था कि जब किसी वस्तु की मांग की लोच इकाई से कम होती है, तो कीमत गिरने पर उपभोक्ताओं का उस वस्तु पर कुल व्यय कम हो जाता है और कीमत बढ़ने पर कुल व्यय बढ़जाता है। उपभोक्ताओं का कृषि वस्तुओं पर व्यय ही किसानों की आय बनता है। यह एक विरोधाभास ही है कि प्रकृति अप्रत्याशित रूप से दयालु होती है और फसल बहुत अच्छी होती है, तो किसान अपनी आय पहले से कम पाते हैं, जबकि प्रकृति के प्रतिकूल होने पर फसल खराब होने

पर, उनकी आय में वृद्धि होती है। इस प्रकार, एक मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था में, कृषि आय व कृषि-उत्पादन में आने वाले उतार-चढ़ाव विपरीत दिशा में होते हैं। ऐसा लगता है कि किसानों और पूरे समाज के हितों में परस्पर विरोध है यही कारण है कि सरकारें कृषि-कीमतों व आयों में कुछ स्थिरता लाने के उद्देश्य से, स्थिति में हस्तक्षेप करने की जरूरत महसूस करती है।

4. कृषि स्थिरीकरण कार्यक्रम : कृषि स्थिरीकरण कार्यक्रमों के दो उद्देश्य होते हैं : (1) कीमतों के उतार-चढ़ाव को कम या दूर करना; और (2) कृषि-आयों के उतार-चढ़ावों को कम या दूर करना। जैसा कि हम आगे देखेंगे, ये उद्देश्य सदा एक दूसरे के अविरोधी नहीं होते।

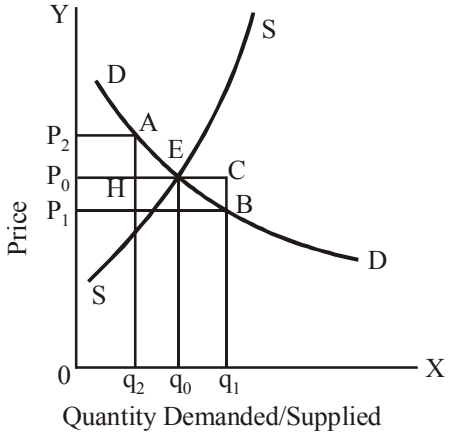
(1) उत्पादक-संघ के द्वारा स्थिरीकरण : रेखाचित्र 5.31 के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि कीमतों व आयों में आने वाले उतार-चढ़ावों को दूर करने का एक उपाय है बाजार में आने वाले कृषि उत्पादन की पूर्ति को नियंत्रित करके औसत उत्पादन स्तर के बराबर रखना—वास्तविक उत्पादन में चाहे कितने ही उतार-चढ़ाव आएं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक अच्छे वर्ष में, जबकि उत्पादन Oq_1 है, वास्तविक व औसत उत्पादन के अंतर (अर्थात् q_oq_1) को बेचने की बजाय उसे संग्रहीत करना पड़ेगा। इसके विपरीत, एक खराब वर्ष में, जबकि उत्पादन केवल Oq_2 है, औसत उत्पादन के मुकाबले में वास्तविक उत्पादन की कमी (q_2q_o) को अच्छे वर्षों में किए गए संग्रह से पूरा करना पड़ेगा। इस प्रकार यदि वास्तविक बिक्री को नियंत्रित करके औसत उत्पादन स्तर (अर्थात् Oq_o) के बराबर रखा जा सके, तो उत्पादन में आने वाले उतार-चढ़ाव के बावजूद, कीमत-स्तर को ?? पर और आय स्तर को Oq_oxOp_o पर स्थिर किया जा सकता है। बहरहाल, ऐसी नीति एक-एक किसान द्वारा अलग-अलग लागू नहीं की जा सकती, अपितु इसके लिए किसानों की किसी सामूहिक एजेंसी जैसे उत्पादक सहकारी समिति अथवा उत्पादक संघ की जरूरत है।

(2) सरकारी बिक्री व खरीद के माध्यम से स्थिरीकरण : व्यवहार में, सरकारें अपनी खरीद व बिक्री क्रियाओं के माध्यम से कृषि-कीमतों के स्थिरीकरण का कार्यक्रम लागू करती हैं। इसके लिए सरकार को पहले एक ऐसे औसत-कीमत-स्तर का निर्धारण करना पड़ता है जो इसके विचार में, ऐसी स्थिति में प्रचलित होगा जब उत्पादन में कोई उतार-चढ़ाव न होंगे और वह सदा अपने औसत स्तर पर होगी। उचित कीमत स्तर का निर्धारण करने के बाद, सरकार खुले बाजार में इस पूर्व निर्धारित कीमत कीमत पर कृषि-उत्पादन खरीद लेती है और जिस वर्ष में भी उत्पादन अपने औसत स्तर से अधिक होता है, वह अपने संग्रह में वृद्धि करती है। इसके विपरीत, जब भी कृषि उत्पादन अपने औसत स्तर से कम होता है, सरकार अपने एकत्रित संग्रह में से पूर्व-निर्धारित कीमत पर कृषि-उत्पाद बेचती है।

बहरहाल, यह नीति कीमत-स्तर स्थिरीकरण करने में तो सफल हो जाती है, कृषि आयों का नहीं। इसका सीधा कारण यह है कि जब सरकार एक पूर्व-निर्धारित कीमत पर कृषि उत्पादन बेचने व खरीदने को तैयार रहती है, तो प्रत्येक किसान का सामना एक पूर्णतया लोचशील मांग वक्र से होता है। किसान चाहे कितना उत्पादन करे, सरकार द्वारा निर्धारित कीमत पर वह उसे बेच सकता है। स्पष्ट है कि यदि कीमत को स्थिर रखा जाये और किसान प्रति वर्ष अपना सारा उत्पादन उस पर बेचें, तो उत्पादन में आने वाले उतार-चढ़ावों के अनुरूप ही उनकी आय में उतार-चढ़ाव आयेंगे। यही नीचे दिए गए रेखाचित्र 5.32 में दिखाया गया है।

एक खराब वर्ष में, जबकि उत्पादन Oq_2 है, और कृषि-आय Oq_2xOp_2 (अर्थात् Oq_2Ap_2 आयत के क्षेत्रफल) के बराबर होगी। किंतु यदि सरकार द्वारा निर्धारित कीमत Op_0 है और वह उस पर q_2q_o मात्रा बेचती है, तो किसानों को कुल आय Oq_2xOp_o (अर्थात् आयत Oq_2bp_o के क्षेत्रफल) के बराबर होगा क्योकि वे भी Op_o कीमत पर ही अपना उत्पादन बेच सकेंगे। इसके विपरीत, अच्छे वर्ष में, यदि सरकार कोई हस्तक्षेप न करे, तो बाजार-कीमत Op_1 होगी और कृषि-आय Op_1xOq_1 (अर्थात् Oq_1Bp_1 आयत के क्षेत्रफल) के बराबर होगी। किंतु यदि सरकार खरीद के माध्यम से कीमतOp_0 पर स्थिर रखाी जाए, तो कृषि आय Oq_1xOq_0 (अर्थात् आयत Oq_1 Op_o के क्षेत्रफल के बराबर होगी। इस प्रकार सरकारी नीति कीमत-स्तर का तो स्थिरीकरण कर देगी, किंतु कृषि-आयों का स्थिरीकरण करने में असफल रहेगी। सरकारी हस्तक्षेप के अभाव में अच्छी फसल का परिणाम होगा कृषकों की निम्न आय और खराब फसल का परिणाम होगी अधिक आय। इस प्रकार, यदि कीमतें स्थिर हों, तो कृषि-आयों में परिवर्तन उत्पादनमें आने वाले उतार-चढ़ावों के अनुरूप होंगे, और यदि कीमतें मुक्त बाजार में निर्धारित हों, तो कृषि-आयों में आने वाले परिवर्तन उत्पादन के परिवर्तनों के विपरीत होंगे।

चित्र : 5.32



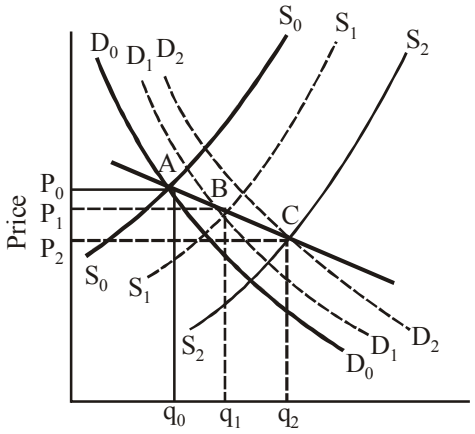
सरकार कृषि-आयों का स्थिरीकरण कैसे कर सकती है? आपको याद होगा कि जब बेची जाने वाली मात्रा में परिवर्तन कीमत के परिवर्तन के विपरीत (किंतु उसी अनुपात में) होता है, तो वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय स्थिर रहता है। इसका निहितार्थ यह हुआ कि अच्छे व खराब वर्षों में, सरकार को कीमत में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहिए कि, उत्पादन की मात्रा चाहे कुछ भी हो, कुल कृषि-आय एक उचित स्तर पर स्थिर रहे।

यदि उपर्यक्त नीति को ठीक प्रकार लागू किया जाए, तो (1) उस स्थिति की तुलना में जबकि कीमतों का निर्धारण मांग व पूर्ति की स्वतंत्र शक्तियों द्वारा होता है, कीमतों में आने वाले उतार-चढ़ाव कम होंगे, (2) कृषि आयों का स्थिरीकरण होगा, और (3) सरकार पर कोई वित्तीय बोझ नहीं पड़ेगा क्योंकि यह कम कीमत पर खरीदेगी और अधिक पर बेचेगी। बहरहाल, इस नीति को लागू करने में जो समस्याएं आती हैं, वे अनिश्चितता और राजनीतिक दबाव के कारण उत्पन्न होती है। एक तो सरकार को औसत उत्पादन-स्तर और उचित आय-स्तर (जिसे कायम किया जाए) का ठीक ज्ञान नहीं होता। दूसरे बहुधा किसानों के दबाव में आकर, सरकारें अधिक ऊंची कीमतों का निर्धारण करके, कृषि आयों का भी अधिक ऊंचे स्तर पर स्थिरीकरण कर देती हैं। एक लंबे समय तक इस नीति को अपनाने का परिणाम यह होता है कि कृषि वस्तुओं के अनबिके भंडार इकट्ठे हो जाते हैं जिन्हें या तो नष्ट करना पड़ता है, या विदेशी बाजारों में पटकना पड़ता है, या फिर स्वदेश में कम कीमत पर बेचना पड़ता है। हर स्थिति में, अधिक ऊंची कीमत निर्धारित करने का बोण कर-दाता को ही वहन करना पड़ता है। किंतु यदि सरकार उचित कीमत-स्तर पर कृषि आय का निर्धारण करने में सफल हो जाये, तो उससे सरकार को काफी लाभ हो सकता है क्योंकि अधिकांश समय, सरकार कम कीमत पर खरीदेगी और अधिक कीमत पर बेचेगी।

5. कृषि की दीर्घकालिक समस्या : कृषि की दीर्घकालिक समस्या का संबंध उत्पादिता में होने वाले परिवर्तनों और मांग की संरचना में होने वाले ऐसे परिवर्तनों से है जो उत्पादिता-वृद्धि के कारण वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप आते हैं।

उत्पादन के सभी क्षेत्रों में उत्पादिता निरंतर बढ़ रही है। वास्तव में, उद्योग की तुलना में कृषि में उत्पादिता अधिक तीव्र गति से बढ़ी है। उत्पादिता बढ़ने से पूर्ति वक्र दायीं ओर खिसक जाता है अर्थात् पूर्ति में वृद्धि हो जाती है। उत्पादिता बढ़ने से वास्तविक आय भी बढ़ती है। वास्तविक आय बढ़ने पर मांग की संरचना में क्या परिवर्तन होता है? जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, जब उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि होती है, तो वे आनुपातिक रूप से कम वृद्धि का कम भाग कृषि-वस्तुओं पर व्यय करते हैं और अधिक भाग गैर-कृषि वस्तुओं पर। दूसरे शब्दों में, कृषि-वस्तुओं पर होने वाले व्यय में सापेक्ष वृद्धि आय की सापेक्ष वृद्धि से कम होती है, जबकि गैर-कृषि-वस्तुओं पर किये जाने वाले व्यय में, आय की तुलना में, सापेक्ष वृद्धि अधिक होती है। इसके परिणामस्वरूप, वास्तविक आय में वृद्धि की तुलना में, कृषि-वस्तुओं की मांग में अपेक्षाकृत कम वृद्धि होती है और मांग वक्र दायीं ओर कम खिसकता है। स्पष्ट है कि यदि उत्पादिता-वृद्धि के कारण होने वाला पूर्ति वक्र का स्थानांतरण, वास्तविक आय में वृद्धि के कारण होने वाले मांग वक्र के स्थानांतरण से अधिक है, तो कीमत-स्तर की प्रवृत्ति गिरने की होगी, जैसाकि 5.33 में दिखाया गया है।

चित्र : 5.33



रेखाचित्र 5.33 में D_oD_o तथा S_oS_o किसी पिछली समयावधि के मांग व पूर्ति वक्र हैं। समय के साथ-साथ उत्पादिता में वृद्धि होती है और पूर्ति वक्र दायीं ओर खिसक कर पहले S_1S_1 हो जाता है और फिर S_2S_2। उत्पादिता वृद्धि का दूसरा अर्थ यह भी है कि वास्तविक आय में भी उसी अनुपात में वृद्धि हो जाती है। वास्तविक आय में वृद्धि का सीधा परिणाम है मांग में वृद्धि। किंतु कृषि-वस्तओं की स्थिति में, वास्तविक आय में वृद्धि की तुलना में, मांग में होने वाली सापेक्ष वृद्धि कम होती है। इसके फलस्वरूप, मांग वक्र का D_oD_o से D_1D_1 तक स्थानांतरण, पूर्ति वक्र के S_oS_o से S_1S_1 तक स्थानांतरण से कम होता है। इसी प्रकार मांग वक्र का D_1D_1 से D_2D_2 तक स्थानांतरण भी पूर्ति वक्र के S_1S_1 से S_2S_2 तक स्थानांतरण से कम होता है। मांग वक्र D_1D_1 और पूर्ति वक्र S_1S_1 बिंदु B पर एक-दूसरे को काटते हैं जहां संतुलन-कीमत Op_1 निर्धारित होती है जो पहले की संतुलन की कीमत Op_0 से कम है। फिर मांग वक्र D_2D_2 और पूर्ति वक्र S_2S_2 एक-दूसरे को बिंदु C पर काटते हैं जिससे संतुलन-कीमत Op_2 पिछली कीमत Op_1 से और भी कम हो जाती है। यहां पर यह बात ध्यान देने की है कि पूर्ति वक्र का स्थानांतरण मांग वक्र के स्थानांतरण से अधिक होता है जिसके फलस्वरूप कीमत-स्तर में कमी होती है। निम्न कृषि-कीमतों का अर्थ है निम्न कृषि-आय।

कृषि-समस्या का सार-तत्त्व यह है कि उत्पादिता में वृद्धि होने के कारण कृषि-वस्तुओं की पूर्ति में जिस गति से वृद्धि होती है, उनकी मांग में उस गति से वृद्धि नहीं हो पाती। यह समस्या कृषि-कीमतों व आयों में आने वाले अल्पकालिक उतार-चढ़ावों की समस्या से बिल्कुल भिन्न है। दीर्घकाल में, कृषि-क्षेत्र की आय को तभी स्थिर रखा जा सकता है यदि कृषि से उद्योग व अन्य क्षेत्रों में साधनों का स्थानांतरण किया जाए।

बी.कॉम./बी.ए (प्रोग्राम) प्रथम वर्ष अर्थशास्त्र

प्रश्नपत्र 4 / अनुशासन पाठ्यक्रम
अर्थशास्त्र के सिद्धान्त/व्यष्टिगत अर्थशास्त्र के सिद्धान्त
अध्ययन सामग्री : 2(III-VIII)

मुक्त शिक्षा विद्यालय
(मुक्त शिक्षा परिसर)
दिल्ली विश्वविद्यालय

अर्थशास्त्र-विभाग

सम्पादक : जन्मेजॉय खूंटिया

स्नातक पाठ्यक्रम

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त/व्यष्टिगत अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

विषय सूची

III. उत्पादन एवं लागत

- उत्पादन फलन
- दीर्घकालीन लागत वक्र
- दीर्घकालीन पूर्ति वक्र
- एकाधिकार में आबंटन की अकुशलता
- अतिरेक क्षमता

IV. साधनों की कीमत निर्धारण तथा तुलनात्मक लागत सिद्धांत

- विभिन्न बाजार स्थितियों में साधन-कीमत निर्धारण
- आर्थिक लगान
- पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में अनिश्चितता की भूमिका एवं लाभ के सिद्धांत
- तुलनात्मक लागत सिद्धांत

V. उपभोक्ता व उत्पादक सिद्धांत व्यवहार में **OPEC:** एक कार्टिल का विषय अध्ययन

VI. बाजार की सफलता एवं असफलताएँ

VII. आय का वितरण एवं साधन की कीमत

VIII. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

संपादक : जन्मेजॉय खूंटिया

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

शिक्षा सत्र 2012-13

© मुक्त शिक्षा विद्यालय

कार्यकारी निदेशक, मुक्त शिक्षा विद्यालय, 5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007 द्वारा प्रकाशित।
लेज़र टाईपसैटिंगः गेटवे एसाइन्मेंट। 17/2012-13

उत्पादन फलन : अवधारणा

भूमिका

पारम्परिक अर्थशास्त्र एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, जिसे मुक्त उद्यम अथवा स्वतन्त्र बाजार अर्थव्यवस्था भी कहा जाता है, के इर्द-गिर्द घूमता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में, तीनों केन्द्रीय समस्याओं (अर्थात्—(1) किन वस्तुओं का उत्पादन हो और किस मात्रा में; (2) इनका उत्पादन कैसे किया जाये; (3) निवल उत्पादन को समाज के सदस्यों में कैसे बांटा जाये) का समाधान मूलतः कीमत-प्रणाली के माध्यम से किया जाता है। कीमत-प्रक्रिया और कुछ नहीं, उन सभी (वस्तुओं और उत्पादन-साधनों की) कीमतों का योग है जो अर्थव्यवस्था में प्रचलित होती है तथा विभिन्न बाजारों में मांग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। आपने पिछले सेट में कीमत-प्रक्रिया की मोटी रूपरेखा देखी परन्तु इसे गहराई से समझने के लिए जानना आवश्यक है कि एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मांग व पूर्ति के पीछे कौन-कौन सी शक्तियां काम करती हैं। चौथे सेट में, इस विषय पर काफी विस्तार से लिखा जा चुका है कि मांग के मुख्य निर्धारक तत्व कौन-कौन से हैं और उनमें परिवर्तनों का मांग पर क्या प्रभाव पड़ता है। अब हमारा इरादा पूर्ति अथवा उत्पादन का विस्तृत विश्लेषण करने का है। मांग व पूर्ति की शक्तियों के पीछे क्या है, इसका अध्ययन कर चुकने के पश्चात् ही हम इस स्थिति में होंगे कि एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में, कीमत-प्रक्रिया की कार्यविधि के पहलुओं का विश्लेषण कर सकें।

एक उपभोक्ता (अर्थात् मांग के सिद्धांत की बुनियादी निर्णयकारी इकाई) के व्यवहार का विश्लेषण करते समय और उसके सन्तुलन का निर्धारण करते समय, यह कल्पना की गई थी कि एक तर्कनापरक इन्सान होने के नाते, उपभोक्ता सदैव अपनी उपयोगिता को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है। उत्पादन-अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, यह कल्पना की जाती है कि फर्में जोकि बुनियादी निर्णयकारी इकाइयां हैं, अधिकतम लाभ का लक्ष्य सामने रखती हैं। फर्मों के संदर्भ में अधिकतम लाभ के लक्ष्य की तुलना में, उपभोक्ता के सन्दर्भ में अधिकतम उपयोगिता का लक्ष्य अधिक स्पष्ट व तर्कसंगत है। हालांकि अधिकतम लाभ का औचित्य सिद्ध करना अधिक कठिन है, किन्तु एक निजी उद्यम अर्थव्यवस्था के पारम्परिक आर्थिक विश्लेषण के लिए इस लक्ष्य की कल्पना करना अत्यावश्यक है। इस आधार वाक्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक फर्म सर्वदा कीमत व उत्पादन के उस स्तर पर काम करेगी जहां उसकी कुल आय व कुल लागत में अन्तर अर्थात् लाभ अधिकतम होगा। हम पहले लागत पर ध्यान देंगे तथा फर्म की आय-स्थिति पर अगले सैट में विचार करेंगे। किसी भी वस्तु की उत्पादन लागत दो चीजों पर निर्भर करती है : (1) वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त विभिन्न उत्पादन साधनों की मात्रा व उनकी उत्पादिता और (2) उत्पादन-साधनों की प्रति इकाई कीमत। पहली बात का सम्बन्ध विशुद्धतः तकनीकी कारकों के साथ है जबकि दूसरी चीज़ फर्मों द्वारा आर्थिक निर्णय लेने के समय महत्त्वपूर्ण हो जाती है। हम पहले तकनीकी सम्बन्धों पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

उत्पादन-फलन की अवधारणा

आप जानते हैं कि किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए विभिन्न आगतों (Inputs) की आवश्यकता होती है। उदाहरणतः गेहूं का उत्पादन करना हो, तो भूमि के साथ-साथ पानी, बीज, खाद, हल, बैल आदि की जरूरत पड़ती है। इसी प्रकार एक फर्म, जो कपड़े का उत्पादन करना चाहती है, को कारखाने, उपयुक्त कौशल वाले श्रमिकों, सूती-धागे, मशीनों, ईंधन, औजारों आदि की जरूरत होती है। अर्थशास्त्री आगतों को, मिलते-जुलते आर्थिक लक्षणों के आधार पर, कुछ व्यापक वर्गों में बांटते हैं जिन्हें 'उत्पादन-साधन' कहा जाता है। इन साधन-आगतों का प्रयोग करने वाली उत्पादन-प्रक्रिया का जो परिणाम होता है उसे निर्गत (Output) कहा जाता है। यह निर्गत अन्तिम उपभोक्ता वस्तु (जैसे रोटी, कपड़ा), सेवा (जैसे अध्यापन), अन्तवर्ती वस्तु (जैसे भट्ठी के लिए कोयला या कपड़े की मिल के लिए शक्ति) अथवा एक पूंजीगत वस्तु (जैसे कारखाने की इमारत, धमन-भट्ठी) के रूप में हो सकता है। उत्पादन-फलन वह विशुद्धतः तकनीकी सम्बन्ध है जो प्रचलित तकनॉलोजी के अन्तर्गत, साधन-आगतों की मात्राओं तथा उनके फलस्वरूप उत्पन्न उत्पादन की मात्रा के बीच होता है। यह उन नियमों का वर्णन करता है जिनके अन्तर्गत किसी विशेष समयावधि में, साधन-आगतों का निर्गतों में रूपान्तर होता है। दूसरे शब्दों में, उत्पादन-फलन किसी फर्म, उद्योग या समग्र अर्थव्यवस्था की तकनॉलोजी का प्रतिनिधित्व करता है। अतः तकनॉलोजी प्रगति के साथ-साथ, उत्पादन-फलन में भी परिवर्तन होता है।

उत्पादन-फलन के विषय में यह नोट करना आवश्यक है कि इसमें केवल तकनीकी रूप से कुशल विधियों को ही शामिल किया जाता है—अर्थात् ऐसी विधियां जो साधन-आगतों की किसी भी दी हुई मात्रा से अधिकतम सम्भव उत्पादन करती हों या अन्य शब्दों में, जो वस्तु की किसी दी हुई मात्रा के उत्पादन में साधन आगतों की न्यूनतम सम्भव मात्रा व्यय करती हो। उत्पादन-फलन वस्तु की किसी दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए उपलब्ध वैकल्पिक विधियों को व्यक्त कर सकता है या फिर सभी साधन-आगतों की मात्राओं में समानुपातिक या विभिन्न अनुपातों में परिवर्तन के फलस्वरूप कुछ उत्पादन में होने वाले परिवर्तन को व्यक्त कर सकता है। इनके अतिरिक्त उत्पादन-फलन के केवल एक परिवर्ती साधन की मात्रा में परिवर्तन (शेष साधनों की मात्रा स्थिर रहते हुए) के फलस्वरूप उत्पादन में होने वाले परिवर्तन का सूचक हो सकता है।

उत्पादन-फलन को एक तालिका के रूप में व्यक्त किया जा सकता है और एक ग्राफ (वक्र) के रूप में भी चित्रित किया जा सकता है। इन के अलावा, उत्पादन-फलन को एक बीजगणितीय समीकरण या गणितीय मॉडल के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। महत्वपूर्ण यह है कि उत्पादन-फलन की एक रूप से दूसरे रूप में बदला जा सकता है। वास्तविक उत्पादन-फलन में तो बहुत सारे स्वतंत्र परिवर्ती जैसे भूमि, श्रम, कच्चा माल, अचल पूंजी, आदि शामिल होते हैं, परन्तु अपने विश्लेषण को सरल रखने के लिए हम यह मान कर चलते हैं कि उत्पादन के दो ही साधन हैं : श्रम व पूंजी।

II

अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन उत्पादन-फलन के बीच भेद

उत्पादन के स्तर में वृद्धि तीन प्रकार से की जा सकती है : सभी साधन-आगतों की मात्राओं में समानुपातिक वृद्धि करके; या विभिन्न अनुपातों में वृद्धि करके; और यदि सभी साधन-आगतों की मात्राओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो कुछ साधनों की स्थिर मात्रा के साथ अन्य साधनों की अधिकाधिक मात्रा का इस्तेमाल करके। पहले दो विकल्पों का सम्बन्ध दीर्घकाल से है जबकि तीसरे विकल्प का सम्बन्ध अल्पकाल से है। इस से उत्पन्न होता है दीर्घकाल तथा अल्पकाल के बीच अंतर का आधार तथा इस अंतरका विश्लेषणात्मक महत्ता का प्रश्न।

स्थिर तथा परिवर्ती साधन

किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए एक उत्पादक को दो प्रकार के साधन-आगतों की आवश्यकता होती है जिन्हें तकनीकी भाषा में 'परिवर्ती' और 'स्थिर साधन-आगत' कहा जाता है। कुछ साधन-आगत ऐसे होते हैं जिनकी मात्राओं में वस्तु की मांग के अनुसार, आसानी से, जब और जैसा चाहो, परिवर्तन किया जा सकता है। दूसरी ओर, कुछ साधन-आगत ऐसे होते हैं जिनकी मात्राओं में कुछ समयावधि तक इस प्रकार परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। पहली प्रकार के साधन-आगतों को परिवर्ती साधन-आगत कहा जाता है और दूसरी प्रकार के साधन-आगतों को स्थिर साधन-आगत कहा जाता है। कच्चा माल, ईधन, ऊर्जा, चिकनाई, समान्य मरम्मत तथा रख-रखाब, आदि, परिवर्ती साधन-आगतों के उदाहरण हैं। ऐसे साधन-आगतों की मात्राओं को बिना किसी कठिनाई के, वस्तु की मांग के अनुसार समंजित किया जा सकता है। यदि उत्पादन बंद हो जाता है तो ऐसे साधनों की कोई आवश्यकता नहीरहती। इसके विपरीत, स्थिर साधन-आगतों में मशीनें, इमारतें, भूमि, औजार तथा अन्य साज-सज्जा, आदि, ऐसी टिकाऊ पूंजीगत वस्तुएं होती हैं जिनकी यदि ठीक प्रकार से देख-रेख/रख-रखाव की जाए तो ये एक लम्बे समय तक उत्पादन में अपना योगदान जारी रख सकती हैं। ऐसी टिकाऊ पूंजीगत वस्तुओं का उपयोग उत्पादन में उनके एक बार के इस्तेमाल के साथ समाप्त नहीं होता अपितु लम्बे समय तक जारी रहता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी टिकाऊ पूंजीगत वस्तुओं से प्राप्त होने वाले प्रतिफल उनके पूरे उत्पादक जीवन काल पर फैले होते हैं। इसलिए, ऐसे साधनों में अपनी पूंजी फंसाने से पहले उत्पादक को उन साधनों के उत्पादक जीवन काल के दौरान अपने उत्पाद की औसत बिक्री के अनुमान के आधार पर उत्पादन को आयोजित करना पड़ता है। इसलिए इन्हें स्थिर साध-आगतें कहा जाता है।

एक फर्म के आयोजन में मुख्य बात स्थिर साधनों की मात्रा के विषय में निर्णय करना होता है जिनसे 'प्लाट' का आकार निर्धारित होता है क्योंकि उनसे उत्पादन की सीमाएं निर्धारित होती हैं। (परिवर्ती साधन, जैसे कच्चा माल और श्रम, प्लाट के आकार पर कोई रोक नहीं लगाते क्योंकि फर्म जब चाहे बिना विलम्ब उन्हें आसानी से बाजार से खरीद सकती है।) एक व्यवसायी अपनी योजना अपने उत्पाद के एक औसत स्तर से आरम्भ करता है जिसे वह सम्बद्ध समयावधि के दौरान बेच पाने की आशा करता है और उस आकार का 'प्लाट' चुनता है जो उत्पाद के उस स्तर के उत्पादन के लिए सब से कुशल हो। निवेश निर्णय लेने से पहले उत्पादक इस अर्थ

में दीर्घकालिक स्थिति में होता है कि वह विभिन्न आकार के उपलब्ध प्लाटो में से किसी का भी चयन करने के लिए स्वतंत्र होता है। परन्तु एक बार निवेश निर्णय लेने और अपनी पूंजी किसी प्लाट में फंसाने के पश्चात् उत्पादक की दीर्घकालिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। जब तक चुने हुए प्लांट का उत्पादक जीवन शेष रहता है, वह उसे छोड़ कर दूसरा प्लाट नहीं ले सकता क्योंकि ऐसा करने में बहुत हानि उठानी पड़ती है। इस समयावधि के दौरान दिये हुए प्लाट के कम या अधिक सघन प्रयोग से (अर्थात्, इसी प्लांट के साथ अन्य परिवर्ती साधनों की अधिक या कम मात्रा का प्रयोग करके) वस्तु की मांग के उतार-चढ़ावों से निपट सकता है परन्तु कोई दूसरा प्लाट नहीं चुन सकता। अभियन्ता, प्रबंधक, निरीक्षक तथा स्थाई स्टाफ के अन्य सदस्य, जिसे फर्म के प्रबंध के नाम से जाना जाता है, की प्रकृति भी स्थिर आगतों जैसी होती है क्योंकि इनकी सेवाएं भी उत्पादन स्तर की मांग के अनुसार समंजित नहीं की जा सकती। टिकाऊ पूंजीगत वस्तुओं तथा प्रबंध का यह सम्मिश्रण, जिसे प्लाट का नाम दिया गया है, उत्पादक के लिए एक बंधी /स्थिर लागत है क्योंकि उत्पादन बंद कर देने पर भी वह इस लागत से नहीं बच सकता। यही कारण है कि ऐसे साधन-आगतों की लागत को 'स्थिर लागत' का नाम दिया गया है।

इस पहलू पर हम अगले (सातवें) सैट में विस्तार पूर्वक चर्चा करेंगे। इस समय-बिंदु पर तो इतना कहना ही पर्याप्त होना चाहिए कि अल्पकाल में एक उत्पादक कुछ साधनों की एक दी हुई मात्रा के साथ परिवर्ती साधन (साधनों) की कम या अधिक मात्राओं का प्रयोग करके ही उत्पादन के स्तर में परिवर्तन कर सकता है। दूसरी ओर, दीर्घकाल में (अर्थात्, जब उत्पादक अपनी अल्पकालीन प्रतिबद्धताओं से मुक्त हो जाता है) सभी साधन-आगत परिवर्तनीय होते हैं और उत्पादन के स्तर में परिवर्तन सभी साधनों की मात्राओं में परिवर्तन करके किया जा सकता है। अल्पकाल वह समयावधि होती है जो उत्पादन-स्तर की आवश्यकता के अनुसार सभी साधनों की मात्राओं में परिवर्तन के लिए काफी नहीं होती परन्तु फर्म की स्थिर साज-सज्जा के साथ परिवर्ती साधनोंकी अधिक या कम मात्राओं का प्रयोग करके उत्पादन के स्तर में परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त होती है। दूसरी ओर, दीर्घकाल वह समयावधि होती है जो उत्पादन के स्तर की आवश्यकता के अनुरूप सभी साधनों की मात्राओं में परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त होती है। अल्पकाल तथा दीर्घकाल कोई निश्चित समयावधिया नहीं होती। ये विभिन्न उद्योगों के केस में अलग-अलग होती है। उदाहरणतः इस्पात उद्योग की दृष्टि से अल्पकाल 5 से 7 दशक तक की समयावधि हो सकती है जबकि मछेरों के लिए, जो अपने मछली पकड़ने के जालों के अलावा और कुछ विशेष टिकाऊ पूंजी का प्रयोग नहीं करते, यह समयावधि केवल कुछ महीने ही हो सकती है।

अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन उत्पादन-फलन की अवधारणाएं उपरोक्त भेद पर ही आधारित है। अल्पकालीन उत्पादन-फ्लन उस तकनीकी सम्बन्ध को व्यक्त करता है जो कुछ साधनों की स्थिर मात्राओं के साथ एक परिवर्ती साधन की मात्रा तथा उनके फलस्वरूप उत्पन्न उत्पाद की मात्रा के बीच होता है। दूसरी ओर, दीर्घकालीन उत्पादन-फलन उस तकनीकी सम्बन्ध को व्यक्त करता है जो सभी साधनों की मात्राओं और उनके फलस्वरूप उत्पन्न उत्पादन की मात्राओं के बीच उस स्थिति में होता है जब सभी साधनों की मात्राओं में समानुपातिक या भिन्न अनुपातों में परिवर्तन किया जा सकता हो।

III

अल्पकालीन उत्पादन-फलन

पिछले खण्ड में अल्पकाल तथा दीर्घकाल के बीच भेद के आधार की विस्तार पूर्वक व्याख्या की गई है। अल्पकाल वह समयावधि होती है जिसके दौरान फर्म की टिकाऊ साज-सज्जा तथा प्रबंध अपरिवर्तनीय होते हैं और उत्पादन के स्तर में वृद्धि या कमी दी हुई साज-सज्जा के साथ अन्य परिवर्ती-साधन (साधनों) की अधिक या कम मात्रा का प्रयोग करके ही की जा सकती है। जब कोई फर्म इस प्रकार अपने उत्पादन स्तर में वृद्धि करती है, तो इस प्रक्रिया में स्थिर तथा परिवर्ती-साध्धनों के बीच अनुपात बदलता जाता है। इस स्थिति में परिवर्तनशील अनुपातों का नियम (या जिसे ह्रासमान प्रत्याय के नियम से भी जाना जाता है) ही उत्पादन-फलन को व्यक्त करता है।

यदि हम यह कल्पना कर लें कि केवल एक परिवर्ती-साधन है जिसकी सभी इकाइयां समरूप हैं और तकनॉलोजी स्थिर है तो परिवर्तनशील अनुपातों के नियम को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है।

''अन्य बाते पूर्ववत रहते हुए, जब कुछ साधनों की एक स्थिर मात्रा के साथ एक परिवर्ती-साधन की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है तो एक बिंदु के पश्चात् परिवर्ती-साधन का सीमांत उत्पाद घटना आरम्भ कर देता है।''

सीमांत उत्पाद कुल उत्पाद में हुई वह वृद्धि होती है जो, अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रहते हुए, परिवर्ती-साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण होती है। उदाहरण के लिए, यदि भूमि के एक टुकड़े पर 10 श्रमिकों की बजाय 11 श्रमिकों के नियोजन के कारण कुल उत्पादन 100 टन से बढ़ कर 115 टन हो जाता है, तो इस स्थिति में ग्यारहवें श्रमिक का सीमांत उत्पाद 15 टन होगा। परिवर्तनशील अनुपातों के नियम (या ह्रासमान प्रत्याय का नियम) को नीचे एक सरल उदाहरण की सहायता से समझाया गया है। इस उदाहरण में जूतों की एक छोटी उत्पादक इकाई जब अपनी स्थिर साज-सज्जा के साथ प्रतिदिन अधिकाधिक श्रमिकों का नियोजन करती है तो निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं :

Unit of Variable input (Labour)	Total Product	Marginal Product	Average Product
1	2	3	4
1	15	15	15
2	60	45	30
3	123	63	41
4	200	77	50
5	285	85	57
6	372	87	62
7	455	83	65
8	530	75	66
9	596	66	66
10	640	44	64
11	660	20	60
12	660	Zero	55
13	650	–10	50

उपरोक्त सारणी में हम देखते हैं कि परिवर्ती साधन (इस उदाहरण में श्रम) की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि के साथ कुल उत्पादन में लगातार वृद्धि होती है। केवल जब श्रम की बारहवीं इकाई नियोजित की जाती है, तो कुल उत्पाद 660 पर ही स्थिर रहता है। बहरहाल, श्रम की प्रत्येक इकाई के नियोजन के कारण कुल उत्पाद में होने वाली वृद्धि समान नहीं है। कॉलम 3 में श्रम की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई का कुल उत्पादन में योगदान दिखाया गया है। कुल उत्पाद के प्रत्येक दो आंकड़ों का निरपेक्ष अन्तर निकाल कर इसकी गणना की जाती है और यही निरपेक्ष अन्तर सीमान्त उत्पाद कहलाता है। परिवर्तनशील अनुपातों का नियम हमें यह बताता है कि अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रहते हुए, जब एक साधन की मात्रा में वृद्धि होती है, तो एक बिन्दु के पश्चात् (यदि तुरन्त नहीं) सीमांत उत्पाद घटना आरम्भ हो जाता है। वर्तमान उदाहरण के अनुसार, श्रम की छठी इकाई के नियोजन तक सीमान्त उत्पाद (सी. उ.) बढ़ता है (और वहां पर यह अधिकतम है) और उसके पश्चात् यह लगातार घटता जाता है तथा आखिरी इकाई के नियोजन के साथ (-) 10 हो जाता है।

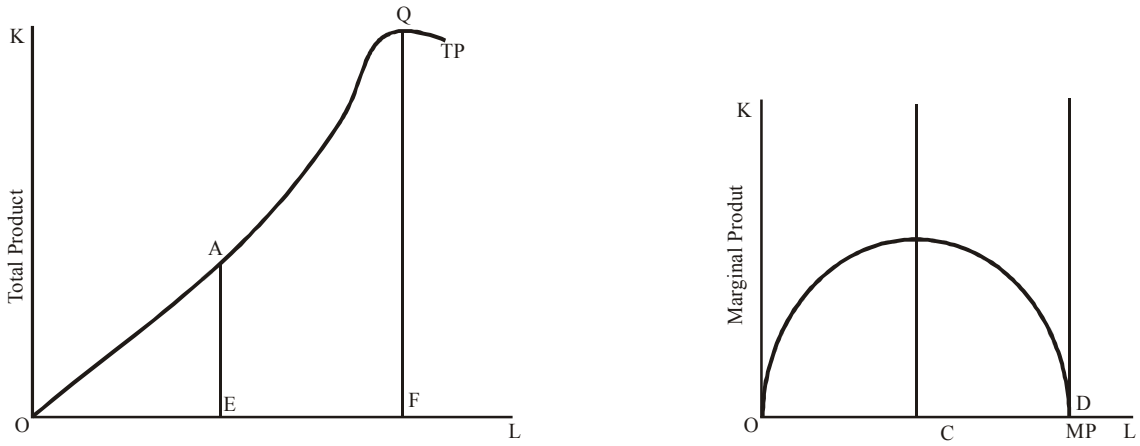
जिस प्रकार हमने कुल उत्पाद के आकड़ों से सी. उ. निकाला है, उसी प्रकार हम कुल उत्पाद के आकड़ों से औसत उत्पाद भी ज्ञात कर सकते हैं। ऐसा हम कुल उत्पाद आंकड़ों को श्रम की कुल नियोजित इकाइयों से भाग करके, अर्थात् कॉलम 2 के आकड़ों को उनके अनुरूप कॉलम 1 के आकड़ों से भाग करके मालूम कर सकते हैं। जैसाकि नाम से स्पष्ट है, औ. उ. प्रत्येक बिन्दु पर परिवर्ती-साधन की औसत उत्पादिता (अर्थात् प्रति इकाई उत्पाद) को व्यक्त करता है। कॉलम 4 को देखने से पता चलता है कि आरम्भ में औ. उत्पादिता भी बढ़ती है। वास्तव में औ. उ. का ऊर्ध्वमुखी चरण सी. उ. के ऊर्ध्वमुखी चरण से भी लम्बा है। सी. उ. तो श्रम की सातवीं इकाई के नियोजन के साथ ही घटना आरम्भ हो जाता है, जबकि औ. उ. आठवी इकाई के नियोजन तक बढ़ता रहता है जिसके पश्चात् यह गिरना आरम्भ हो जाता है। औसत तथा सीमान्त उत्पाद के बीच वही सम्बन्ध है जो अन्य किसी भी औसत तथा सीमान्त मूल्य के बीच होता है। यदि सीमान्त मूल्य औसत मूल्य से अधिक है, तो वह औसत मूल्य को ऊपर की ओर खींचता है, जबकि सीमान्त मूल्य औसत मूल्य से कम होने पर वह उसे नीचे गिराता है। क्योंकि सीमान्त तथा औसत मूल्य दोनों ही किसी बिन्दु तक

बढ़ते रहते हैं और फिर घटते हैं, यह तर्कसम्मत है कि दोनों के उच्चतम बिन्दु अलग-अलग होते हैं। सीमान्त मूल्य अपने उच्चतम बिन्दु पर औसत मूल्य से पहले पहुंचता है। कारण यह है कि कुछ समय तक यद्यपि सीमान्त मूल्य घटता है, फिर भी औसत मूल्य से ऊपर रहता है जिसके कारण औसत मूल्य बढ़ता रहता है। परन्तु जैसे ही सीमान्त मूल्य औसत मूल्य से कम हो जाता है, तो औसत मूल्य गिरना आरम्भ हो जाता है। परिणामस्वरूप, औसत मूल्य के उच्चतम बिन्दु पर सीमान्त तथा औसत मूल्य परस्पर बराबर होते हैं। ऊपर दिए गए उदाहरण में, ऐसा श्रम की नवीं इकाई के नियोजन के साथ होता है। जहां तक औ. उ. के पहले बढ़ने और फिर गिरने के कारणों का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि स्थिर तथा परिवर्ती साधनों को मिलाने का एक इष्टतम अनुपात होता है। जब स्थिर साधनों के साथ परिवर्ती-साधन को इस विशेष अनुपात में मिलाया जाता है, तो औ. उ. अपने उच्चतम बिन्दु पर होता है या साधन का प्रति इकाई उत्पादन अधिकतम होता है। परन्तु इस बिन्दु से पहले, स्थिर साधनों के साथ परिवर्ती-साधन को अपेक्षाकृत कम सघनता के साथ मिलाया जाता है और इसमें प्रत्येक वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल उत्पाद में अनुपात से अधिक वृद्धि होती है और इस प्रकार औ. उ. बढ़ता है। इस बिन्दु के पश्चात् स्थिर साधन का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सघनता के साथ होता है जिसके परिणामस्वरूप इसमें और वृद्धि से कुल उत्पाद में अनुपात से कम वृद्धि होती है। इस प्रकार औ. उ. घटता है।

परिवर्तनशील अनुपात नियामों की व्याख्या एक रेखाचित्र की सहायता से भी की जा सकती है। अगले पृष्ठ पर, रेखाचित्र 1 और 2 में हमने क्रमशः कुल उत्पाद वक्र और सीमान्त उत्पाद वक्र खीचें हैं। इन चित्रों को सरल रखने के लिए हमने इनमें औ. उ. वक्र नहीं खींचा है। हम यह आशा करते हैं कि आपको औ. तथा सी. मूल्यों के बीच सम्बन्ध याद होगा और उसके आधार पर आप औ. उ. वक्र खींच सकते हैं।

परिवर्तनशील अनुपात का नियम हमें बतलाता है कि, अन्य सभी साधनों की मात्राएं स्थिर रखते हुए, जैसे-जैसे किसी परिवर्ती साधन की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि की जाती है तो एक बिन्दु के पश्चात् सीमांत उत्पाद घटना आरम्भ हो जाता है।

रेखाचित्र 1 और 2



पीछे रेखाचित्र 1 में वक्र TP उत्पादन-फलन है जो एक और परिवर्ती-साधन (अर्थात् श्रम) और दूसरी ओर कुल उत्पाद के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करता है। आरम्भिक गणित का ज्ञान रखने वाले विद्यार्थियों को यह स्पष्ट होगा कि आरम्भ से बिन्दु A तक इस वक्र का ढ़लान बढ़ता है क्योंकि इस वक्र का ढ़लान सीमान्त उत्पाद (सी. उ.) को व्यक्त करता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि इस चरण में श्रम की सी. उ. धनात्मक है और बढ़ रहा है। गणित की भाषा में उत्पादन-फलन के श्रम-सम्बन्धी पहले और दूसरे अवकलज (derivatives) धनात्मक है। वही स्थिति रेखाचित्र-2 में साफ दिखाई पड़ती है जहां सी. उ. MP वक्र पहले quadrant में स्थित है और बिन्दु O से बिन्दु C तक (जहां पर यह अपने उच्चतम बिन्दु पर है) ऊपर उठता चला जाता है। रेखाचित्र 1 में वक्र TP बिन्दु A के पश्चात् भी ऊपर उठता रहता है, परन्तु इसका ढलान घटना आरम्भ हो जाता है। बिन्दु B पर यह वक्र अपने उच्चतम बिन्दु पर पहुंचता है और उसके पश्चात् यह नीचे गिरना आरम्भ हो जाता है। अन्य शब्दों में, यद्यपि वक्र TP का ढलान धनात्मक है, यह A बिन्दु और B बिन्दु के बीच लगातार घटता है और अन्त में शून्य पर पहुंच जाता है। बिन्दु B के पश्चात् यह ऋणात्मक हो जाता है। इसी कारण बिन्दु C और D के बीच तथा उससे आगे वक्र MP की प्रवृत्ति वैसी है जैसी कि देखने में आती है। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है कि कोई भी विवेकशील उत्पादक कुल उत्पाद वक्र पर बिन्दु B से आगे या सी. उ. वक्र पर बिन्दु

D (अर्थात् जब कुल उत्पाद घटता है या जब परिवर्ती-साधन का सी. उ. ऋणात्मक होता है) से आगे जाने का दुस्साहस नहीं करेगा। उत्पाद या परिवर्ती-साधन की कीमत चाहे जो भी हो यह बात हमेश लागू होती है। कारण स्पष्ट है। इस बिन्दु के पश्चात परिवर्ती-साधन मात्रा में कोई भी वृद्धि कुल उत्पादन में वृद्धि करने की बजाए उल्टा उसे घटाती है। इसलिए तकनीकी दृष्टि से ही, कोई भी उत्पादक OF (=OD) से अधिक परिवर्ती साधन का नियोजन नहीं करेगा। अब हम देखेंगे कि वर्द्धमान सी. उत्पादकता के चरण में क्या होता है? क्योंकि परिवर्ती साधन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण कुल उत्पाद में उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि होती है इसलिए कुल उत्पाद वक्र पर बिन्दु A से पहले और सी. उ. वक्र पर बिन्दु C से पहले रुकने का अर्थ है उत्पादकता में और अधिक वृद्धि करने के अवसर को छोड़ देना। निश्चय ही यह उत्पादक के लिए विवेकपूर्ण नहीं है। इसलिए हम कह सकते हैं कि मात्र तकनीकी आधार पर भी (रेखाचित्र 1 में) बिन्दु पहले और बिन्दु B से आगे के चरण में उत्पादन करना गलत होगा। एक विवेकशील उत्पादक न तो परिवर्ती साधन की धनात्मक और वर्धमान सीमान्त उत्पादकता के चरण में कार्य करेगा और न ही ऋणात्मक सी. उत्पादकता के चरण में। अतः हम कह सकते है कि विवेकशीलता का क्षेत्र कुल उत्पाद वक्र पर बिन्दु A और बिन्दु B (अर्थात् जब कुल उत्पाद वक्र ऊपर उठता है परन्तु घटती हुई दर पर) के बीच में या सी. उ. वक्र पर बिन्दु C और बिन्दु D (जब परिवर्ती-साधन की सी. उत्पादकता ह्रासमान परन्तु धनात्मक है) के बीच स्थित है। यह जानने के लिए कि विवेकशीलता के इस क्षेत्र में उत्पादक ठीक किस बिन्दु पर कार्य करेगा, हमें कीमतों आदि के विषय में अतिरिक्त सूचना की आवश्यकता है। इस समय हमारा वास्ता तकनीकी सम्बन्धों और तकनीकी कुशलता से है, न कि आर्थिक अर्थ में कुशलता से।

IV

दीर्घकालीन उत्पादन-फलन

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, दीर्घकाल वह समयावधि है जिसमें सभी उत्पादन-साधनों की मात्रा परिवर्तनीय होती है। दीर्घकाल में सभी साधनों की मात्राओं मे एक ही अनुपात में या विभिन्न अनुपातों में परिवर्तन करके उत्पादन-स्तरको घटाया या बढ़ाया जा सकता है। बहरहाल, हम केवल पहली स्थिति, अर्थात् सभी साधन-आगतों की मात्राओं में समानुपातिक परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादन-स्तर की संवेदनशीलता, पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। सभी साधनों की मात्राओं मे एक समानुपातिक परिवर्तन (जिस का अर्थ है स्थिर साधन-अनुपात) के फलस्वरूप उत्पादन में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन को 'मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' (Returns scale) का नाम दिया जाता है। बहरहाल, मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय के नियमों का अध्ययन करने से पहले, इस विश्लेषण के एक महत्वपूर्ण उपकरण 'समोत्पाद वक्र' की अवधारणा की व्याख्या करना आवश्यक है। 'समोत्पाद वक्र' किसी वस्तु की निश्चित मात्रा के उत्पादन के लिए दो साधनों के सभी वैकल्पिक मिश्रणों (अर्थात् उत्पादन-विधियों) का ज्यामतीय चित्रण होता है।

समोत्पाद-वक्र की अवधारणा

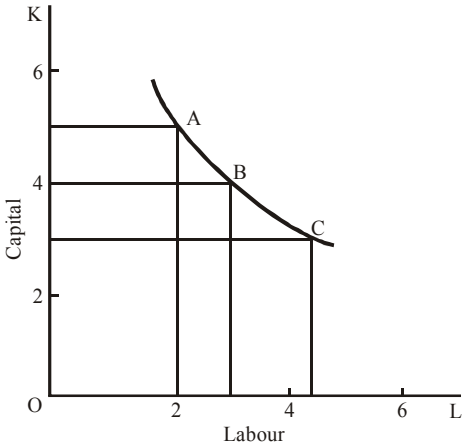
आमतौर पर, किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए साधन-आगतों के विभिन्न मिश्रणों, या इसी को दूसरे शब्दों में कहें तो विभिन्न उत्पादन-विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणतः वस्तु x की एक इकाई का उत्पादन निम्नलिखित विधियों या प्रक्रियाओं में से किसी भी एक विधि या प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है :

	विधि I	विधि II	विधि III
पूंजी की मात्रा	5 इकाई	4 इकाई	3 इकाई
श्रम की मात्रा	2 इकाई	3 इकाई	4.5 इकाई

वस्तु x की एक इकाई के उत्पादन की उपरोक्त तीन विधियों को नीचे रेखाचित्र नं. 3 में दिखाया गया है।

इस रेखाचित्र में क्षितिजीय अक्ष पर श्रम की इकाइयां मापते हैं और लम्बवत्-अक्ष पर पूंजी की। बिन्दु 'A' उस उत्पादन-विधि को व्यक्त करता है जिसमें पूंजी की 5 इकाइयों के साथ श्रम की 2 इकाइयां लगती हैं। बिन्दु 'B' द्वारा व्यक्त उत्पादन-विधि में पूंजी की 4 व श्रम की 3 इाकइयों तथा बिन्दु 'C' द्वारा व्यक्त उत्पादन-विधि में पूंजी की 3 व श्रम की 4.5 इकाइयों का प्रयोग होता है। रेखाचित्र में ये 3 बिन्दु वस्तु की एक इकाई के उत्पादन के लिए 3 वैकल्पिक विधियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः 'ABC' जैसे वक्र को 'Isoquant' या 'Isoproduct' वक्र (अर्थात् समोत्पाद वक्र) कहते हैं क्योंकि ऐसा वक्र वस्तु को एक निश्चित् मात्रा के उत्पादन के लिए वैकल्पिक विधियों अथवा प्रक्रियाओं (अर्थात् साधन-आगतों के विभिन्न मिश्रणों) का प्रतिनिधित्व करता है। (याद रखिए, 'iso' का अर्थ है समान और 'quant' का अर्थ है मात्रा)।

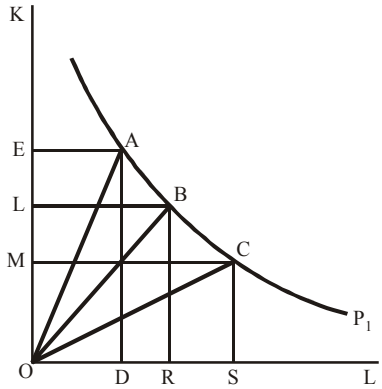
रेखाचित्र 3



जैसे कि उपरोक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है, विधि 'A' पूंजी की सबसे अधिक मात्रा के साथ श्रम की सबसे कम मात्रा का प्रयोग करती है। विधि 'C' की स्थिति ठीक इसके विपरीत है (अर्थात् पूंजी की सबसे कम मात्रा के साथ श्रम की अधिकतम मात्रा का प्रयोग) जबकि विधि 'B' की स्थिति दोनों के बीच वाली है। समोप्पाद वक्र 'ABC' एक उत्पादन-फलन है जिसमें वस्तु की किसी मात्रा के उत्पादन की तीन वैकल्पिक विधियां शामिल है। यह एक दीर्घकालीन उत्पादन-फलन है क्योंकि उत्पादन-विधियों के ये विकल्प तभी एक उपलब्ध है जब तक कि निवेश-निर्णय नहीं लिया जाता। जब कोई उत्पादक निवेश-निर्णय ले लेता है और अपनी पूंजी उसमें फंसा देता है, तो फिर उसके लिए ये विकल्प नहीं रहते।

सारांश में हम कह सकते हैं कि उत्पादन-फलन, किसी समय-बिन्दु पर, किसी वस्तु की एक निश्चित् मात्रा के उत्पादन के लिए, प्रचलित तकनॉलोजी में उपलब्ध सभी तकनीकी रूप से कुशल विधियों का समूह या समुच्चय होता है। यदि हम दोनों साधन-आगतों (पूंजी व श्रम) को इस प्रकार मापें जैसा कि रेखाचित्र 3 में दिखाया गया है, तोA, B, C जैसे सभी बिन्दुओं (जो पूंजी व श्रम के विभिन्न मिश्रणों को व्यक्त करते है) का पथ (locus) ही उत्पादन-फलन है। इसे हम नीचे रेखाचित्र 4 में दिखा रहे हैं।

रेखाचित्र 4



रेखाचित्र 4 में निष्कोण (smooth) वक्र 'P_1' A, B, C जैसे उन सभी बिन्दुओं का पथ है जो तकनीकी रूप से कुशल वैकल्पिक उत्पादन-विधियों को व्यक्त करते हैं। ये विधियां वस्तु की एक निश्चित मात्रा को उत्पादन करने के लिए श्रम व पूंजी के विभिन्न मिश्रणों का प्रयोग करती है। समोत्पाद वक्र 'P_1' एक निश्चित समय-बिन्दु पर प्रचलित उत्पादन-फलन है, अर्थात् यह तकनॉलोजी के एक विशेष स्तर की व्यक्त करता है।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है कि हम उत्पादन-फलन में तकनीकी रूप से अकुशल विधियों को शामिल नहीं करते। अकुशल विधि वह है जो वस्तु की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन के लिए, अन्य किसी विधि की तुलना में, किसी एक या दोनों साधनों की अधिक मात्रा का प्रयोग करती हो। नीचे दिए गए उदाहरण में, विधि B अकुशल है क्योंकि यह विधि A की तुलना में, श्रम की

समान मात्रा के साथ पूंजी की अधिक मात्रा का प्रयोग करती है। इसका सीधा अर्थ यह है कि विधि B में इस्तेमाल होने वाली पूंजी की अतिरिक्त इकाई उत्पादन मे कोई योगदान नहीं करती, अतः उसका प्रयोग एक अपव्यय है। विधि 'C' विधि 'B' से भी ज्यादा अकुशल है क्योंकि यह तो विधि A की तुलना में दोनों ही साधनों का अपव्यय करती है।

	विधि 'A'	विधि 'B'	विधि 'C'	विधि 'D'
पूंजी की मात्रा	2	3	3	3
श्रम की मात्रा	3	3	4	2

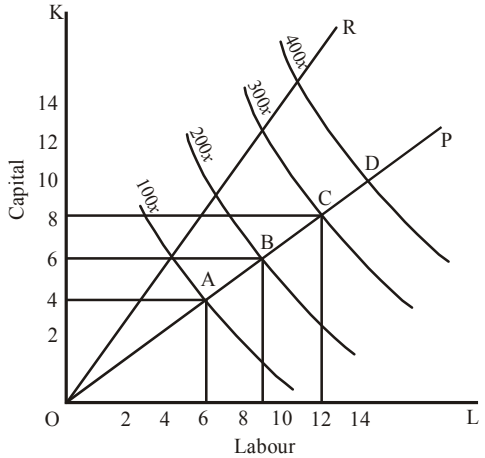
इसलिए विधि 'B' व 'C' को तकनीकी रूप से अकुशल होने के कारण छोड़ दिया जाता है। परन्तु तकनीकी कुशलता की दृष्टि से विधि 'A' और 'D' की तुलना नहीं की जा सकती। विधि 'A' जहां श्रम की अधिक मात्रा के साथ पूंजी की कम मात्रा का प्रयोग करती है, विधि 'D' पूंजी की अधिक मात्रा के साथ श्रम की कम मात्रा का प्रयोग करती है। बहरहाल, साधनों की कीमते जाने बिना, इन दोनों विधियों की सापेक्ष आर्थिक कुशलता निर्धारित नहीं की जा सकती। तकनीकी कुशलता का सम्बन्ध साधनों की मात्राओं से है जबकि आर्थिक कुशलता का सम्बन्ध उनकी कुल मौद्रिक लागत से है। अतः आपको तकनीकी कुशलता व आर्थिक कुशलता के बीच अन्तर को ठीक प्रकार से समझ लेना चाहिए।

यह आवश्यक नहीं है कि जो विधि तकनीकी रूप से कुशल है, वह आर्थिक रूप से भी कुशल हो। यह सम्भव है कि एक तकनीकी रूप से कुशल विधि साधनों की एक कीमत पर आर्थिक दृष्टि से अकुशल हो, और कीमतों में परिवर्तन हो जाने पर, वही विधि फिर कुशल बन सकती है। परन्तु तकनीकी रूप से अकुशल विधि कभी भी आर्थिक दृष्टि से कुशल नहीं बन सकती, कीमतें चाहे जो भी हों। एक उदाहरण की सहायता से हम यह बात स्पष्ट करते हैं। मान लीजिए वस्तु x की एक इकाई का उत्पादन निम्नलिखित तीन विधियों से किया जा सकता है।

	विधि 'A'	विधि 'B'	विधि 'C'
पूंजी की मात्रा	5	4	3
श्रम की मात्रा	3	4	5

यदि पूंजी की प्रति इकाई कीमत 5 रु. और श्रम की प्रति इकाई कीमत 3 रु. हो तो विधि 'C' सबसे कुशल (अर्थात् सस्ती) सिद्ध होती है और यदि पूंजी की प्रति इकाई कीमत 3 रु. और श्रम की प्रति इकाई कीमत 5 रु. हो जाए तो फिर विधि 'A' सबसे सस्ती सिद्ध होती है। अतः तकनीकी कुशलता तथा आर्थिक कुशलता दो अलग-अलग बाते हैं।

रेखाचित्र 5

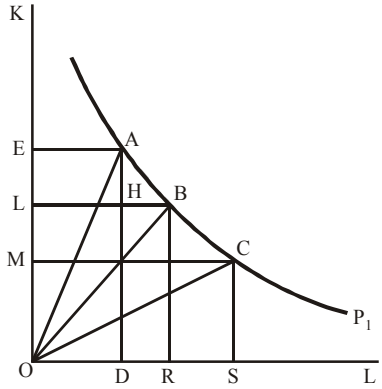


उत्पादन-फलन केवल एक ही समोत्पाद वक्र को व्यक्त नहीं करता अपितु इन समोत्पाद वक्रों के पूरे समूह को व्यक्त करता है जो उत्पादन के भिन्न-भिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उत्पादन-फलन में यह बात भी शामिल है कि जब दोनों साधनों की मात्राओं में वृद्धि होती है तो कुल उत्पादन की क्या प्रवृत्ति होती है। नीचे रेखाचित्र 5 से यह दिखाया गया है कि जब साधनों की मात्रा 4K + 6L से बढ़कर 6K + 9L की जाती है (अर्थात् प्रत्येक साधन की मात्रा में 50% वृद्धि की जाती है)। तो कुल उत्पादन दुगना हो

जाता है (100x से 200x); और जब साधनों की मात्राएं दुगुनी की जाती है (अर्थात् 4K + 6L से 8K + 12L) तो उत्पादन तीन गुना हो जाता है (100x से 300x)। अतः दोनों साधनों की मात्राओं में वृद्धि के फलस्वरूप कुल उत्पादन की प्रवृत्ति अनुपात से अधिक बढ़ने की है।

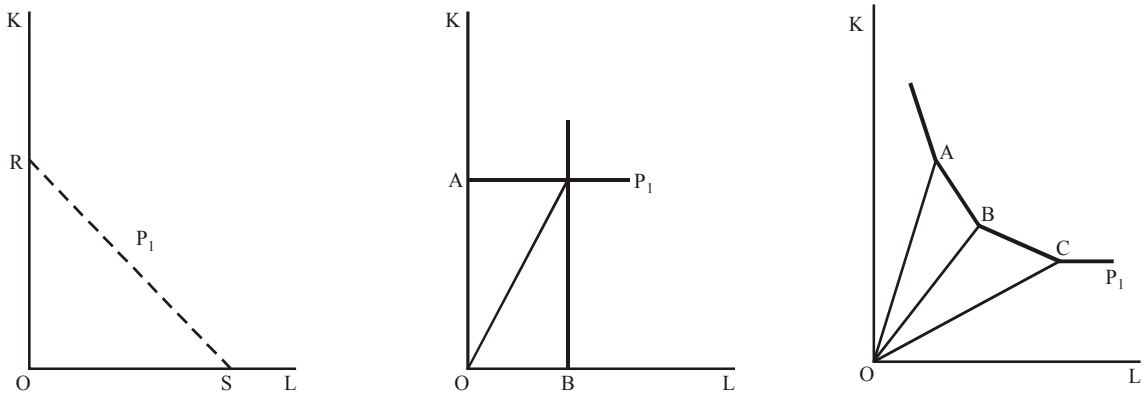
समोत्पाद वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने का क्या अर्थ है। इसका अर्थ है कि उत्पादन को स्थिर रखते हुए, एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का प्रतिस्थापन करना। उदाहरणार्थ, रेखाचित्र नं. 6 में बिन्दु A पूंजी की OE मात्रा और श्रम की OD मात्रा का सूचक है और बिन्दु B पूंजी की OL मात्रा और श्रम की OR मात्रा का सूचक है। बिन्दु A से बिन्दु B पर अंतरण का अर्थ है कि पूंजी की मात्रा में हुई कमी (=EL=AH) की भरपाई श्रम की मात्रा में होने वाली वृद्धि (=DR=HB) से की जा रही है, अर्थात् पूंजी की AH मात्रा के स्थान पर श्रम की HB मात्रा का प्रतिस्थापन किया जा रहा है। पूंजी की AH मात्रा को श्रम की HB मात्रा से भाग करके हमें पूंजी की उस मात्रा का पता चलता है जो कुल उत्पादन को स्थिर रखते हुए श्रम की एक इकाई प्रतिस्थापित कर सकती है। वह दर जिस पर, कुल उत्पादन को स्थिर रखते हुए, एक साधन दूसरे साधन को प्रतिस्थापित कर सकताहै, सीमांत तकनीकी प्रतिस्थापन दर (MRTS) कहलाती है। समोत्पाद वक्र का किसी बिन्दु पर झुकाव इस बिन्दु पर सीमांत तकनीकी प्रतिस्थापन दर का माप होता है। किसी बिन्दु पर एक वक्र का झुकाव उसी बिन्दु पर स्पर्ध रेखा के झुकाव के बराबर होता है। MRTS दो साधनों की परस्पर प्रतिस्थापनीयता, (अर्थात् कितनी सुगमता से एक साधन को दूसरे साधन के स्थान पर प्रतिस्थापित किया जा सकता है) का माप है। मान लीजिए रेखा चित्र 6 में बिन्दु A पूंजी की 10 इकाइयों और श्रम की 2 इकाइयों का सूचक है और बिन्दु B पूंजी को 8 इकाइयों और श्रम की 3 इकाइयों का सूचक है। बिन्दु A से बिन्दु B पर जाने का अर्थ है पूंजी की मात्रा में 2 इकाई की कमी और श्रम की मात्रा में एक इकाई की वृद्धि, अर्थात् इस बिन्दु पर श्रम की एक इकाई पूंजी की 2 इकाइयों को प्रतिस्थापित करती है। इस उदाहरण के अनुसार श्रम द्वारा पूंजी की प्रतिस्थापन दर (-) 2 है (-2+1=-2)।

रेखाचित्र 6



दो साधनों की परस्पर प्रतिस्थापनीयता के अनुसार समोत्पाद वक्र अन्य आकृतियों के भी हो सकते हैं जैसाकि नीचे रेखाचित्रों में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 7 **रेखाचित्र 8** **रेखाचित्र 9**

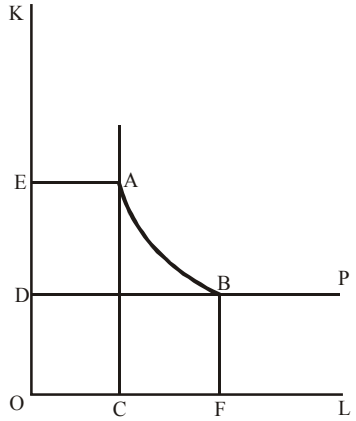


चित्र 7 में उत्पादन-फलन P_1 रेखाकार (अर्थात् एक सरल रेखा) है जिसका निहितार्थ यह है कि एक साधन का दूसरे साधन से

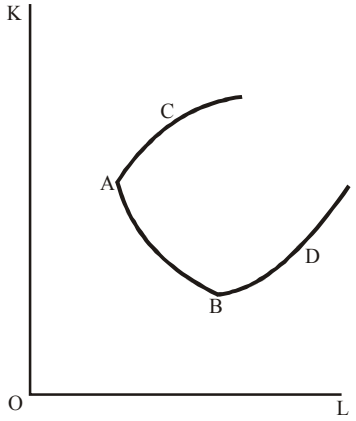
एक स्थिर दर पर प्रतिस्थापन किया जा सकता है। प्रक्रियाएं R व S छोर की स्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है। एक प्रक्रिया पूंजी की OR मात्रा का श्रम की शून्य मात्रा के साथ प्रयोग करती है जबकि दूसरी प्रक्रिया श्रम की मात्रा OS का का पूंजी की शून्य मात्रा के साथ प्रयोग करती है। इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच जितनी भी प्रक्रियाएं है, वे दोनों ही साधनों का, यद्यपि भिन्न-भिन्न मात्राओं में, प्रयोग करती है। चित्र 8 में, उत्पादन-फलन P_1 एक समकोण है जिसका अर्थ यह है कि उत्पादन की केवल एक ही विधि या प्रक्रिया है जो एक इकाई का उत्पादन करने के लिए पूंजी की OA मात्रा व श्रम की OB मात्रा का प्रयोग करती है। इसका यह भी निहितार्थ है कि उत्पादन-साधन पूर्णतः एक-दूसरे के पूरक हैं व उनकी प्रतिस्थापनीयता शून्य है अर्थात् एक उत्पादन-साधन का दूसरे उत्पादन-साधन के स्थान पर प्रयोग नहीं किया जा सकता। चित्र-9 में बलदार (kinked) वक्र P_1 यह दर्शाता है कि वस्तु का उत्पादन करने के लिए कुछ थोड़ी-सी विशिष्ट उत्पादन-विधियां उपलब्ध है अर्थात् A, B व C। केवल बिन्दु A, B व C पर ही, एक साधन को दूसरे साधन द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार का उत्पादन-फलन यह कल्पना करता है कि अक्षों पर दिखाए गए दोनों साधनों के बीच सीमित प्रतिस्थापनीयता है।

जिस प्रकार पिछले प्रभाग के कुल उत्पाद वक्रTP और सी. उत्पाद वक्र MP की तुलना मांग के सिद्धांतों के क्रमशः कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादकता वक्रों से की जा सकती है, उसी प्रकार समोत्पाद वक्रों की तुलना समभाव (अनाधिमान) वक्रों से की जा सकती है। परन्तु उपभोक्ता समभाव वक्रों की स्थिति में, दोनों अक्षों पर दो भिन्न वस्तुएं नापी जाती है, जबकि समोत्पाद वक्रों की स्थिति में (जिन्हें उत्पादक वक्र कहा जा सकता है) अक्षों पर 2 परिवर्ती-साधनों की मात्राएं नापी जाती है। जबकि समभाव वक्र पर विभिन्न बिन्दु समान उपयोगिता को दर्शाते हैं, समोत्पाद वक्र पर विभिन्न बिन्दु समान उत्पाद (जो ठीक-ठीक मापा जा सकता है जबकि उपयोगिता को मापा नहीं जा सकता) को दर्शाते हैं। जिस प्रकार समभाव वक्र 2 वस्तुओं के उन विभिन्न मिश्रणों को व्यक्त करता है जो समान उपयोगिता देते हैं, उसी प्रकार समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन विभिन्न मिश्रणों को दिखाता है जिनसे उत्पादक एक समान उत्पाद प्राप्त कर सकता है। जहां तक आकृति का प्रश्न है, दोनों वक्र एक जैसे ही दिखाई पड़ते हैं अर्थात् दोनों अधोमुखी होते हैं और मूल बिन्दु से उत्तल होते हैं। जिस प्रकार समभाव वक्रों के अधोमुखी ढलान दोनो अक्षों पर दिखाई गई वस्तुओं को धनात्मक उपयोगिता का सूचक होता है, उसी प्रकार समोत्पाद वक्रों के अधोमुखी ढलान का अर्थ है कि दोनों उत्पादन-साधनों की सीमान्त उत्पादिता धनात्मक है। अब हम रेखाचित्र की सहायता से यह स्पष्ट करते हैं।

रेखाचित्र 10



रेखाचित्र 11

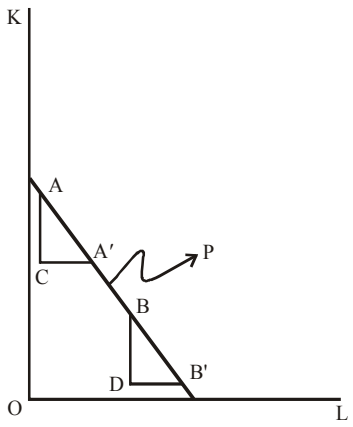


ऊपर रेखाचित्र 10 में समोत्पाद वक्र P वस्तु की एक दी हुई मात्रा जैसे 100 इकाई, को उत्पादित करने की विभिन्न तकनीकों का द्योतक है। ये तकनीकें श्रम तथा पूंजी के विभिन्न मिश्रणों के अलावा और कुछ नहीं है। चित्र में आप यहदेख सकते हैं कि समोत्पाद वक्र पर बिन्दु A से ऊपर कोई और बिन्दु चुनने का अर्थ है वस्तु की एक दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए, बिन्दु A की तुलना में श्रम की एक दी हुई मात्रा (=OC) की पूंजी की अधिक मात्रा के साथ मिलाना। परिणामतः पूंजी की सीमान्त उत्पादकता शून्य हो जाती है। इसी प्रकार, वक्र P पर बिन्दु B के दायीं और कोई बिन्दु चुनने का अर्थ होता है, बिन्दु B की तुलना में, वस्तु की एक नियत मात्रा के उत्पादन के लिए पूंजी की एक नियत मात्रा के साथ श्रम की अधिकाधिक मात्रा का मिलाना। परिणामस्वरूप इस स्थिति में श्रम का सीमान्त उत्पाद शून्य होता है। अन्य शब्दों में, समोत्पाद वक्र P के बिन्दु A से ऊपर के और बिन्दु B के दायीं ओर के

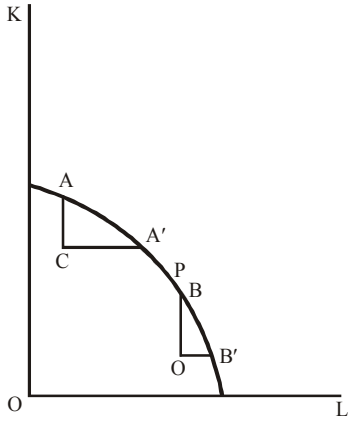
क्षेत्र ऐसी तकनीकों के सूचक हैं जो तकनीकी दृष्टि से अकुशल है। अतः हम समोत्पाद वक्र के अक्षों के समान्तर भागों को अविवेकपूर्ण (irrational) मान कर छोड़ देते हैं। रेखाचित्र 11 में A और B के दायीं ओर के बिन्दुओं (जैसे C और D) का अर्थ है कि A बिन्दु और B की तुलना में, एक दिए हुए उत्पादन के लिए दोनों साधनों की अधिक मात्राओं का प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है कि इन क्षेत्रों में दोनों ही साधनों की सीमान्त उत्पादकता शून्य है। अतः हम कह सकते हैं कि समोत्पाद वक्र के धनात्मक ढलान वाले भाग भी विवेकशीलता के क्षेत्र में नहीं है। परिणामस्वरूप बिन्दु A और B के बीच के भाग जैसे क्षेत्र ही विवेकशीलता के क्षेत्र में रह जाते हैं। समोत्पाद वक्र का अधोमुखी भाग ही तकनीकी दृष्टि से कुशल विधियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

समोत्पाद वक्र के अधोमुखी ढलान को सिद्ध कर देने के पश्चात्, अब हमारे सामने इस आकृति के तीन सम्भव विकल्प हैं, अर्थात्—(1) सीधी रेखा, (2) अवतल वक्र या (3) उत्तर वक्र, जैसा कि नीचे रेखाचित्र 12, 13 और 14 में दिखाया गया है।

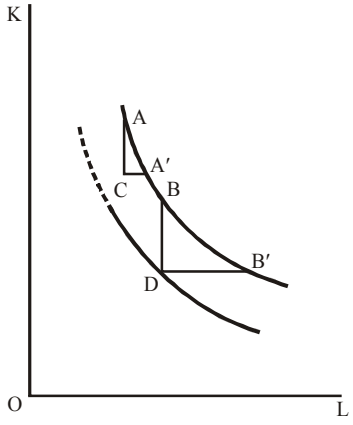
रेखाचित्र 12



रेखाचित्र 13



रेखाचित्र 14



$\Delta K.MP_k = \Delta L.\ MP_l$

जैसाकि आप देखते हैं, इन सभी समोत्पाद वक्रों के ऋणात्मक ढलान है, परन्तु उनकी आकृतियां भिन्न है। इन भिन्न-भिन्न आकृतियों के निहितार्थों की व्याख्या करना उचित ही है। आप यह जानते हैं कि एक सीधी रेखा के सभी बिन्दुओं पर उसका ढलान समान होता है। यह भी आप जानते हें कि एक समोत्पाद वक्र का ढलान Y-अक्ष पर नापे गए साधन (यानी पूंजी) के X-अक्ष पर नापे गए साधन (यानी श्रम) द्वारा प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के अलावा और कुछ नहीं है। (इसी प्रकार, उपभोक्ता-समभावा वक्र का ढलान वस्तु Y के लिए वस्तु X की सीमान्त प्रतिस्थापन दर को नापता है।) एक बिन्दु विशेष पर समोत्पाद वक्र के ढलान को $\Delta K/\Delta L$ के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जिसमें 'लव' (numerator) पूंजी की मात्रा में कम और 'हर' (denominator) श्रम की मात्रा में वृद्धि का नाम है : परन्तु हम यह जानते हैं कि कुल उत्पाद स्थिर ही रहता है। इसका अर्थ है कि श्रम की मात्रा में वृद्धि के कारण कुल उत्पाद में हुई वृद्धि पूंजी की मात्रा में कमी के कारण उत्पादन में होने वाली कमी के ठीक बराबर है। अन्य शब्दों में, $\Delta K.MP_k = \Delta L.MP_l$ (यहां पर MP_k और MP_l क्रमशः पूंजी और श्रम की सीमांत उत्पादकताओं के सूचक है)।

यदि $\Delta K.MP_k = \Delta L.MP_l$

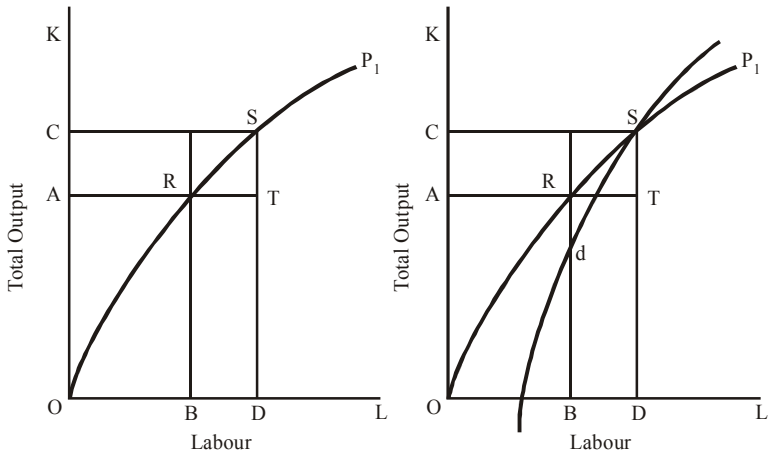
तो फिर $\Delta K/\Delta L = MP_l/MP_k$

इस प्रकार हम देखते हैं कि समोत्पाद वक्र का ढलान श्रम और पूंजी की सीमांत उत्पादों के अनुपात के बराबर होता है। सरल रेखाकार समोत्पाद वक्र का अर्थ है कि उत्पादन-विधि की साधन-सधनता चाहे जो हो (अन्य शब्दों में, विचाराधीन बिन्दु Y-अक्ष के पास हो या X-अक्ष के पास), उत्पादन के स्तर को बनाए रखने के लिए (यानी उसी समोत्पाद वक्र पर बने रहने के लिए) पूंजी की प्रत्येक इकाई के प्रतिस्थापन के लिए श्रम की एक स्थिर मात्रा की आवश्यकता होती है। रेखाचित्र 12 में, $C'A = D'B$ जबकि $AC = BD$ पूंजी की एक इकाई का सूचक है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि सरल रेखाकार समोत्पाद वक्र उस स्थिति का लक्षण है जिसमें दो साधन एक-दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न है और एक साधन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के प्रतिस्थापन के लिए दूसरे साधन की एक स्थिर मात्रा की आवश्यकता होती है। यह ऐसी स्थिति है जिसमें सीमांत प्रतिस्थापन दर के साथ-साथ दोनों साधनों की सीमांत

उत्पादिताओं के बीच अनुपात भी स्थिर है। तकनीकी दृष्टि से तो यह ठीक है, किन्तु वास्तव में उत्पादन साधन शायद ही कभी एक-दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न होते हैं। एक अवतल समोत्पाद वक्र, जैसाकि रेखाचित्र 13 में दिखाया गया है, का ढलान जैसे-जैसे हम बायीं से दायीं ओर जाते हैं, लगातार बढ़ता जाता है। अन्य शब्दों में, जैसे-जैसे हम पूंजी के स्थान पर श्रम का अधिकाधिक प्रतिस्थापन करते हैं, पूंजी की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के प्रतिस्थापन के लिए श्रम की लगातार घटती हुई मात्राओं की आवश्यकता होती है। रेखाचित्र 13 में, जबकि $AC = BD$, $D'B < C'A$। इसका अर्थ है कि जैसे-जैसे हम पूंजी की उत्तरोत्तर कम मात्राओं (और श्रम की उत्तरोत्तर ज्यादा मात्राओं) का प्रयोग करने वाली तकनीकों को अपनाते हैं श्रम की कार्यक्षमता में लगातार वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप पूंजी की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के प्रतिस्थापन के लिए श्रम की उत्तरोत्तर कम मात्राओं की आवश्यकता पड़ती है। यह वर्धमान सीमांत प्रतिस्थापन दर तथा श्रम व पूंजी की सीमांत उत्पादिताओं के वर्धमान अनुपात की स्थिति है। साधारण भाषा में इसका अर्थ यह है कि जैसे-जैसे श्रम की अधिकाधिक मात्रा का प्रयोग किया जाता है, यह पूंजी का अधिकाधिक बेहतर स्थानापन्न सिद्ध होता है और यही बात पूंजी पर भी लागू होती है। इसका स्पष्ट निहितार्थ यह है कि एक विवेकशील उत्पादक को कभी ऐसी उत्पादन-विधि का चुनाव नहीं करना चाहिए जिसमें दोनों साधनों का प्रयोग होता है। हम इस बात पर साधनों के इष्टतम सम्मिश्रणों के संदर्भ में फिर से विचार करेंगे।

अब हम एक उत्तल समोत्पाद वक्र पर विचार करते हैं (जैसाकि रेखाचित्र 14 में दिखाया गया है)। अर्थशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में प्रायः इसी प्रकार के समोत्पाद वक्र खींचे जाते हैं। स्पष्ट है कि जैसे-जैसे हम इस वक्र पर बायीं से दायीं ओर जाते हैं, तो इसका ढलान लगातार घटता जाता है। घटता हुआ ढलान यह दर्शाता है कि एक नियत मात्रा के उत्पादन के लिए जैसे-जैसे उत्तरोत्तर अधिक श्रम-प्रधान तरीके प्रयोग किए जाते हैं, तो पूंजी की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के प्रतिस्थापन के लिए श्रम की उत्तरोत्तर अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। (रेखाचित्र 14 में, $AC = BD$ जबकि $D'B > C'A$ यही बात श्रम के पूंजी द्वारा प्रतिस्थापन के विषय में भी कही जा सकती है। अन्य शब्दों में, इसका अर्थ है कि विभिन्न उत्पादन-साधन एक-दूसरे के अपूर्ण स्थानापन्न होते हैं। ह्रासमान सी. प्रति. दर (और परिणामस्वरूप दोनों साधनों की सीमांत उत्पादिताओं के ह्रासमान अनुपात) की स्थिति और ह्रासमान मात्रा प्रत्याय के नियम का कोई विरोध नहीं। (प्रभाग 3 वर्णित परिवर्तनशील अनुपातों के नियम को फिर से पढ़िये)। जब श्रम का अधिकाधिक मात्रा का पूंजी की उत्तरोत्तर कम मात्रा के साथ प्रयोग किया जाता है, तो श्रम की सीमांत उत्पादिता दो कारणों से गिरती है। एक, इसलिए कि श्रम की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा का पूंजी की एक नियत मात्रा के साथ प्रयोग किए जाने पर ह्रासमान मात्रा प्रत्याय नियम की सक्रियता के कारण श्रम का सीमांत उत्पाद गिरता है। दूसरे, इसलिए कि श्रम की उत्तरोत्तर अधिक मात्रा के साथ प्रयुक्त पूंजी की मात्रा इस स्थिति में स्थिर नहीं रहती बल्कि वास्तव में घटती है जिसके परिणामस्वरूप श्रम का सी. उत्पाद और भी तेजी के साथ गिरता है। (यह बात ध्यानपूर्वक नोट करने की है कि जब पूंजी की उत्तरोत्तर कम मात्रा का प्रयोग किया जाता है तो लव के गिरने के साथ इस स्थिति में हर भाी बढ़ता है)। ठीक उसी प्रकार जैसे उपभोक्ता समभाव वक्रों की उत्तलता का अर्थ है दो वस्तुओं के बीच ह्रासमान सी. प्रतिस्थापन दर (जो ह्रासमान सी. उपयोगिता के नियम पर आधारित है)। समोत्पाद वक्र की उत्तलता का अर्थ भी दो साधनों के बीच ह्रासमान सी. प्रति दर होता है और यह परिवर्ती साधन पर ह्रासमान मात्रा प्रत्याय नियम लागू होने के कारण होता है। जिस हद तक एक परिवर्ती साधन के केस में (जब उसे स्थिर साधनों की एक नियत मात्रा के साथ प्रयोग किया जाए) वर्धमान या स्थिर सी. उत्पाद सम्भव होता है, उस हद तक समोत्पाद वक्र के सरल रेखीय या अवतल भाग होंगे। परन्तु एक समोत्पाद वक्र के उत्तल भाग पर ही कार्य करना तकनीकी दृष्टि से सदा उसी प्रकार कुशल होता है जिस प्रकार कुल उत्पाद वक्र के उस भाग पर कार्य करना विवेकपूर्ण होता है जिसकी विशेषता परिवर्ती-साधन की धनात्मक परन्तु ह्रासमान उत्पादकता है। समोत्पाद वक्रों की आकृति के विषय में अपनी व्याख्या को समाप्त करते हुए हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार अधिकाधिक ऊंचे समभाव वक्र सन्तुष्टि के उत्तरोत्तर ऊंचे स्तरों को दर्शातें हैं ठीक उसी प्रकार ऊंचे समोत्पाद वक्र उत्पादन की उत्तरोत्तर अधिक मात्राओं को दर्शाते हैं। इसके अलावा जिस प्रकार दो समभाव वक्र कभी भी एक-दूसरे को नहीं काट सकते, वैसे ही कोई भी दो समोत्पाद वक्र एक-दूसरे को नहीं काट सकते (यदि वे काटे तो बहुत बेतुके परिणाम निकलते हैं। अभ्यास के तौर पर करके देखिए)। परन्तु यदि कोई समोत्पाद वक्र बायीं ओर स्थानांतति होता है (जैसाकि रेखाचित्र 14 में टूटे हुए वक्र द्वारा दिखाया गया है) तो इसका अर्थ होगा उत्पादन की एक दी हुई मात्रा दोनों साधनों को एक अपेक्षाकृत कम मात्रा के साथ उत्पादित की जा सकती है। ऐसा तब होता है जब तकनीकी प्रगति होती है। समोत्पाद वक्र (जो उत्पादन-फलन का विशेष रूप है) की अवधारणा से सुसज्जित होने के पश्चात् हब हम उत्पादन के नियमों की व्याख्या में इस अवधारणा का प्रयोग करेंगे।

समोत्पाद वक्र की अवधारणा की परिभाषा कर चुकने के पश्चात्, अब हम कुछ और सम्बद्ध धारणाओं की व्याख्या की ओर आते हैं। सर्वप्रथम हम एक उत्पादन-साधन की सीमान्त उत्पादकता को लेते हैं और उसे साधारण रेखाचित्र की सहायता से समझाते हैं। वक्र P_1 पर बिन्दु R से बिन्दु S पर जाने का अर्थ है श्रम की मात्रा में BD के बराबर वृद्धि जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन में CA के बराबर वृद्धि होती है। इस अतिरिक्त उत्पाद (=CA) की श्रम की अतिरिक्त मात्रा (=BD) से विभाजित करने पर हमें श्रम का प्रति इकाई अतिरिक्त उत्पाद प्राप्त होता है जिसे अर्थशास्त्र की भाषा में 'श्रम की सीमांत उत्पादकता' कहा जाता है। हम यह बात फिर दोहराते हैं कि एक साधन की सीमान्त उत्पादकता कुल उत्पाद में हुई वह वृद्धि होती है जो, अन्य सभी साधनों की मात्रा स्थिर रहते हुए, उस साधन की मात्रा में एक थोड़ी-सी वृद्धि के कारण होती है। रेखागणितीय भाषा में, रेखाचित्र में किसी बिन्दु विशेष पर कुल उत्पाद वक्र का ढलान श्रम की सीमांत उत्पादकता का द्योतक है। स्पष्ट है कि वक्र P_1 का ढलान प्रत्येक बिन्दु पर भिन्न है। वास्तव में यह श्रम की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि के साथ लगातार गिरता जाता है। अतः रेखाचित्र 1 में वक्र TP का अर्थ है, बिन्दु A से लेकर अन्त तक श्रम की गिरती हुई सीमांत उत्पादकता अर्थात् श्रम का ह्रासमान प्रतिफल (याद रहे, वर्तमान स्थिति में श्रम ही परिवर्ती साधन है)। अब रेखाचित्र 6 में वक्र P_1 पर ध्यान दीजिए। P_1 का ढलान क्या व्यक्त करता है? वक्र P_1 पर प्रत्येक बिन्दु दोनों साधनों (अर्थात् श्रम और पूंजी जिन्हें क्रमशः X-अक्ष और Y-अक्ष पर नापा गया है) के एक विशेष संयोग को व्यक्त करता है। इसलिए इस वक्र पर दाईं ओर जाने का अर्थ है पूंजी का श्रम द्वारा प्रतिस्थापन करना और बाईं ओर जाने का अर्थ है श्रम का पूंजी द्वारा प्रतिस्थापन। उदाहरण के लिए रेखाचित्र 6 में वक्र P_1 पर बिन्दु B से C बिन्दु पर जाने का अर्थ है पूंजी की मात्रा में (LM = BN) के बराबर कमी होना (अर्थात् OL से घटकर OM रहा जाना) और साथ-साथ श्रम की मात्रा OR से बढ़कर OS हो जाना (वृद्धि = RS = NC)। BN की NC से भाग देने पर हमें श्रम की उस मात्रा का पता चलता है जो पूंजी की मात्रा में एक थोड़ी-सी कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक है ताकि कुल उत्पाद उतना ही बना रहे। अतः समोत्पाद वक्र P_1 का ढलान साधनों की तकनीकी प्रतिस्थापन दर या सीमान्त प्रतिस्थापन दर का सूचक है। जैसा कि रेखाचित्र 6 में वक्र P_1 के अधोमुखी ढलान से स्पष्ट है, सीमान्त प्रतिस्थापन दर ऋणात्मक है (क्योंकि दोनों साधनों की मात्राओं में परिवर्तनों के चिह्न एक दूसरे के विपरीत है) और जैसे-जैसे हम इस वक्र पर दायीं ओर जाते हैं, यह लगातार घटता जाता है क्योंकि वक्र नीचे की ओर उत्तल है। सीमान्त प्रतिस्थापन दर दो साधनो की परस्पर प्रतिस्थापनीयता (या कितनी सुगमता से एक साधन दूसरे साधन द्वारा प्रतिस्थापन किया जा सकता है) का माप है। परन्तु इस अवधारणा में एक गम्भीर त्रुटि है। यह अवधारणा सम्बद्ध साधनों की माप की इकाइयों पर आधारित है। प्रतिस्थापन की धारणा को माप की इकाइयों से स्वतन्त्र करने के लिए, हम पूंजी-श्रम अनुपात में प्रतिशत परिवर्तन (स्पष्टतः समोत्पाद वक्र P_1 पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने से पूंजी-श्रम अनुपात में एक परिवर्तन होता है) को सीमांत प्रतिस्थापन दर (MRS) में प्रतिशत परिवर्तन से भाग देते है। इस प्रकार प्राप्त अनुपात को, जो माप की इकाइयों से स्वतन्त्र है (अर्थात् मात्र एक आंकड़ा है) 'प्रतिस्थापन की लोच' कहा जाता है। (इसकी तुलना मांग की लोच से कीजिए जो मांगी गई मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन और कीमत में प्रतिशत परिवर्तन का अनुपात होता है) प्रतिस्थापन लोच से हमें पता चलता है कि MRS में एक थोड़े से परिवर्तन के परिणामस्वरूप, पूंजी-श्रम अनुपात में कितना सापेक्ष परिवर्तन होता है। आगे चलकर आपको ज्ञात होगा कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, MRS साधनों की कीमतों के अनुपात के बराबर होता है। अन्य शब्दों में प्रतिस्थापन की लोच से हमें यह पता चलता है कि साधनों की सापेक्ष कीमतों में एक छोटे-से परिवर्तन के परिणामस्वरूप, उत्पादक साधनों की सापेक्ष मात्राओं में किस प्रकार परिवर्तन करते हैं। किसी प्रक्रिया के पूंजी-श्रम अनुपात K/L (अर्थात् उस प्रक्रिया में पूंजी की मात्रा + श्रम की मात्रा) को उस उत्पादन की प्रक्रिया की साधन-सघनता (factor-intensity) भी कहा जा सकता है। इस प्रकार, रेखाचित्र 6 में, वक्र P_1 के बिन्दु B पर, साधन-सघनता Y-Coordinate तथा X-Coordinate के अनुपात (यानी OL/OR) के बराबर है। इसी प्रकार, रेखाचित्र 6 में उद्गम बिन्दु से आरम्भ होने वाली रेखाओं के ढलान विभिन्न प्रक्रियाओं की साधन-सघनता के माप है। क्योंकि सरल रेखाएं होने के कारण OA, OB तथा OC रेखाओं के ढलान सभी बिन्दुओं पर समान है, इसलिए इन रेखाओं पर साधन-सघनताएं या साधन-अनुपात भी स्थिर रहते हैं। उदाहरणार्थ, प्रक्रिया A का साधन-अनुपात 3/1 के बराबर है या अन्य शब्दों में, प्रक्रिया A में श्रम की प्रत्येक इकाई के साथ पूंजी की 3 इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि इस अनुपात का सही मूल्य माप की इकाइयों पर निर्भर करता है। बाद के प्रभागों में हमें फिर ऊपर-वर्णित सभी अवधारणाओं का जिक्र करने की आवश्यकता पड़ेगी।



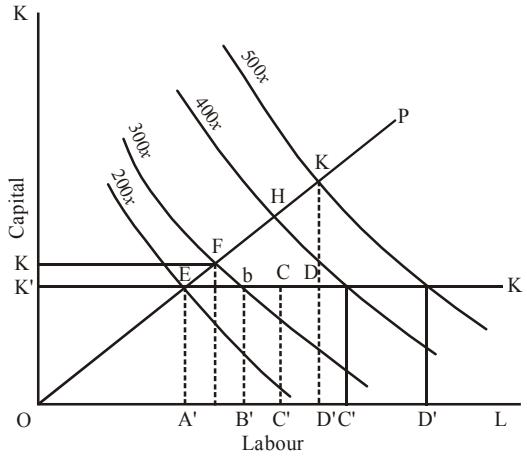
मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय तथा परिवर्ती साधन सम्बन्धी प्रत्याय

भूमिका

हम अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन उत्पादन-फलनों के बीच भेद की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर चुके हैं (देखिये खण्ड II)। दीर्घकाल में सभी साधन-आगत परिवर्तनीय होते हैं और इसलिए एक फर्म साधनों की मात्राओं में समानुपातिक या विभिन्न अनुपातों में वृद्धि करके अपने उत्पादन के स्तर में वृद्धि कर सकती है। इसके विपरीत, एक फर्म अल्पकाल में अपनी टिकाऊ साज-सज्जा (और प्रबंध) की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती और परिणामतः दी हुई साज-सज्जा के साथ अन्य परिवर्ती साधनों की अधिक मात्रा का प्रयोग करके ही अपने उत्पादन-स्तर में वृद्धि कर सकती है। परिवर्तनशील अनुपातों का नियम ऐसी स्थिति में ही उत्पादन की संवेदनशीलता को व्यक्त करता है। आपको इन दोनों शब्दों के विषय में कोई भ्रांति नहीं होनी चाहिए। 'मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' से अभिप्राय इस स्थिति में उत्पादन की संवेदनशीलता से है जब सभी साधन-आगतों की मात्रा में समानुपातिक वृद्धि होती है, जबकि 'साधन-सम्बन्धी प्रत्याय' से अभिप्राय उस स्थिति में उत्पादन की संवेदनशीलता से है जब कि शेष सब साधनों की मात्राएं स्थिर रखते हुए, एक साधन विशेष की मात्रा में वृद्धि की जाती है।

नीचे दिए गए रेखाचित्र में 'मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' और 'साधन-सम्बन्धी प्रत्याय' के बीच अंतर को बहुत स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र 15



सरल रेखा OP पर दोनों साधनों के बीच अनुपात स्थिर रहता है। अतः इस स्थिर अनुपात में मिश्रित दोनों साधनों की मात्रा नापने के लिए इस रेखा का प्रयोग किया जा सकता है। दीर्घकाल में, एक फर्म इस रेखा पर चल कर (अर्थात् दोनों साधनों की मात्राओं में समानुपातिक वृद्धि करके) अपना उत्पादन बढ़ा सकती है। किन्तु अल्पकाल में, फर्म अपनी पूंजीगत साज-सज्जा (K) के बराबर) तथा उपलब्ध प्रबन्ध की मात्रा में वृद्धि नहीं कर सकती। अतः यह क्षितिजीय रेखा KK पर चल कर ही, अर्थात् अन्य साधनों की स्थिर मात्रा के साथ अधिकाधिक श्रम लगा कर ही अपना उत्पादन बढ़ा सकती है।

यदि फर्म के लिए दोनों साधन-आगतों को बढ़ाना सम्भव होता (जो कि केवल दीर्घकाल में ही हो सकता है), तो फर्म बिन्दु 'E' से बिन्दु 'F' पर पहुंच कर अपने उत्पादन को 200 × प्रतिदिन से बढ़ा कर 300 × प्रतिदिन कर लेती। बहरहाल, अल्पकाल में यह सम्भव नहीं है क्योंकि कुछ समय तक फर्म की पूंजीगत साज-सज्जा (K के बराबर) में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। फर्म KK रेखा पर बिन्दु 'E' से बिन्दु 'B' पर जाकर ही अपना उत्पादन बढ़ा सकती है। OP रेखा पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना 'मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' को व्यक्त करता है जबकि KK रेखा पर स्थानान्तरण साधन-सम्बन्धी प्रत्याय को।

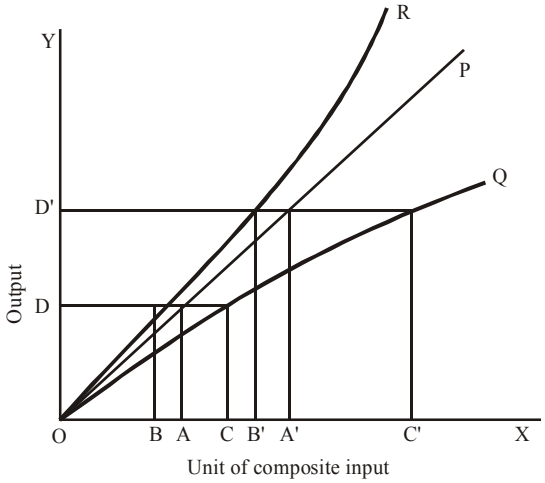
मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, 'मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय का अर्थ है उस स्थिति में उत्पादन की संवेदनशीलता जबकि सभी साधनों की मात्रा में समानुपातिक वृद्धि हो। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में तीन प्रकार की सम्भावनाएं हैं : उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि साधन-आगतों में वृद्धि के बराबर हो, उससे कम हो या फिर उसे अधिक हो। उदाहरण के लिए, यदि सभी साधन-आगतों में 10% वृद्धि हो (अर्थात् साधन-अनुपात स्थिर रहे), तो उत्पादन में वृद्धि ठीक 10% हो सकती है, 10% से कम भी हो सकती है (जैसे 5%) और 10% से अधिक भी (जैसे 20%)। यदि उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि साधन-आगतों में आनुपातिक वृद्धि के बराबर हो, तो हम कहते हैं कि 'स्थिर मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' है। यदि उत्पादन में सापेक्ष वृद्धि साधन-आगतों में सापेक्ष वृद्धि से कम हो, तो 'ह्रासमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' है और इसकी विपरीत स्थिति में (अर्थात् जब उत्पादन में सापेक्ष वृद्धि साधन-आगतों में सापेक्ष वृद्धि से अधिक हो तो) 'वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' है। इन तीन सम्भावनाओं का सापेक्ष विवरण नीचे दिया गया है :

साधनों में सापेक्ष वृद्धि	उत्पादन में सापेक्ष वृद्धि	मात्र-सम्बन्धी प्रत्याय
10%	= 10%	स्थिर
10%	< 10%	ह्रासमान
10%	> 10%	वर्धमान

वैकल्पिक रूप से, हम एक सरल रेखाचित्र की सहायता से भी मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय को स्पष्ट कर सकते हैं। इसमें हम क्षितीजीय अक्ष पर मिश्रित साधन की इकाइयों (अर्थात् एक स्थिर अनुपात में मिश्रित सभी साधन-आगते) मापते हैं तथा लम्बवत्-अक्ष पर उत्पादन।

रेखाचित्र 16



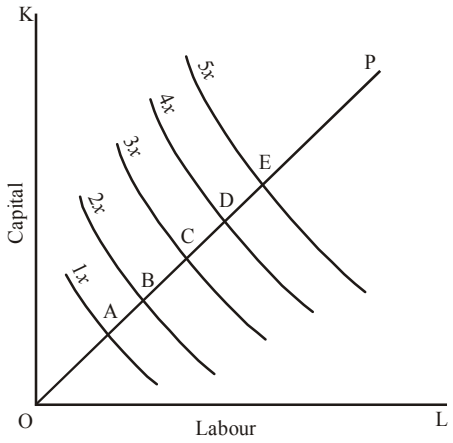
बिन्दु 'O' से आरम्भ होने वाला कुल उत्पाद वक्र मिश्रित साधन की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादन में होने वालापरिवर्तन दर्शाता है। यदि कुल उत्पाद वक्र एक सरल रेखा है, तो इसका अर्थ है कि स्थिर मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय है। इस रेखा पर चलने का अर्थ है मिश्रित साधन की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप कुल उत्पादन में समानुपातिक परिवर्तन। उदाहरण के लिए, मिश्रित साधन की मात्रा को दुगुना करने से (OA से OA′) कुल उत्पादन की मात्रा भी दुगुनी हो जाती है (OD से OD′)। बहरहाल, यदि कुल उत्पाद वक्र 'OR' की तरह का हो (अर्थात् जिसका झुकाव निरन्तर बढ़ रहा हो), तो यह 'वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' को व्यक्त करेगा। इस वक्र पर चलने का अर्थ है मिश्रित साधन की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप कुल उत्पादन में अनुपात से अधिक परिवर्तन।

इस स्थिति में, यदि उत्पादन को दुगुना (OD से OD′) करना हो, तो मिश्रित साधन को दुगुने से कम (OB से OB′) करके ही काम चल जाएगा। इसके विपरीत, यदि कुल उत्पाद वक्र का झुकाव निरन्तर कम हो रहा हो (ऐसी स्थिति में यह वक्र सरल रेखा उत्पाद वक्र के दायीं ओर होगा), तो यह 'ह्रासमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' को व्यक्त करेगा। इस स्थिति में, कुल उत्पादन को दुगुना (OD से OD′) करने के लिए मिश्रित साधन को दुगुने से अधिक (OC से OC′) करना होगा।

मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय को समोत्पाद वक्रों की सहायता से भी समझाया जा सकता है। इसके लिए उत्तरोत्तर 'गुणित-उत्पादन-स्तर' समोत्पाद वक्रों की सापेक्ष स्थितियों से निष्कर्ष निकालना होगा। 'गुणित समोत्पाद वक्र' उन उत्पादन-स्तरों को दर्शाते हैं जो किसी आधार-उत्पादन-स्तर के गुणज (multiple) हों, जैसे x, $2x$, $3x$ आदि।

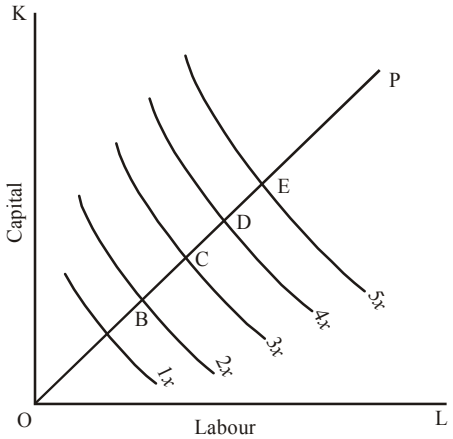
मूल बिन्दु से गुजरने वाली सरल रेखा, जैसे OP, मिश्रित साधन-आगत (अर्थात् एक स्थिर अनुपात में मिश्रित साधनों) की विभिन्न मात्राएं दर्शातीी है। ऐसी रेखा को प्रायः 'उत्पाद रेखा' या 'स्थिर साधन-अनुपात रेखा' कहा जाता है। ऐसी रेखा पर उत्तरोत्तर 'गुणित समोत्पाद वक्रों' के बीच अन्तर यह बताते हैं कि उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए साधन-मात्राओं में आवश्यक वृद्धि स्थिर होगी, वर्धमान होगी या फिर ह्रासमान होगी। यदि 'उत्पाद रेखा' पर 'गुणित समोत्पाद वक्रों में अन्तर बराबर हो, तो इसका अर्थ है कि स्थिर मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय है। उदहारण के लिए, रेखाचित्र 17 में, उत्पाद-रेखा OP पर, उत्तरोत्तर गुणित समोत्पाद वक्रों के बीच अन्तर बराबर है (OA = AB = BC = CD)। यदि उत्पाद-रेखा OP पर उत्तरोत्तर गुणित समोत्पाद वक्रों के बीच अन्तर बढ़ रहे हों, तो इसका अर्थ है कि उत्पादन मे उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए साधन-आगतों में उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि की आवश्यकता है अर्थात् ह्रासमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय है।

रेखाचित्र 17

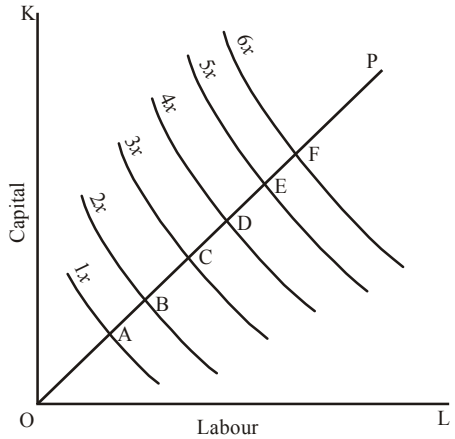


रेखाचित्र 18 में, जैसे-जैसे हम उत्पाद-रेखा OP पर आगे बढ़ते हैं, उत्तरोत्तर गुणित समोत्पाद वक्रों में अन्तर बढ़ता जाता है। इसके विपरीत, जब एक उत्पाद रेखा पर उत्तरोत्तर गुणित समोत्पाद वक्रों में अन्तर कम होते जाते हैं, तो इसका अर्थ है कि वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी

रेखाचित्र 18



रेखाचित्र 19

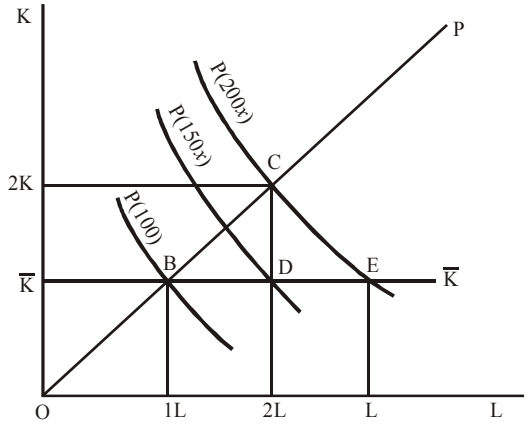


प्रत्याय है। रेखाचित्र 19 में उत्तरोत्तर गुणित समोत्पाद-वक्रों में अन्तर निरन्तर कम हो रहे हैं (ED < CD < BC < AB)। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादन को दुगुना करने के लिए साधनों की मात्रा को दुगुना करने की आवश्यकता नहीं, दुगुने से कम करने से ही काम चल जाएगा। इसका अर्थ यह भी है कि यदि साधनों की मात्रा को दुगुना किया जाए, तो उत्पादन दुगुने से अधिक हो जाएगा। इसके विपरीत, ह्रासमान मात्रा सम्बन्धी प्रत्याय को स्थिति में उत्पादन को दुगुना करने के लिए साधनों की मात्रा को दुगुने से अधिक करना पड़ेगा। दूसरें शब्दों में यदि साधनों की मात्रा को दुगुना किया जाए, तो उत्पादन दुगुना नहीं, दुगुने से कम होगा।

क्या स्थिर या वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय का साधन के ह्रासमान प्रतिफल से अविरोध है?

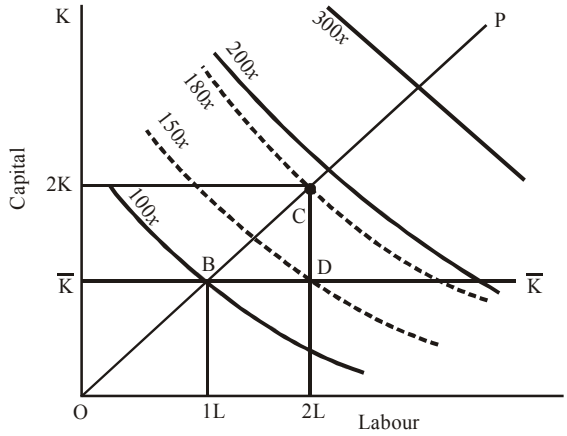
ऊपर खण्ड 5 में हमने 'मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय' तथा 'एक साधन के प्रतिफल' के भेद के विषय में विस्तार से बताया था और समोत्पाद वक्रों की सहायता से भी इस भेद को स्पष्ट किया था। आपको याद होगा कि एक साधन का ह्रासमान प्रतिफल ही समोत्पाद वक्र के उत्तल होने का आधार है। (समोत्पाद वक्रों के आकार का विवरण देखिए।) समोत्पाद वक्रों के उत्तल होने की स्थिति में, यह दिखाया जा सकता है कि स्थिर या ह्रासमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय किसी साधन के ह्रासमान प्रतिफल को नहीं रोक सकते। यह दिखाने के लिए हम नीचे दिए गए रेखाचित्र में पहले स्थिर मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय का केस लेते हैं।

रेखाचित्र 20



रेखाचित्र 20 दिखाता है कि दोनों साधन-आगतों की मात्रा को दुगुना करके उत्पादन को दुगुना (100 *x* से 200 *x*) किया जा सकता है। किन्तु यदि केवल श्रम की मात्रा को ही दुगुना किया जाए (1L से 2L) और पूंजी की मात्रा को स्थिर रखा जाए (K पर), तो श्रम की सीमान्त उत्पादिता ह्रासमान होगी (=x को 50 इकाइया)।

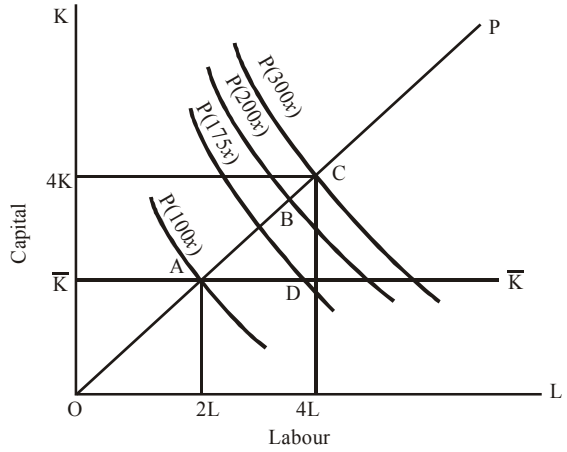
रेखाचित्र 21



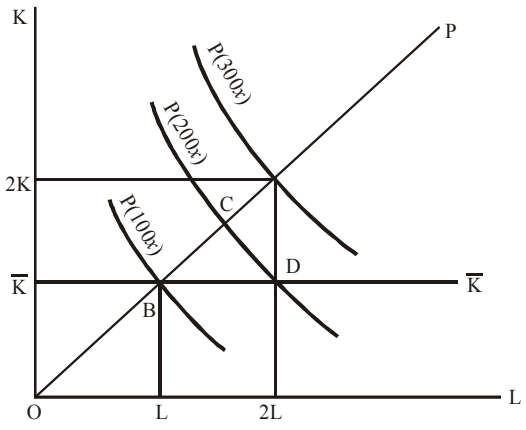
बहरहाल, यदि कोई फर्म इस रेखा पर रहते हुए अपने उत्पादन का दुगुना करना चाहे, तो इसे बिन्दुE पर पहुंचना होगा जो P(200) पर स्थित है और जहां श्रम की मात्रा 1 है जो कि 2L से अधिक है। अतः हमने सिद्ध कर दिया कि न केवल स्थिर मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय तथा परिवर्ती कारक के ह्रासमान प्रतिफल (अर्थात् ह्रासमान सीमान्त उत्पादिता) में कोई विरोध नहीं, अपितु परिवर्ती कारक का ह्रासमान प्रतिफल स्थिर मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय का निहितार्थ है। इसी तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है। कि यदि स्थिर मात्रा सम्बंधी प्रत्याय का निहितार्थ है परिवर्ती कारक की ह्रासमान सीमान्त उत्पादिता, तो ह्रासमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय का निहितार्थ होगा परिवर्ती कारक का और भी तीव्रता से ह्रासमान प्रतिफल। इसे रेखाचित्र 21 में स्पष्ट किया गया है। क्योंकि मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय ह्रासमान है, अतः श्रम की 2L व पूंजी की मात्रा 2K मात्रा के साथ, उत्पादन केवल बिन्दु C तक पहुंचता है जो समोत्पाद वक्र P(200) से एक नीचे समोत्पाद वक्र पर स्थित है। उस स्थिति में उत्पादन और भी कम होगा (बिन्दु D पर) जब श्रम की मात्रा को तो दुगुना कर दिया जाए और पूंजी की मात्रा स्थिर रखी जाए।

बहरहाल, यदि उत्पादन-फलन वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय दिखा रहा हो, तो दो विरोधी शक्तियां परिवर्ती कारक के प्रतिफल पर एक साथ काम करती है– वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय इस प्रतिफल को ऊपर खींचते हैं, जब कि ह्रासमान सीमान्त उत्पादिता इसे नीचे धकेलती है। परिवर्ती कारक के प्रतिफल पर अन्ततः क्या प्रभाव पड़ता है, यह इन दोनों प्रभावों की सापेक्ष शक्ति पर निर्भर करता है। आम स्थितियों में, परिवर्ती कारक के प्रतिफल पर अन्ततः क्या प्रभाव पड़ता है, यह इन दोनो प्रभावों की सापेक्ष शक्ति पर निर्भर करता है। आम स्थितियों में, परिवर्ती कारक का प्रतिफल ह्रासमान होगा (रेखाचित्र 22 देखिए), किन्तु यदि वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय इतने सशक्त हो कि परिवर्ती कारक ही ह्रासमान सीमान्त उत्पादिता को निरस्त करके भी उनका प्रभाव बचा रहे (देखिए रेखाचित्र 23), तो परिवर्ती कारक का प्रतिफल वर्धमान होगा।

रेखाचित्र 22



रेखाचित्र 23



निष्कर्ष के तौर पर हम यह कह सकते हैं कि परिवर्ती कारक का ह्रासमान प्रतिफल, स्थिर व ह्रासमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय, दोनों में अन्तर्निहित है तथा कुछ स्थितियों में तो यह वर्धमान मात्रा-सम्बन्धी प्रत्याय के साथ भी सगत हो सकता है।

अब तक अपने विवेचन में हमने तीन प्रकार के मात्रा सम्बन्धी प्रत्याय अलग-अलग दिखाए है। परन्तु यह बिल्कुल सम्भव है कि एक फर्म को उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के प्रत्याय प्राप्त हो। ऐसा हो सकता है कि आरम्भ में जब एक फर्म अपने उत्पादन का पैमाना बढ़ाए तो उसे तकनीकी तथा प्रबन्धकीय मितव्ययिताएं प्राप्त हो। उदाहरण के लिए ऊंचे दर्जे के विशिष्टीकरण पर आधारित बड़े पैमाने के उत्पादन के तरीके तभी इस्तेमाल किए जा सकते हैं जब उत्पादन का स्तर काफी ऊंचा हो। इसके अलावा कुछ मितव्ययताएं ऐसी होती हैं जो केवल आकार पर निर्भर करती है। एक नलके के व्यास को दुगुना करने पर उसकी प्रवाह क्षमता दुगुने से बहुत अधिक हो जाती है। अविभाज्यता भी मात्रा-सम्बन्धी वर्धमान प्रत्याय का कारण बन सकती है। उदाहरणार्थ 'कुछ ऐसे उपकरण हो सकते हैं जो कुछ न्यूनतम या विशेष आकारों में ही उपलब्ध हो। केवल बड़े पैमाने के उत्पादन में ही ऐसे उपकरणों का पूर्ण प्रयोग किया जा सकता है। अन्य साधनों की मात्राओं में वृद्धि के साथ बड़ी मात्रा में प्रबन्धकीय प्रतीभा विशिष्टीकरण के माध्यम से और अधिक कुशलता का कारण बन सकती है। वर्धमान प्रत्याय के उस चरण के पश्चात् स्थिर प्रत्याय का चरण आ सकता है तथा एक उच्चतर समोत्पाद वक्र (जैसे 100 इकाइयों वाले समोत्पाद वक्र से 200, 300 या 400 इकाईयों वाले वक्र) पर पहुंचने के लिए

दूसरे, तीसरे या चौथे प्लाट की आवश्यकता हो सकती है। उदाहरण के लिए ऐसा हो सकता है कि उत्पादन को दुगुना करने के लिए एक और पहले जैसे प्लांट के निर्माण की आवश्यकता हो। ह्रासमान प्रत्याय का कारण आमतौर पर उस उत्पादन को दुगुना करने के लिए एक और पहले जैसे प्लांट की आवश्यकता हो सकती है। उदाहरण के लिए ऐसा हो सकता है कि उत्पादन को दुगुना करने के लिए एक और पहले जैसे प्लांट के निर्माण की आवश्यकता हो। ह्रासमान प्रत्याय का कारण आमतौर पर उस उत्पादन साधन की अविभाज्यता को बताया जाता है जिसे उद्यम कहा जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि उद्यमकर्ता और उसकी निर्णय करने की शक्ति अविभाज्य है और उनमें वृद्धि नहीं की जा सकती। परिणामस्वरूप जब उत्पादन के पैमाने में वृद्धि होती है, तो समन्वय तथा नियन्त्रण की कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती है जिनके फलस्वरूप ह्रासमान प्रत्याय प्राप्त होते हैं। परन्तु यहां पर 'पैमाने' की अवधारणा का प्रयोग संदिग्ध है क्योंकि यहां पर कम-से-कम एक साधन की मात्रा को स्थिर मान लिया गया है जबकि पैमाने में वृद्धि का अर्थ होता है सभी साधनों की मात्राओं में आनुपातिक वृद्धि होना। इस बिन्दु पर यह जिक्र करना उचित ही होगा कि अब तक हम केवल तकनीकी सम्बन्धों की बात करते रहे हैं और कभी भी साधनों की कीमत या फर्म के खर्च-सम्बन्धी प्रश्नों को नहीं उठाया। मन्ना सम्बन्धी प्रत्याय में तकनीकी तथा मौद्रिक दोनों प्रकार की मितव्ययिताएं शामिल हैं। अतः तकनीकी मितव्ययिताएं मात्रा सम्बन्धी मितव्ययिताओं का केवल एक भाग है। इस मात्रा-सम्बन्धी शेष मितव्ययिताओं पर अनुच्छेद में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

खण्ड VI

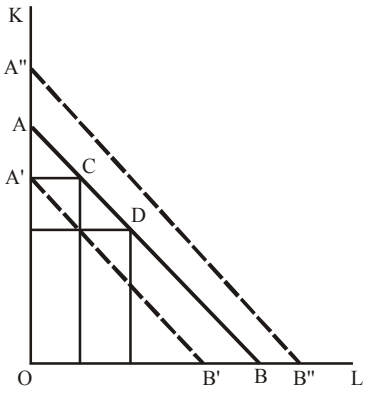
साधनों के अनुकूलतम या इष्टतम मिश्रण

अब तक हमने केवल तकनीकी सम्बन्धों पर विचार किया है और केवल तकनीकी कुशलता के आधार पर फर्म के चयन के क्षेत्र को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु, जैसाकि आपने देखा, उत्पादन-फलन पर विवेकशीलता का क्षेत्र काफी विस्तृत है (जैसे कुल उत्पादन वक्र का धनात्मक, परन्तु ह्रासमान ढलान वाला क्षेत्र और समोत्पाद वक्र का उत्तल भाग)। अब प्रश्न यह उठता है : साधनों के प्रयोग के मामले में फर्म कहा सन्तुलन प्राप्त करती है? या फर्म के लिए साधनों का कौन सा मिश्रण इष्टतम होता है? आप एकदम यह बात समझ सकते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए केवल तकनीकी सम्बन्धों का ज्ञान ही काफी नहीं है बल्कि कीमतों का ज्ञान भी अनिवार्य है। नीचे हम यह विवेचन करेंगे कि उत्पादन-फलन और कीमतों के ज्ञान के आधार पर किस प्रकार एक फर्म साधनों के इष्टतम संयोग का चयन करती है। पहले हम एक उत्पाद वाली फर्म (यानि ऐसी फर्म जो एक ही वस्तु के उत्पादन में लगी है) के केस पर विचार करेंगे। इस प्रभाग के अन्त में हम दो उत्पाद वाली फर्म के केस पर विचार करेंगे जिसे फिर किसी भी बहु-उत्पाद फर्म के लिए सामान्य नियम का रूप दिया जा सकता है। एक उत्पाद वाली फर्म पर विचार करते हुए पहले हम उसके अल्पकालीन सन्तुलन पर और फिर उसके दीर्घकालीन सन्तुलन पर विचार करेंगे। अल्पकाल और दीर्घकाल (हम भविष्य के विषय में पूर्ण ज्ञान की परिकल्पना करते हैं और इस प्रकार अनिश्चितता वर्जित करते हैं) के बीच महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि अल्पकाल में तो फर्म को किसी न किसी प्रतिबंध के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है जबकि दीर्घकाल में अधिकांश प्रतिबंध समाप्त हो जाते हैं और फर्म अपने उत्पादन सम्बन्धी निर्णय अधिक स्वतंत्रता के साथ कर सकती है। विचाराधीन समयावधि चाहे जो भी हो, हम यह मान कर चलते हैं कि फर्म का मुख्य उद्देश्य लाभ-अधिकतमकरण है। जैसाकि हम पहले भी कह चुके है, लाभ, आय तथा लागत के बीच के अन्तर के बराबर होता है, अर्थात्, फर्म को उत्पादन की बिक्री से प्राप्त आय पर उस खर्च पर आधिक्य जो उसे उत्पादन पर करनापड़ता है (इसमें परिवहन, संग्रहण, विज्ञापन आदि सभी शामिल हैं)। हम अपने विश्लेषण को उस स्थिति तक ही सीमित करते हैं जिसमें एक फर्म इतनी छोटी होती है कि वह न तो उस वस्तु की कमी को प्रभावित कर सकती है जिसे वह बेचती है और न ही उन उत्पादन साधनों की कीमतों को जिन्हें वह खरीदती है। अतः फर्म को वस्तु तथा साधनों की कीमतों को एक दिया हुआ तथ्य मानना पड़ता है और उसी के अनुसार उसे इष्टतम स्थिति का चयन करना पड़ता है।

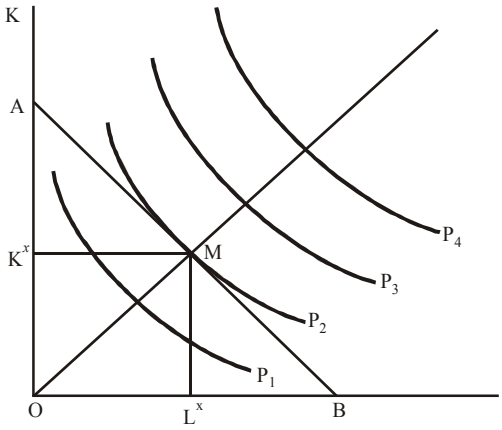
एक सम्भव स्थिति यह हो सकती है कि फर्म के नियन्त्रण में कुल साधनों की एक दी हुई मात्रा हो। अन्य शब्दों में, फर्म को एक लागत प्रतिबंध के ढांचे के अन्तर्गत काम करना पड़ता हो। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, फर्म का उद्देश्य लाभ अधिकतमकरण है। यदि हम लाभ को π से व्यक्त करे, आय को (Revenue) से और लागत को (Cost) से, तो समस्या को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

$\pi = R—C$ का अधिकतमकरण। फर्म की आय उस के उत्पादन के स्तर और वस्तु की कीमत पर निर्भर करती है। अन्य शब्दों में, $R = P_x.X$, जबकि X वस्तु x की उत्पादिता मात्रा को व्यक्त करता है और P_x वस्तु x की प्रति इकाई कीमत को। क्योंकि P_x और कुल लागत को स्थिर माना गया है, अतः समस्या असल में यह है :

रेखाचित्र 24



रेखाचित्र 25



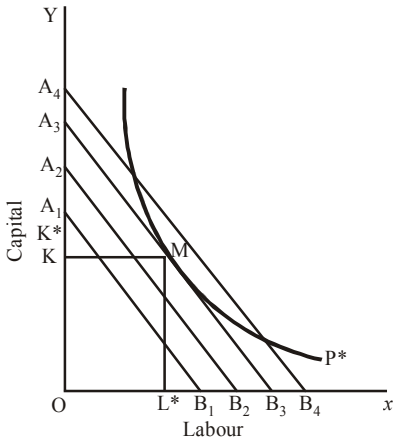
$\pi = LP_x.X - C$ का अधिकतमकरा। P_x और C पर डंडे इस बात को दर्शाते हैं कि यह मात्राएं स्थिर है। इस प्रकार इस समीकरण के दाएं पक्ष में केवल X ही अकेला परिवर्ती रह जाता है। साधारण भाषा में, इस का अर्थ है कि यदि फर्म अपने लाभ को अधिकतम करना चाहती है तो उसे अपने उत्पादन को अधिकतम करना होगा। अब हम यह देखते हैं कि फर्म ऐसा कैसे करती है। हम अपने विश्लेषण को समोत्पाद वक्रों (जिन का विवेचन ऊपर प्रभाग 4 में विस्तार पूर्वक किया गया था) और समलागत रेखाओं की सहायता से आगे बढ़ाते हैं। पहले हम यह बताएंगे कि समलागत रेखा का क्या अर्थ है? प्रभाग 4 में हमने समोत्पाद वक्र की तुलना उपभोक्ता समभाव वक्र से की थी। ठीक उसी प्रकार हम समलागत रेखा की तुलना उपभोक्ता की कीमत रेखा या बजट रेखा से कर सकते हैं। जिस प्रकार एक उपभोक्ता की बजट रेखा दो वस्तुओं के उन सभी वैकल्पिक संयोगों को व्यक्त करती है जो उपभोक्ता की कुल नियत आय से खरीदे जा सकते हैं, उसी प्रकार एक समलागत रेखा दो उत्पादन साधनों के उन विभिन्न संयोगों को व्यक्त करती है जिन में से प्रत्येक की लागत फर्म के कुल नियत साधनों के बराबर है। जैसाकि रेखाचित्र 24 से स्पष्ट है, एक समलागत रेखा ठीक बजट रेखा जैसी दिखाई पड़ती है। दो साधनों की दी हुई कीमत पर (P_l और P_k) उत्पादक अपनी पूरी राशि (=C) यदि पूंजी पर खर्च करे तो उस की OA मात्रा खरीद सकता है और यदि श्रम पर खर्च करे तो श्रम की OB मात्रा खरीद सकता है या फिर रेखा AB पर किसी भी बिन्दु द्वारा व्यक्त दोनों साधनों का कोई एक संयोग खरीद सकता है (जैसे बिन्दु C और D द्वारा प्रस्तुत संयोगों में से कोई एक)। स्पष्ट है कि $OA = C/P_k$ और $OB = C/P_l$। रेखा AB एक नीचे को गिरती हुई रेखा है और उसका ढलान OA/OB के बराबर है। OA और OB के स्थान पर यदि हम C/P_k तथा C/P_l रख लें, तो हमें पता चलता है कि AB रेखा का ढलान $OA/OB = C/P_k + C/P_l = C/P_k xI/C = P_l P_x$। इस प्रकार हम देखते हैं कि समलागत रेखा का ढलान वास्तव में साधन कीमतों के अनुपात को व्यक्त करता है। (आपको याद होगा कि उपभोक्ता बजट रेखा का ढलान वस्तुओं की कीमतों के अनुपात के बराबर होता है)। तुल्यरूपता को और आगे बढ़ाते हुए, जिस प्रकार बजट रेखा का स्थान उपभोक्ता की कुल आय पर निर्भर करता है उसी प्रकार एक समलागत रेखा का स्थान फर्म की कुल लागत या खर्च पर निर्भर करता है। रेखाचित्र 24 में, रेखा AB की तुलना में रेखा A′B′ लागत या खर्च के एक अपेक्षाकृत निम्न स्तर का प्रतिनिधित्व करती है जबकि रेखा A″B″ लागत के एक अपेक्षाकृत ऊंचे स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। क्योंकि फिलहाल हम लागतों के एक दिए हुए स्तर पर विचार कर रहे हैं, इसलिए हमारे प्रयोजन के लिए एक ही रेखा प्रासंगिक है जैसा कि रेखाचित्र 25 में दिखाया गया है। फर्म के सन्तुलन बिन्दु के निर्धारण के लिए हम समलागत रेखा पर समोत्पाद चित्र आरोपित करते हैं : जैसाकि हमने ऊपर कहा है, वर्तमान स्थिति में फर्म का उद्देश्य अपने उत्पादन को अधिकतम करना, अर्थात् उच्चतम सम्भव समोत्पाद वक्र पर पहुंचना है। परन्तु ऐसा करने में उस पर कुल लागत (जो ΔAOB के बराबर है) का प्रतिबन्ध है। यह प्रतिबंध फर्म के लिए सम्भाव्यता का क्षेत्र निर्धारित करता है। रेखा AB से नीचे किसी भी बिन्दु का अर्थ होगा फर्म को उपलब्ध कुल साधनों का पूर्ण से कम प्रयोग। इस प्रकार, फर्म को प्राप्य उच्चतम सम्भव समोत्पाद वक्र (रेखाचित्र 25 मेP_2) वह है जिसे समलागत रेखा केवल स्पर्श करती है। रेखाचित्र 25 में M सन्तुलन बिन्दु है जो P_2 पर स्थित है। रेखाचित्र 25 में समोत्पाद वक्र P_2 पर स्थित बिन्दु M सन्तुलन का बिन्दु है जो फर्म पूंजी की OK* मात्रा और श्रम की OL* मात्रा का प्रयोग करके प्राप्त करती है। (आप देख सकते हैं कि उपभोक्ता मांग सिद्धांत के साथ इसकी तुल्यरूपता पूर्ण है। उस संदर्भ में उच्चतम प्राप्य समभाव वक्र के साथ बजट रेखा के स्पर्श का बिन्दु उपभोक्ता के सन्तुलन का प्रतिनिधित्व करता था)।

एक दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि कुछ सम्बद्ध कारकों जैसे वस्तु की मांग, दूसरे उत्पादकों की कीमत, उत्पाक्त नीतियों (अर्थात् वर्तमान स्थिति और इन कारकों की प्रत्याशित भावी प्रवृत्तियां भी) आदि को ध्यान में रखते हुए, फर्म ने वस्तु को किसी विशेष मात्रा उत्पादित करने का निश्चय कर लिया हो। या फिर यह हो सकता है कि फर्म के लिए उत्पादन का स्तर किसी बाहरी एजेन्सी ने निर्धारित कर दिया हो, जैसे फर्म को किसी विशेष काम का ठेका मिला हो (कोई पुल, सड़क या मीनार बनाने का ठेका) या कोई विशेष आर्डर। इस स्थिति में, समस्या उत्पादन प्रतिबन्ध के अन्तर्गत लाभ अधिकतम-करण की है, अर्थात्—

π = R—C का अधिकतम-करण

= P_x.X—C

रेखाचित्र 26



क्योंकि वस्तु की कीमत P_x तथा उत्पादन का स्तर (X) दोनों ही दिए हुए हैं, समीकरण के दायीं ओर केवल C अर्थात् कुल लागत, ही एक मात्र परिवर्ती रह जाता है। क्योंकि इस समीकरण में C का चिह्न ऋणात्मक है, लाभ π का अधिकतम-करण और लागत C का न्यूनतमकरण दोनों एक ही बात है। इसलिए इस स्थिति में फर्म का उद्देश्य दिए हुए उत्पादन की लागत को न्यूनतम करना है। रेखाचित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया जाए, तो उत्पादन के एक दिए हुए स्तर का अर्थ है एक दिया हुआ समोत्पाद वक्र जैसाकि रेखाचित्र 26 में दिखाया गया है। इस समोत्पाद वक्र के ऊपर हम परस्पर समान्तर कुछ समलागत रेखाएं आरोपित करते हैं (यदि साधन की कीमतें स्थिर रहती हैं, तो विभिन्न समलागत रेखाओं का एक ही ढलान होगा, यद्यपि कुल लागत या व्यय के अनुसार उनके स्थान भिन्न होंगे)। फर्म उस बिन्दु पर सन्तुलन में होगी जहां दिया हुआ समोत्पाद वक्र निम्नतम सम्भव समलागत रेखा को स्पर्श करता है। रेखाचित्र 26 में बिन्दु M पर यह स्थिति प्राप्त होती है जहां पर फर्म श्रम की L* मात्रा और पूंजी की K* का का प्रयोग करके समोत्पाद वक्र P* द्वारा व्यक्त मात्रा का उत्पादन करती है जिससे दी हुई साधन कीमतों पर उत्पादन के इस स्तर की लागत न्यूनतम है। आपने देखा होगा कि फर्म चाहे लागत प्रतिबन्ध के अन्तर्गत काम करती है और उत्पादन अधिकतम करना चाहती है, या उत्पादन प्रतिबन्ध के अन्तर्गत काम करती है और उसकी लागत को न्यूनतम करने का प्रयत्न करती है, दोनों ही स्थितियों में समोत्पाद वक्र और समलागत रेखा का स्पर्श बिन्दु सन्तुलन का बिंदु होता है। आप यह जानते हैं कि जिस बिन्दु पर दोनों वक्र स्पर्शी होते हैं, वहां उनका ढलान बराबर होता है। समोत्पाद वक्र का ढलान साधनों के बीच सीमांत (तकनीकी) प्रतिस्थापन दर का सूचक होता है, जबकि समलागत रेखा का ढलान साधन कीमतों के अनुपात का सूचक होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि फर्म उस समय सन्तुलन प्राप्त करती है जब श्रम की पूंजी के लिए सी. प्रति. दर श्रम व पूंजी के कीमतों के अनुपात के बराबर हो या $MRS_{lk} = P_l/P_k$। जैसाकि हम जानते हैं कि MRS_{lk} पूंजी की उस मात्रा के अलावा और कुछ नहीं है जो उत्पादन के दिए हुए स्तर को बनाये रखने के लिए श्रम की एक इकाई की क्षतिपूर्ति करने के लिए आवश्यक है। अन्य शब्दों में $MRS_{lk} = \Delta K/\Delta L$। (हम आपको याद दिला दें ΔK और ΔL के चिह्न परस्पर विपरीत हैं, परन्तु इस समय हमारा सम्बन्ध उन की निरपेक्ष मात्राओं से है)। इसलिए, हम उपरोक्त समीकरण को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

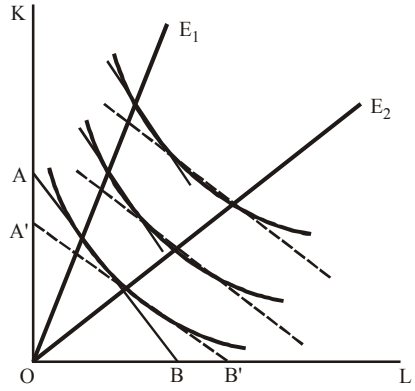
$MRS_{lk} = \Delta K/\Delta L = P_l/P_k$

$\Delta K.P_k = \Delta L.P_l$

इस का अर्थ है कि सीमांत पर, प्रतिस्थापन पूंजी की लागत अतिरिक्त नियोजित श्रम की लागत के ठीक बराबर है। सहजबुद्धि से भी यह देखा जा सकता है कि यदि $\Delta L, P_l > \Delta K.P_k$ तो फर्म के लिए श्रम की जगह पूंजी का प्रतिस्थापन करना लाभदायक होगा। दूसरी ओर, यदि $\Delta L, P_l < \Delta K.P_k$ तो लाभ अधिकतमकरण के लिए फर्म की पूंजी की जगह श्रम का प्रतिस्थापन करना चाहिए। अतः फर्म तभी एक साधन की जगह दूसरे का प्रतिस्थापन करना बन्द करती है जब दी हुई साधन कीमतों पर प्रतिस्थापित पूंजी की लागत अतिरिक्त नियोजित श्रम की लागत के बराबर हो। यही फर्म के लिए सन्तुलन का बिन्दु होता है। जब फर्म को एक निर्णय लेना है, यानि या तो उसे इष्टतम समोत्पाद वक्र चुनना है या फिर इष्टतम समलागत रेखा चुननी है, तो यही बिन्दु दो साधनों के इष्टतम संयोग को निर्धारित करता है। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि दी हुई समलागत रेखा और उच्चतम सम्भव समोत्पाद वक्र का स्पर्श बिन्दु या दिए हुए समोत्पाद वक्र और निम्नतम सम्भव समलागत रेखा का स्पर्श-बिन्दु फर्म के लिए उस इष्टतम अनुपात का सूचक है जिस में उसे दो साधनों को मिलाना चाहिए।

अब हम यह परिकल्पना करते हैं कि फर्म पर लागत या उत्पादन सम्बन्धी कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है और यह देखते हैं कि दीर्घकाल में लाभ अधिकतमकरण के लिए, यह किस प्रकार कार्य करती है। फर्म के लिए इस प्रकार के प्रतिबन्ध-मुक्त लाभ अधिकतमकरण का अर्थ है समय के साथ इष्टतम विस्तार-मार्ग का चयन करना। पहले उस स्थिति पर विचार करते हैं जब सभी साधन परिवर्तनीय हो और इस प्रकार उत्पादन के विस्तार के लिए फर्म के ऊपर तकनीकी या वित्तीय कोई भी प्रतिबन्ध न हो। फर्म का उद्देश्य है अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए अपने उत्पादन के विस्तार का इष्टतम मार्ग चुनना। जैसाकि आप ने भाप लिया होगा, दी हुई साधन कीमतों और उत्पादन-फलन के साथ इष्टतम विस्तार-मार्ग आनुक्रमिक समलागत रेखाओं तथा समोत्पाद वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं द्वारा निर्धारित होता है जैसाकि रेखाचित्र 27 में दिखाया गया है।

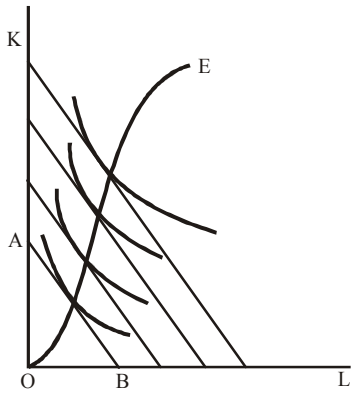
रेखाचित्र 27



यदि उत्पादन-फलन समघात है (समघात होने का अर्थ हे कि यदि हम दोनों साधनों की मात्राओं में एक ही अनुपात में वृद्धि करें, तो उत्पादन में वृद्धि भी उस अनुपात में होगी। दूसरे शब्दों में यदि श्रम की मात्रा L से बढ़कर P.L तथा पूंजी की मात्रा K से बढ़ाकर P.K कर दें, तो उत्पादन का नया स्तर पुराने स्तर का P-गुना होगा। उदाहरण के लिए, यदि दोनों मात्राओं को दुगुना कर दिया जाए, तो उसके कारण हुआ कुल उत्पादन $P^* = 2V.Po$ जिसमें Po उत्पादन का आरम्भिक स्तर है और V समघातिता का अंशाक है। जब $V = O$, तो उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होगा, और जब $V = 1$, तो साधनों की मात्रा के दुगुना करने पर उत्पादन भी दुगुना हो जायेगा और ऐसे उत्पादन-फलन को सरल रेखीय समघात या अंशाक 1 का समघात कहते हैं। स्पष्ट है कि $V > 1$ मात्रा सम्बन्धी वर्धमान प्रत्याय का सूचक है और $V < 1$ ह्रासमान प्रत्याय का) तो उत्पादन का विस्तार-मार्ग उद्गम बिन्दु से आरम्भ होने वाली OE_1 या OE_2 जैसी एक सीधी रेखा होगी। जैसाकि हम पहले भी समझाा चुके हैं, इस रेखा का ढलान इष्टतमK/L अनुपात निर्धारित करेगा। परन्तु इस रेखा का ढलान प्रचलित साधन कीमतों पर निर्भर करेगा। अपेक्षाकृत कम खड़ी समलागत रेखा $A'B'$ और उसके समान्तर रेखाओं जैसी अपेक्षाकृत कम खड़ी रेखाओं की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक खड़ी रेखा AB और उसके समान्तर रेखाओं द्वारा प्रदर्शित अपेक्षाकृत अधिक ऊंचे साधन-अनुपात का परिणाम होगा एक ऐसा विस्तार-मार्ग जो Y-अक्ष के अधिक पास होगा (जैसाकि रेखाचित्र 27 में OE_2 की तुलना में OE_1)। विस्तार-मार्ग OE_2 की तुलना में OE_1 का ढलान अधिक है और यह उत्पादन की अपेक्षाकृत अधिक पूंजी सघनता का सूचक है। स्पष्ट है कि साधन कीमतों के अनुपात में परिवर्तन के परिणामस्वरूप इष्टतम विस्तार-मार्ग की स्थिति

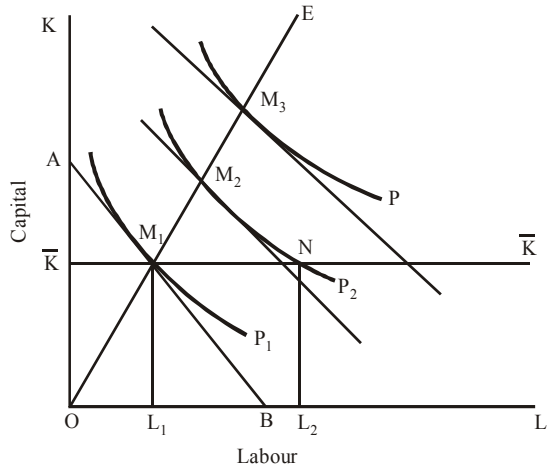
में परिवर्तन होगा। परन्तु यदि उत्पादन-फलन समघात न हो तो इष्टतम विस्तार-मार्ग एक सीधी रेखा नहीं होगी, भले ही साधन कीमतों का अनुपात स्थिर क्यों न रहे। यह रेखाचित्र 28 में दिखाये गये विस्तार-मार्ग OE जैसा वक्राकार होगा।

रेखाचित्र 28



अब हम एक ऐसी स्थिति पर विचार करते रहे हैं जिसके अन्तर्गत फर्म के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। परन्तु अल्पकाल में कुछ विशेष प्रकार के साधनों की मात्रा स्थिर हो सकती है जिसके कारण फर्म अपने उत्पादन के पैमाने में विस्तार (जिसके लिए सभी साधनों की मात्राओं में समानुपातिक परिवर्तन आवश्यक है जबकि अल्पकाल में आमतौर पर पूंजी की मात्रा स्थिर होती है) करने में असमर्थ हो सकती है और केवल श्रम की मात्रा में परिवर्तन करके ही उत्पादन में परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में फर्म इष्टतम विस्तार-फर्म पर उत्पादन करके अपना लाभ अधिकतम नहीं कर सकती और उसकी बजाय उसे X-अक्ष के समान्तर एक सीधी रेखा पर अपने उत्पादन का विस्तार करना पड़ता है (X-अक्ष पर हम परिवर्ती साधन श्रम को मापते हैं)। यह नीचे रेखाचित्र 29 में दिखाया गया है।

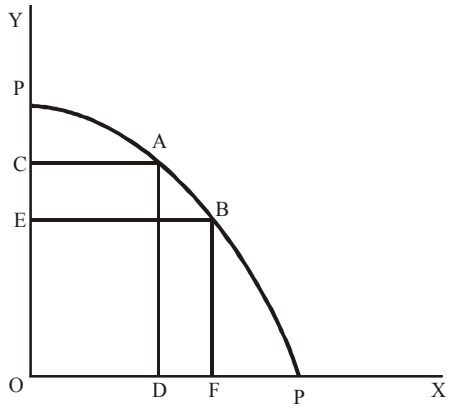
रेखाचित्र 29



रेखाचित्र में OE रेखा, जिस पर M_1, M_2 तथा M_3 स्थित है इष्टतम विस्तार-मार्ग है। बिन्दु M_1 पर फर्म पूंजी की K मात्रा के साथ श्रम की OL_1 मात्रा का प्रयोग कर रही है और समोत्पाद वक्र P_1 पर है। यदि फर्म अल्पकाल में उत्पादन में वृद्धि करना चाहती है, तो K दिया हुआ है और इसलिए समोत्पाद वक्र P_2 पर पहुंचने के लिए इसे रेखा पर KK बढ़ना होगा और समोत्पाद वक्र P_2 पर पहुंचने के लिए OL_2 श्रम का प्रयोग करना होगा। साधन कीमतों के दिए हुए अनुपात साथ (जो AB रेखा के ढलान के बराबर है) समोत्पाद वक्र P_2 पर पहुंचने के उद्देश्य से फर्म के लिए बिन्दु M_2 पर कार्य करना इष्टतम मार्ग है (जिसका अर्थ है श्रम और पूंजी दोनों की ही अधिक मात्राओं का प्रयोग करना)। परन्तु पूंजी की मात्रा स्थिर होने के कारण समोत्पाद वक्र P_2 पर पहुंचने के लिए बिन्दु N (वक्र P_2 और रेखा KK का कटान बिन्दु) पर कार्य करना पड़ता है।

अब तक हमने एक ही वस्तु का उत्पादन करने वाली फर्म के केस पर विचार किया है और यह देखने का प्रयत्न किया है कि प्रतिबन्धों के अंतर्गत या उनसे मुक्त होने पर फर्म किस प्रकार साधनों के इष्टतम संयोग का चयन करती है। अब हम अपने विश्लेषण को एक बहु-उत्पाद फर्म तक बढ़ाते हैं। रेखागणित की सहायता से विवरण को सरल बनाने के लिए हम यह मानकर चलते हैं कि फर्म X और Y दो वस्तुओं का उत्पादन करती है। (इसी विश्लेषण को आसानी से 2 से अधिक वस्तुओं के सामान्य नियम का रूप दिया जा सकता है)। हम यह कल्पना करते हैं कि प्रत्येक वस्तु L और K दो साधनों की सहायता से उत्पादित की जाती है और प्रत्येक वस्तु का उत्पादन-फलन है। हम यह भी मानकर चलते हैं कि फर्म अपने कुल साधनों का कुशलतम प्रयोग करती है। अन्य शब्दों में, फर्म दो वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उत्पादन साधनों का इस प्रकार आबंटन करती है कि उनके पुनराबंटन मात्र से एक वस्तु या दोनों वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना असम्भव हो। तकनीकी दृष्टि से यह समस्या वस्तुओं के कुशल संयोगों के चुनने की समस्या के समान है। (आप को याद होगा कि उत्पादन-फलन की परिभाषा करते समय हमने अपने विश्लेषण को साधनों के कुशल संयोगों तक ही सीमित रखा था और उन सभी तकनीकों को छोड़ दिया था जिनमें एक या दोनों साधनों की अधिक मात्रा का प्रयोग होता है)। परन्तु तकनीकी दृष्टि से दो वस्तुओं के बहुत सारे कुशल संयोग होते हैं जो प्रत्येक वस्तु के समोत्पाद वक्रों और प्रचलित साधन कीमतों के अनुपात के आधार पर खींची गई परस्पर समान्तर समलागत रेखाओं के स्पर्श बिन्दुओं द्वारा निर्धारित होते हैं। तकनीकी आधार पर इन कुशल संयोगों का बिन्दु-पथ उत्पादन सम्भावना वक्र कहलाता है। यह एक नीचे की ओर गिरता हुआ और उद्गम की ओर अवतल वक्र होता है जैसाकि रेखाचित्र 30 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 30

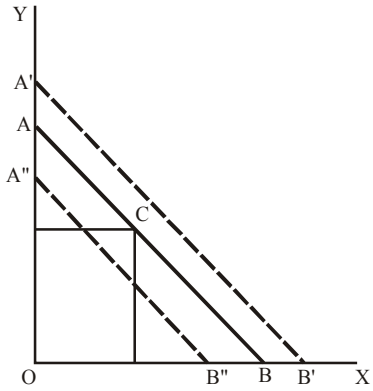


वक्र PP पर प्रत्येक बिन्दु X और Y के उस संयोग का सूचक है जो फर्म को उपलब्ध कुल साधनों से उत्पादित किया जा सकता है। वक्र से नीचे कोई भी बिन्दु फर्म के साधनों के अल्पप्रयोग का सूचक होता है। वक्र के अधोमुखी ढलान का अर्थ है कि फर्म के दिए हुए साधनों की सहायता से एक वस्तु के उत्पादन में कुछ कमी किए बिना दूसरी के उत्पादन में वृद्धि करना असम्भव है। यह फिर उसी तथ्य को व्यक्त करता है कि उत्पादन सम्भावना वक्र कुशल बिन्दुओं का बिन्दु पथ है। इस वक्र पर बाईं से दाईं ओर जाने में, फर्म वस्तु y का कुछ त्याग कर के वस्तु x के उत्पादन में वृद्धि करती है। उदाहरण के लिए, बिन्दु A से बिन्दु B के अन्तरण का अर्थ है वस्तु y की CE मात्रा का त्याग करके वस्तु x की DF के बराबर अतिरिक्त मात्रा प्राप्त करना। इस प्रकार आप देखते हैं कि किसी बिन्दु पर PP का ढलान वस्तु y की उस मात्रा को व्यक्त करता है जो वस्तु x की एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के लिए त्यागनी पड़ती है। अन्य शब्दों में, ढलान का पलट वस्तु y के x वस्तु में रूपांतरण की सीमांत दर (MRTy,x को या उत्पादन में वस्तु Y के x में प्रतिस्थापन की सीमांत दर को व्यक्त करता है। जैसाकि रेखाचित्र 30 से स्पष्ट है, जैसे-जैसे हम PP वक्र पर बायी से दायी ओर जाते हैं इसका ढलान लगातार बढ़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस वक्र पर दायी ओर प्रत्येक गति के साथ MRT घटता है। अन्य शब्दों में, वस्तु x की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए वस्तु Y की उत्तरोत्तर अधिक मात्रा का त्याग करना पड़ता है। ह्रासमान MRT का एक कारण यह है कि वस्तु y के उत्पादन में कमी करके साधन एक विशेष अनुपात में मुक्त होते हैं जबकि वस्तु x के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उनकी आवश्यकता एक भिन्न अनुपात में होती है। फलस्वरूप परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के कारण ह्रासमान प्रत्याय प्राप्त होते हैं। दूसरे जब वस्तु x का अधिकाधिक उत्पादन किया जाता

है तो ऐसे साधनों का प्रयोग करना पड़ता है जो उसके उत्पादन के लिए उत्तरोत्तर कम उपयुक्त होते हैं। इन दोनों कारणों से MRT गिरता है। यही PP वक्र की अवतलता का कारण है। अब यह प्रश्न उठता है : उत्पादन सम्भावना वक्र पर फर्म कौन-सा बिन्दु चुने? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वस्तुओं की कीमतों को चित्र में लाना आवश्यक है। तकनीकी दृष्टि से तो वक्र PP पर सभी बिन्दु समान रूप से कुशल हैं। परन्तु दोनों वस्तुओं के उत्पादनों का इष्टतम संयोग चुनने के लिए फर्म को उनकी सापेक्ष कीमतों को ध्यान से रखना होता है। इस संदर्भ में हम सम-आय रेखा की परिभाषा करते हैं जो समलागत रेखा की अवधारणा की तुल्यरूप है। ठीक जिस प्रकार एक समलागत रेखा पर प्रत्येक बिन्दु कुल लागत या व्यय के एक दिए हुए स्तर का प्रतिनिधित्व करता है, उसी प्रकार एक सम-आय रेखा पर प्रत्येक बिन्दु कुल आय लागत या व्यय के एक दिए हुए स्तर का प्रतिनिधित्व करता है, उसी प्रकार एक सम-आय रेखा पर प्रत्येक बिन्दु कुल आय के एक दिए हुए स्तर का सूचक होता है। उपभोक्ता की बजट रेखा या उत्पादक की समलागत रेखा की तरह यह रेखा भी नीचे की ओर गिरती है जैसाकि रेखाचित्र 31 में दिखाया गया है।

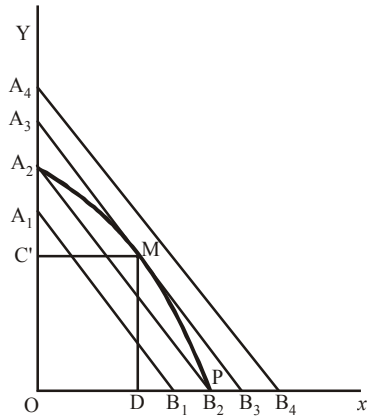
ही प्रबंधकीय कुशलता में वृद्धि होती है। बड़ी फर्मे प्रबंधकीय कुशल तकनीको जैसे टेलीफोन, टेलेक्स, मशीनों,

रेखाचित्र 31



AB रेखा पर प्रत्येक बिन्दु कुल आय के एक ही स्तर का सूचक है। Y-अक्ष के बिन्दु A पर पूरी आय दी हुई बाजार कीमत पर Y की बिक्री से प्राप्त होती है। जबकि X-अक्ष के बिन्दु B पर फर्म पूरी आय केवल X की बिक्री से ही प्राप्त करती है। बीच के बिन्दुओं पर (जैसे बिन्दु C) फर्म को वही आय दोनों वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त होती है। सम-आय रेखाAB का ढलान वस्तुओं की कीमतों के अनुपात (=Px/Py) को व्यक्त करता है। रेखा AB के दायीं ओर स्थित सम-रेखा (जैसे रेखाचित्र 31 में A′B′ रेखा) कुल आय के एक ऊंचे स्तर का प्रतिनिधित्व करती है जबकि उसके बायी ओर की रेखा (जैसे रेखाचित्र 31 मेंA″B″ रेखा) कुल आय के एक निम्नस्तर की सूचक होती है। अन्य शब्दों में कोई सम-आय रेखा उद्गम बिन्दु से जितनी ही दूर होगी, उतनी ही अधिक फर्म की आय होगी। वस्तुओं की दी हुई कीमतों ओर दिए हुए साधनों तथा उनकी दी हुई कीमतों पर आधारित विभिन्न उत्पादन सम्भावाओं के साथ, लाभ अधिकतमकारी फर्म का उद्देश्य है उच्चतम सम्भव सम-आय रेखा पर पहुंचना। इसके लिए हम सम-आय चित्र पर फर्म का उत्पादन सम्भावना वक्र आरोपित करते हैं और फिर दो वस्तुओं का इष्टतम संयोग निर्धारित करते हैं जैसाकि रेखाचित्र 32 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 32



फर्म उत्पाद-मिश्रण-सम्बन्धी संतुलन बिन्दु M पर प्राप्त करती है जहां पर उत्पादन सम्भावना वक्र सम-आय रेखाओं में एक रेखा को स्पर्श करता है। फर्म दिए हुए साधन और अपने सम्मुख विभिन्न उत्पादन सम्भावनाओं के होते हुए, सम-आय रेखा A_1B_1 या A_2B_2 पर कार्य कर सकती है, परन्तु यदि वह सम-आय रेखा A_3B_3 के बिन्दु M पर कार्य करे तो अधिक लाभदायक होगा। फर्म के दिए हुए साधनों के साथ सम-आय रेखा A_4B_4 उसकी पहुंच से बाहर है। आप देख सकते हैं कि बिन्दु M पर सम-आय रेखा A_3B_3 समोत्पाद वक्र PP के साथ स्पर्शी है जिसका अर्थ है कि इस बिन्दु पर PP वक्र और A_3B_3 रेखा के ढलान बराबर हैं। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि संतुलन में दो वस्तुओं की सीमान्त तकनीकी रूपांतरण दर उनकी कीमतों के अनुपात के बराबर होती है। ऐसी स्थिति में, फर्म अपने उत्पाद मिश्रण में परिवर्तन करके अपनी आय (और उसके माध्यम से लाभ) में वृद्धि नहीं कर सकती। उत्पाद मिश्रण के चयन में प्रस्तुत वस्तु के उत्पादन के लिए फर्म का साधनों के आबंटन से सम्बन्धित निर्णय भी निहित है।

अनुच्छेद

पैमाने की मितव्ययिताएं

मितव्ययिताएं दो प्रकार की हो सकती हैं, आंतरिक तथा बाह्य। पहली प्रकार की मितव्ययिताएं फर्म के आकार में परिवर्तन से उत्पन्न होती है और दूसरी प्रकार की उद्योग के विस्तार के कारण, अर्थात् फर्मों की संख्या में वृद्धि के कारण। बहरहाल, दोनों ही स्थितियों में मितव्ययिताएं फर्म को प्राप्त होती हैं (यद्यपि बाह्य मितव्ययिताएं फर्म के अपने किसी कार्य के कारण नहीं प्राप्त होती)। फर्म विभिन्न उत्पादन साधनों पर अपना खर्च बढ़ा कर ही अपने उत्पादन में वृद्धि कर सकती है। फर्म ऐसा साधन अनुपातों को स्थिर रखते हुए, अर्थात् प्रत्येक साधन की मात्रा एक ही अनुपात से बढ़ाकर (जैसे, साधनों की मात्राओं को दुगुना या तीन गुना करके) या साधनों की मात्राओं में वृद्धि करके परन्तु साथ-साथ साधन अनुपातों में परिवर्तन करके कर सकती है। साधनों की मात्राओं में समानुपातिक परिवर्तन किया जाता है और इस प्रकार साधन अनुपात स्थिर रखे जाते हैं, तो मिश्रित साधन तथा उत्पादन में परिवर्तनों के सम्बन्ध की मात्रा संबंधी प्रत्याय कहा जाता है। यदि सभी साधनों की मात्राओं को α से गुणा किया जाए और उसके परिणामस्वरूप होने वाला कुल उत्पादन पुराने उत्पादन का β गुणा है, तो पैमाने सम्बन्धी प्रत्याय को इस आधार पर वर्धमान, स्थिर या ह्रासमान कहा जा सकता है यदि क्रमशः $\beta >, =$ या $< \alpha$। यदि एक फर्म अपने उत्पादन में वृद्धि करने के लिए एक जैसे प्लांटों की संख्या बढ़ाने का फैसला करती है (जैसे उत्पादन दुगुना करने के लिए एक और वैसा ही प्लांट लगाना) तो वह कम-से-कम पैमाना-सम्बन्धी स्थिर प्रत्याय प्राप्त कर सकती है। इस प्रक्रिया को 'प्रतिकृति' कहा जाता है। परन्तु साधन अनुपात स्थिर रखते हुए यदि फर्म प्लांट का आकार बढ़ाती है तो फिर पैमाना-सम्बन्धी प्रत्याय वर्धमान, ह्रासमान या स्थिर हो सकते हैं। बहरहाल, किसी समय फर्म के द्वारा साधन अनुपातों में परिवर्तन करना अधिक लाभदायक हो सकता है (अर्थात्, उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उत्पादन की तकनीक को बदलना)। उपरोक्त कुछ स्थितियों में जो मितव्ययिताएं फर्म को प्राप्त होती हैं वे ''वास्तविक मितव्ययिताएं'' हैं क्योंकि ये तकनीकी सम्बन्धों से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत, ''मौद्रिक मितव्ययिताएं'' उत्पादन बढ़ाने के लिए फर्म द्वारा खरीदे जाने वाले उत्पादन साधनों की अपेक्षाकृत कम कीमतों से उत्पन्न होती है। पहली प्रकार की मितव्ययिताओं का सम्बन्ध प्रति इकाई उत्पादन के लिए साधनों की अपेक्षाकृत कम भौतिक मात्राओं के आवश्यक होने से है, जबकि दूसरी प्रकार की मितव्ययिताओं का सम्बन्ध साधनों की अपेक्षाकृत कम कीमतों से है। हम पहले ''वास्तविक मितव्ययिताओं'' पर विस्तार के साथ विचार करेंगे।

पैमाना-सम्बन्धी वास्तविक मितव्ययिताएं

जब बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है तो श्रम विभाजन के अनेक फायदे उठाए जा सकते है। श्रम विभाजन या विशिष्टीकरण एक ऐसी प्रक्रिया को व्यक्त करता है जिसके अन्तर्गत एक ही कार्य को कई भागों में बांट दिया जाता है और इन में से प्रत्येक भाग एक अलग श्रमिक द्वारा किया जाता है। इस प्रकार, प्रत्येक श्रमिक अपने भाग को बड़ी तेजी तथा कुशलता के साथ करने लगता है और इस प्रकार कार्य के उस भाग के करने में वह एक विशेषज्ञ बन जाता है। दक्षता में वृद्धि के कारण श्रम की उत्पादकता में महत्वपूर्ण वृद्धि होती है। क्योंकि श्रम विभाजन के फलस्वरूप एक श्रमिक को बार-बार एक कार्य से दूसरे कार्य में नहीं लगना पड़ता इसलिए उस समय की बचत होती है जो एक कार्य से दूसरे कार्य पर लगने, औजार या स्थान बदलने आदि में प्रायः नष्ट होता है। जैसाकि एक ही श्रमिक द्वारा कई प्रकार के कार्य किए जाने की स्थिति में प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक औजारों का पूर्ण संयोग नहीं हो पाता, श्रम विभाजन में प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक औजारों का लगातार प्रयोग होता है और वे बेकार नहीं पड़े रहते। एक कार्य का कई अलग-अलग भागों में विभाजन अविष्कारों तथा नवप्रवर्तन को प्रोत्साहित करता है। साधारण तथा आवृत्तीय कार्यों को सुगमता से करने

के लिए मशीनों का प्रयोग किया जाता है जिसके फलस्वरूप श्रम की उत्पादकता में और अधिक वृद्धि होती है। यंत्रीकरण की इस प्रक्रिया का अर्थ है अधिक विशिष्ट पूंजी उपकरण और साथ-साथ अधिक निवेश, जिसके फलस्वरूप बंधी लागतों की मात्रा में काफी वृद्धि हो जाती है। ऊंची बंधी लागतों और निम्न परिवर्ती लागतों वाली ये विधियां केवल बड़े पैमाने केउत्पादन के केस में ही लाभदायक होती है। उत्पादन वृद्धि के साथ प्रति इकाई कुल लागत लगातार गिरती है। (अविभाज्यता का अर्थ है प्लांट के एक न्यूनतम आकार का होना जिस से उत्पादन की कोई विशेष मात्रा न्यूनतम लागत पर उत्पादित की जा सकती हो। उत्पादकता के उसी स्तर पर इस प्लांट को दुगुना तो किया जा सकता है परन्तु उसे आधा नहीं किया जा सकता)।

जब किसी नई वस्तु का उत्पादन आरम्भ किया जाता है तो अनुसंधान तथा विकास, बाजार की खोज, रूप रेखा बनाने आदि, पर काफी आरम्भिक व्यय करना पड़ता है। एक बार इन आरम्भिक, स्थिर लागतों पर व्यय हो जाने के पश्चात्, इनमें कोई वृद्धि किए बिना वस्तु की कितनी भी मात्रा उत्पादित की जा सकती है। स्पष्टतः उत्पादन का पैमाना जितना बड़ा होगा, उतनी ही वस्तु की प्रति इकाई स्थिर लागत कम होगी। कुछ उद्योगों में विभिन्न क्रियाओं के लिए बहु-प्रयोजन मशीनों का प्रयोग किया जाता है, परन्तु प्रत्येक विशेष क्रिया के लिए मशीन को तैयार करना पड़ता है जिससे सेट-अप लागतें उत्पन्न होती हैं। एक भिन्न क्रिया के लिए मशीन को फिर से तैयार करना पड़ता है जिससे फिर लागतें उत्पन्न होती हैं। जाहिर है उत्पादन का पैमाना जितना बड़ा होगा उतनी ही प्रति इकाई सेट-अप लागत और उतनी ही बारम्बार सेट करने की आवश्यकता भी कम होगी।

कुछ तकनीकी मितव्ययिताएं केवल परिमाप सम्बन्धों से उत्पन्न होती हैं। कुछ प्रक्रियाओं के लिए टैंकों, कक्षों और नलकों की आवश्यकता होती है। ऐसे ढांचों को बनाने में कच्चे माल और श्रम की लागतें उनकी सतह के क्षेत्रफल के अनुपात में बढ़ती है जबकि उनकी धारिता उनके आयतन के अनुपात में बढ़ती है जो क्षेत्रफल से अधिक अनुपात में बढ़ता है। इस प्रकार ऐसे ढांचों वाले प्लांटों के लगाने की तकनीकी लागत उत्पादन के स्तर में वृद्धि के साथ गिरती है। यदि फर्में मशीनरी बिगड़ने की दशा में उत्पादन का बराबर प्रवाह बनाए रखने के लिए कुछ अतिरिक्त उत्पादन क्षमता रखना चाहती है तो यहां पर भी अधिक उत्पादन वाली फर्में ही लाभान्वित होंगी। कुछ अतिरिक्त उत्पादन क्षमता रखने के लिए एक छोटी फर्म को अपने कुल निवेश का अपेक्षाकृत बड़ा अनुपात स्थिर पूंजी पर खर्च करना पड़ेगा जबकि एक बड़ी फर्म के लिए अतिरिक्त उत्पादन क्षमता की लागत अपेक्षाकृत कम होगी। इसी प्रकार साधनों की पूर्ति (विशेष कर कच्चे माल की) और मांग में आकस्मिक परिवर्तनों से निपटने के लिए फर्म को कच्चे माल और तैयार माल के स्टॉक रखने पडते है। परन्तु माल-भण्डार का परिणाम उत्पादन-वृद्धि के अनुपात में नहीं बढता। एक बड़ी फर्म कच्चे माल और तैयार वस्तु के अपेक्षाकृत कम स्टॉकों की सहायता से अपने आदानों और तैयार माल का प्रवाह बनाए रख सकती है।

एकाधिकारी प्रतियोगिता के अन्तर्गत, नई या पुरानी, सभी फर्में अपनी-अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करती हैं। परन्तु विज्ञापन की लागतें उत्पादन के स्तर में वृद्धि के अनुपात में नही बढ़ती। विज्ञापन के बजट का निर्णय निधियों की सुलभता, फर्म के लाभ, निकट स्थानापन्न वस्तुओं का होना, अन्य प्रतियोगी फर्मों की विज्ञापन-सम्बन्धी गतिविधियों आदि के आधार पर किया जाता है। इसलिए उत्पादन में वृद्धि के साथ प्रति इकाई विज्ञापन-लागत आमतौर पर गिरती है। वस्तु के मॉडल या किस्म में परिवर्तन के लिए अनुसंधान तथा विकास, नये कच्चे माल व उपकरण, बिक्री-संवर्धन आदि पर काफी खर्च आवश्यक होता है। यदि फर्म का उत्पादन काफी अधिक है, तो वस्तु की प्रति इकाई बंधी लागतों का फैलाव कम होगा। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि विज्ञापन की सामाजिक या आर्थिक भूमिका चाहे जो भी हो, विपणन मितव्ययिताओं के कारण, उत्पादन के पैमाने में वृद्धि के साथ प्रति इकाई विज्ञापन-लागत कम से कम एक बिन्दु तक तो अवश्य ही गिरती है।

फर्म का बड़ा आकार उत्पादन, बिक्री, वित्त आदि से सम्बन्धित प्रबन्धकीय कार्यों में भी श्रम विभाजन सम्भव करता है। यह श्रम विभाजन प्रबन्धकीय कुशलता में वृद्धि करता है और इस प्रकार उत्पादन की प्रति इकाई लागत में कमी करता है। परन्तु छोटी फर्में ऐसे विशिष्टीकरण से लाभान्वित नहीं हो सकती। इसके अलावा, निर्णय करने की प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण के साथ ही प्रबन्धकीय कुशलता में वृद्धि होती है। बड़ी फर्में, प्रबन्धकीय कुशल तकनीकों जैसे टेलीफोन, टेलेक्स, मशीनों, क्लोज्ड सर्कट टेलीविजन आदि का भी प्रयोग कर सकती हैं। ऐसे साधनों का प्रयोग भी प्रबंधकीय कुशलता में वृद्धि करके उत्पादन की प्रति इकाई लागत में कमी करता है। परन्तु अनेक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि एक बिन्दु के पश्चात् बड़ी फर्मों का प्रबन्ध अत्यन्त जटिल हो जाता है और निरीक्षण तथा समन्वय की कठिनाइयों के कारण प्रबंधकीय अमितव्ययिताएं उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण औसत लागत वक्र ऊपर उठना आरम्भ कर देता है।

संग्रहण तथा परिवहन के क्षेत्र में भी बड़े पैमाने से कुछ मितव्ययिताएं प्राप्त होती हैं। क्योंकि गोदामों का निर्माण सतह के क्षेत्रफल और आयतन के बीच ज्यामितीय सम्बन्ध के अन्तर्गत होता है, इसलिए उत्पादन के स्तर में वृद्धि के साथ संग्रहण की प्रति इकाई लागत गिरती है। गोदामों की मंजिलों की संख्या में वृद्धि करना और भी अधिक लाभदायक होता है। इसी प्रकार जब तक फर्म को उपलब्ध परिवहन के साधनों की क्षमता का पूर्ण प्रयोग नहीं हो जाता, प्रति इकाई परिवहन लागत गिरती है।

पैमाने की मौद्रिक मितव्ययिताएं

बड़े पैमाने के कार्यों में लगी फर्म आमतौर पर कई प्रकार की छूटे और रिआयतें प्राप्त कर सकती है। वे अधा कच्चा माल अपेक्षाकृत कम कीमतों पर खरीद सकती है, कम ब्याज दरों पर (और अन्य अनुकूल शर्तों पर) उधार ले सकती है, अपनी वस्तुओं को विज्ञापन रिआयती दरों पर करवा सकती है और अपने माल को रिआयती दरों पर ढुलवा सकती हैं। ये सभी रिआयतें बड़े पैमाने के कार्यों के कारण उपलब्ध होती है। कभी-कभी बड़ी फर्में अपनी एक क्रेंताधिकारी शक्ति के कारण श्रमिकों को भी कम मजदूरी दे सकती हैं। (एक क्रेताधिकारी वह होता है जिसके नियन्त्रण में किसी वस्तु या उत्पादन के साधन की मांग का काफी अधिक भाग हो) इस प्रकार की सभी मौद्रिक मितव्ययिताओं के कारण उत्पादन के स्तर में वृद्धि के साथ औसत लागत गिरती है। परन्तु, उत्पादन के स्तर में वृद्धि के साथ औसत लागत लगातार गिरती है या बड़े पैमाने की अमितव्ययिताओं (मुख्यतः प्रबन्धकीय) के कारण एक बिन्दु के पश्चात् औसत लागत वक्र ऊपर उठना आरम्भ कर देता है, इस पर अर्थशास्त्री सहमत नहीं है। बड़ी संख्या में, वैज्ञानिक ढंग से किए गए अनुभवाश्रित अध्ययनों के आधार पर ही इस प्रश्न का सही उत्तर दिया जा सकता है।

फर्म का सिद्धांत

समस्या

दी हुई परिस्थितयों में, अधिकतम लाभ प्राप्त करना फर्म की समस्या है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में निजी फर्में, जिनका मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना माना जाता है, उत्पादन करती है। जैसे एक उपभोक्ता सभी निर्णय अपनी सीमित आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने के उद्देश्य से लेता है, ठीक उसी प्रकार एक फर्म भी अपनी सभी गतिविधियां इस प्रकार व्यवस्थित करती है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। जिस प्रकार एक उपभोक्ता तब संतुलन में होता है जब दी हुई परिस्थितियों में उसे अपनी सीमित आय से अधिकतम सम्भव संतुष्टि प्राप्त होती है, उसी प्रकार एक फर्म भी संतुलन में तब होगी जब कि दी हुई परिस्थितियों में उसे अधिकतम संभव लाभ प्राप्त होता है।

लाभ कुल आय और लागत के बीच अन्तर के बराबर होता है।

लाभ वस्तु की उत्पादित मात्रा की बिक्री से प्राप्त कुल आय (Total Revenue-TR) उसके उत्पादन में लगी लागत (Total Cost—TC) का अन्तर होता है। जाहिर है कि जब कुल आय (TR) तथा कुल लागत (TC) के बीच अन्तर अधिकतम होगा तभी लाभ भी अधिकतम होगा। उत्पादन की विभिन्न मात्राओं से प्राप्त कुल आय (TR) भिन्न-भिन्न होती है और उनसे जुड़ी कुल लागतें (TCs) भी भिन्न-भिन्न होती है। एक फर्म की मूलभूत समस्या, दी हुई परिस्थितियों के अन्तर्गत, उत्पादन के बहुत से संभव वैकल्पिक स्तरों में से उस स्तर विशेष का चयन करना है जिससे प्राप्त होने वाली कुल आय (TR) और जिसकी कुल लागत (TC) के बीच अंतर अधिकतम हो। अर्थशास्त्र के विशेष ज्ञान के बिना भी यह बात तो स्पष्ट है कि लाभ (अर्थात्, कुल आय तथा कुल लागत के बीच का अन्तर) उस बिन्दु पर अधिकतम होगी जब अधिक या कम उत्पादन करने से उसमें और वृद्धि न हो सके। इस साधारण तथ्य की सहायता से हम सीधे लाभ अधिकतमकरण की शर्तें निकाल सकते हैं।

MR > MC या MR < MC की स्थितियों में लाभ अधिकतम नहीं होता

अधिकतम लाभ उद्देश्य वाली फर्म के लिए विवेकशीलता की मान्यता का अर्थ है कि वह उत्पादन की प्रत्येक मात्रा का उत्पादन न्यूनतम सम्भव लागत पर करती है और प्रत्येक उत्पादित मात्रा को अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए बेचती है। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के कारण कुल लागत में कुल वृद्धि होती है और, दूसरी ओर, उसकी बिक्री से कुल आय में भी कुछ वृद्धि होती है। अर्थशास्त्र की तकनीकी भाषा में, वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई की बिक्री के कारण (जैसे 100 इकाई प्रतिदिन की बजाय 101 इकाई प्रतिदिन) कुल आय में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त आय (अर्थात् Marginal

Revenue या MR) कहते हैं। एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के कारण कुल लागत में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त लागत (Marginal Cost या MC) कहते हैं। यह बात स्पष्ट है कि यदि सीमांत आय (MR) सीमांत लागत (MC) से अधिक है तो उत्पादन का स्तर बढ़ाने से लाभ में वृद्धि होगी; और दूसरी ओर, यदि सीमांत लागत (MC) सीमांत आय (MR) से अधिक है तो उत्पादन का स्तर घटाने से लाभ में वृद्धि होगी। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि यदि सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक है (MR > MC) या सीमान्त लागत सीमांत आय से अधिक है (MC > MR) तो लाभ अधिकतम नहीं है। इससे यह परिणाम निकलता है कि लाभ अधिकतम तभी होगा जबकि (1) सीमान्त लागत = सीमान्त आय (MC = MR) तथा (2) इसके पश्चात् सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक हो (MC > MR)।

उत्पादन के किस स्तर पर लाभ अधिकतमकरण की उपरोक्त शर्तें पूरी होती है यह बहुत से तकनीकी तथा आर्थिक कारकों पर निर्भर करता है जिनमें से कुछ का अध्ययन आप इस पर्चे के सेट नं. VI में कर चुके हैं और शेष का अध्ययन प्रस्तुत सेट में किया जाएगा। इस बिन्दु पर इतना ही कहना काफी है कि उत्पादन को प्रभावित करने वाले तकनीकी तथा आर्थिक कारक चाहे जो भी हों, सभी परिस्थितियों में फर्म का लाभ अधिकतम तभी होगा जबकि :

लाभ अधिकतम तब होगा जब MR = MC और इसके पश्चात MC > MR।

(1) सीमान्त लागत = सीमान्त आय

(MC = MR)

और

(2) समानता के बिन्दु के पश्चात्

सीमान्त लागत > सीमान्त आय

(MC > MR)

MC तथा MR उत्पादन के स्तर में परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते हैं।

अधिकतम लाभ प्रदान करने वाले उत्पादन स्तर की पहचान करने के लिए हमें यह अध्ययन करना होगा कि फर्म के उत्पादन स्तर में परिवर्तनों के साथ लागतों (MC, AC, TC आदि) तथा आयों (AR, MR, TR आदि) में क्या परिवर्तन आता है। जाहिर है कि आय की प्रवृत्ति बाजार की उन परिस्थितियों पर निर्भर करेगी, जिनके अन्तर्गत फर्म अपने उत्पादित माल को बेचती है। दूसरी ओर, लागतों की प्रवृत्तियां उत्पादन की तकनीकी परिस्थितियों (अर्थात् उत्पादनाश्रित) तथा उत्पादन साधनों की कीमतों पर निर्भर करेगी। उत्पादनश्रितों तथा साधनों के इष्टतम संयोगों के सम्बन्ध में आप सेट नं. VI में विस्तारपूर्वक अध्ययन कर चुके हैं। उस अध्ययन के आधार पर हम प्रस्तुत प्रयोजन से सम्बद्ध लागतों की प्रवृतियां निकालेंगे। इसके साथ-साथ विभिन्न बाजार परिस्थितियों में फर्म की आय की प्रवृत्ति का अध्ययन भी करना होगा। आने वाले पृष्ठों में पहले हम फर्म की लागतों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे और फिर आय की प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे।

SECTION I

लागतें

1

विषय प्रवेश

विवेकशीलता तथा पूर्ण ज्ञान विश्लेषण की मान्यताएं हैं।

हम यह बात फिर से दोहराना चाहते हैं कि हम एक ऐसे विवेकी उत्पादक के व्यवहार का विश्लेषण करने जा रहे हैं जिसके बारे में उत्पादन की प्रत्येक मात्रा को, दी हुई परिस्थितियों के अन्तर्गत, न्यूनतम सम्भव लागत पर उत्पादित करने और उत्पादित मात्रा को अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए बेचने की मान्यता है। **इस मान्यता का यह निहितार्थ है कि उत्पादक को उत्पादन सम्बन्धी परिवर्तियों, जैसे तकनीकी ज्ञान, साधनों की कीमतें, वस्तु की मांग, आदि की वर्तमान व भावी परिस्थितियों के विषय में पूर्ण ज्ञान है। जाहिर है कि विश्लेषण को सरल रखने के उद्देश्य से यह केवल एक सैद्धान्तिक संरचना**

है। एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में किसी उत्पादक या तथा-कथित ''उद्यमकर्ता'' (Entrepreneur) को इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान नहीं होता और इस तथ्य से निकलने वाले परिणामों का विवेचन इस पर्चे के सेट नं. VIII में किया गया है। तब तक हम यह मान्यता लेकर चलेंगे कि उत्पादक को उन सब परिवर्तियों की मात्राओं तथा व्यवहार का पूर्ण ज्ञान है जो उसके निर्णयों से सम्बद्ध हैं।

2

कुल लागत के घटक : स्थिर तथा परिवर्ती लागतें

एक वस्तु की किसी मात्रा में उत्पादन करने में जो कुछ भी एक उत्पादक को खर्च करना पड़ता है वही उस मात्रा की कुल लागत होगी। परन्तु उत्पादन के लिए आवश्यक विभिन्न साधनों की प्रकृतियों का ध्यान से अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि विश्लेषण की दृष्टि से उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ साधन तो ऐसे हैं कि आवश्यकतानुसार उत्पादक जब चाहे उनकी मात्राओं को घटा या बढ़ा सकता है। दूसरी ओर, कुछ ऐसे साधन भी होते हैं जिनकी मात्राएं एक समयावधि तक स्थिर रखी हैं तथा आवश्यकतानुसार घटाई या बढ़ाई नहीं जा सकतीं। इसके परिणामस्वरूप उस समयावधि के दौरान वैकल्पिक उत्पादन सम्भावनाओं में से चयन करने की फर्म की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है।

स्थिर लागतें

जिन साधनों की मात्राओं में कुछ समयावधि तक परिवर्तन नहीं किया जा सकता, उनकी लागतों को स्थिर लागत कहते हैं।

अल्पकाल में दी हुई साज-सज्जा के कम या अधिक सघन प्रयोग से ही उत्पादन में परिवर्तन किए जा सकते हैं।

प्रथम, किसी वस्तु का उत्पादन आरम्भ करने के लिए कुछ मशीनों, इमारतों, उपकरणों तथा अन्य यंत्रों जैसेचिरस्थाई पूंजीगत वस्तुओं की एक न्यूनतम मात्रा की आवश्यकता पड़ती है, जिनकी यदि ठीक प्रकार से देख रेख की जाए तो वे लम्बे समय तक उत्पादन में योगदान कर सकती हैं। ऐसी चिरस्थाई पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन में योगदान केवल एक बार के प्रयोग से ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि भविष्य में एक लम्बे समय तक चलता रहता है। ऐसी पूंजीगत वस्तुओं से प्राप्त होने वाली प्रतिफल उनके पूरे उत्पादन जीवन काल पर फैले हुए होते हैं। इसलिए ऐसी पूंजीगत वस्तुओं में अपनी पूंजी फँसाने से पहले उत्पादक को उनसे प्राप्त होने वाले प्रतिफलों के पूरे प्रवाह के बारे में पूर्वानुमान लगाना पड़ता है। उत्पादक ऐसी चिरस्थाई पूंजीगत वस्तुओं में अपनी पूंजी तभी फंसाएगा जबकि उसे इन बात की पूरी आशा हो कि वह उनके पूरे उपयोगी जीवन काल स`कम से कम एक साधारण प्रतिफल (जो कि कम से कम वर्तमान ब्याज दर के बराबर तो हो) प्राप्त कर सकेगा। केवल अल्पकालीन संभाव्य प्रतिफलों के कारण ही वह ऐसी चिरस्थाई पूंजीगत वस्तुओं की स्थापना में अपनी पूंजी नहीं फंसाएगा। ऐसी वस्तुओं के निर्माण में भी आम तौर पर काफी समय लगता है। इस सीमाओं के कारण अल्पकाल में ऐसी वस्तुओं की मात्रा में परिवर्तन करना संभव नहीं होता। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि अल्पकाल में ऐसी वस्तुओं की मात्रा स्थिर होती है। इन परिस्थितियों में वस्तु की मांग में अल्पकालीन उतार चढ़ावों से निपटाने के लिए दी हुई साज-सज्जा के साथ अन्य साधनों की कम या अधिक मात्रा का प्रयोग करके कम या अधिक उत्पादन करने के अलावा फर्म को और कोई विकल्प उपलब्ध नहीं होता। फर्मों के प्रबन्धक, मैनेजर, सुपरवाईजर, तथा अन्य स्थाई कर्मचारी, जो किफर्मों के तथाकथित ''प्रबन्ध में शामिल होते हैं, की प्रकृति भी अन्य स्थिर साधनों जैसी ही होती है। फर्म की स्थिर साज-सज्जा तथा उसके प्रबन्ध का संयोग, जिसे फर्म का प्लांट भी कहा जाता है, उत्पादन की एक विशेष मात्रा के उत्पादन के लिए उपयुक्त होता है, अर्थात् उसकी सहायता से वस्तु की एक विशेष मात्रा को न्यूनतम लागत पर उत्पन्न किया जा सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दी हुई साज-सज्जा की सहायता से अधिक या कम उत्पादन नहीं किया जा सकता। दी हुई सज्जा के कम या अधिक प्रयोग से (अर्थात् अन्य परिवर्ती साधनों की कम या अधिक मात्रा का प्रयोग करके) कम या अधिक उत्पादन करना संभव तो होता है परन्तु ऐसी दशा में उत्पादन की औसत लागत न्यूनतम से अधिक होती है। **ऐसे साधन, जिनकी मात्राओं में कुछ समय तक कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता, की लागतों के योग को स्थिर लागत कहा जाता है।**

परिवर्ती लागतें

ऐसे उत्पादन साधनों की लागतों को परिवर्ती लागत कहते हैं जिनकी मात्राओं में अल्पकाल में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

कुछ ऐसे साधन भी हो सकते हैं जिनकी मात्राओं में अल्पकाल में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। ऐसे साधनों की लागतों को अर्थशास्त्र की तकनीकी भाषा में परिवर्ती लागतें कहते हैं। मजदूरों, कच्चे माल, ऊर्जा, ईंधन, चिकनाई, परिवहन इत्यादि की लागतों के कुछ उदाहरण हैं। उदाहरणतः मान लीजिए, यदि एक कपड़ा फैक्ट्री अधिक कपड़ा उत्पादन करना चाहती है तो उसे रुई, श्रम, रंग, ऊर्जा, ईंधन चिकनाई इत्यादि, की अधिक आवश्यकता पड़ेगी। दूसरी ओर, यदि फैक्ट्री कम कपड़ाउत्पादित करना चाहती है तो उसे इस प्रकार की वस्तुओं की कम आवश्यकता पड़ेगी। और यदि उत्पादन बिल्कुल न किया जाए तो ऐसी वस्तुओं की कोई आवश्यकता न होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि (1) परिवर्ती साधनों की आवश्यकता केवल तब पड़ती है जब फर्म को कुछ उत्पादन करना होता है, नहीं तो नहीं और (2) इन साधनों की मात्रा उत्पादन स्तर में परिवर्तनों के साथ घटती बढ़ती है। अतः जब एक फर्म कोई उत्पादन नहीं करती तो परिवर्ती लागत शून्य होगी और यदि उत्पादन करती है तो उत्पादन स्तर के अनुसार परिवर्ती लागत कम या अधिक होगी।

3

कुल लागतों के स्थिर और परिवर्ती घटकों में वर्गीकरण का विश्लेषणात्मक महत्व

अल्पकाल में उत्पादन स्तर में परिवर्तनों का स्थिर लागत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

कुल लागतों के स्थिर तथा परिवर्ती घटकों में वर्गीकरण का क्या विश्लेषणात्मक महत्व है? परिभाषानुसार, उत्पादन में अल्पकालिक परिवर्तनों से स्थिर लागत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अल्पकाल में उत्पादक चाहे कम उत्पादन करे या अधिक स्थिर लागत उतनी ही रहती है। अपनी पूंजी को एक बार ऐसे साधनों में फंसा देने के पश्चात् एक समयावधि के भीतर, यदि वस्तु की मांग बहुत कम है तो उत्पादक के पास कुल स्थिर लागतों के बराबर हानि को वहन करने (या उन साधनों के उत्पादन में प्रयोग से जो कुछ थोड़ा सा बहुत प्राप्त हो, उसे स्वीकार करने) के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं होता। दूसरी ओर, परिवर्ती लागतों केावहन करने की आवश्यकता केवल तब पड़ती है जब फर्म को कुछ उत्पादन करना हो वरना नहीं। उत्पादन बन्द कर देने पर फर्म की परिवर्ती लागत शून्य होगी, परन्तु स्थिर लागतों का भार तो फिर भी बना रहेगा। संक्षेप में, जबकि परिवर्ती लागतें वर्जनीय हैं स्थिर लागतें अल्पकाल में अवर्जनीय होती हैं तथा भार फर्म को तब भी वहन करना पड़ता है जबकि उत्पादन शून्य हो। **इससे सीधा यह परिणाम निकलता है कि फर्म के उत्पादन सम्बन्धी अल्पकालिक निर्णयों के संदर्भ में स्थिर लागतों का कोई महत्व नहीं होता। इस संदर्भ में प्रासंगिक लागतें परिवर्ती लागतें हैं न कि स्थिर लागतें।**

यदि वस्तु की कीमत औसत परिवर्ती लागत भी पूरा नहीं करती तो फर्म कोई उत्पादन नहीं करेगी।

अल्पकाल में यदि फर्म उत्पादन बन्द कर देती है तो उसकी अधिकतम हानि कुल स्थिर लागत के बराबर होती है। जब फर्म कुछ उत्पादन करने का फैसला करती है तो स्थिर लागतों के अलावा उसे कुछ परिवर्ती लागतें भी वहन करनी पड़ती है। यदि वस्तु की कीमत परिवर्ती लागत को भी पूरा नहीं करती तो फर्म कोई उत्पादन नहीं करेगी क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्पादन करके वह परिवर्ती लागतों पर भी हानि उठाएगी और इस प्रकार कुल हानि स्थिर लागतों द्वारा प्रस्तुत हानि से भी अधिक होगी। इसलिए कीमत-लागत की ऐसी स्थिति में फर्म उत्पादन न करके एक बड़ी हानि की बजाय कम हानि (अर्थात् स्थिर लागत के बराबर) का चयन करेगी। दूसरी ओर, यदि वस्तु की कीमत परिवर्ती लागत को पूरा करती है तथा कुछ शेष भी छोड़ती है जो स्थिर लागत के कम से कम एक भाग को पूरा करेगी (पूरी स्थिर लागत को न भी सही) तो ऐसी स्थिति में उत्पादन करना ही फर्म के लिए उपर्युक्त निर्णय होगा। क्योंकि ऐसा करने से वह उस हानि को कम करेगी जो उत्पादन न करने की हालत में उसे उठानी पड़ती है। **इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि फर्म के अल्पकालिक निर्णयो पर स्थिर लागतों का कोई प्रभाव नहीं होता। अल्पकाल मे कोई फर्म उत्पादन करेगी, नहीं करेगी या कितना करेगी, यह केवल इस बात पर निर्भर करेगा कि वस्तु की कीमत परिवर्ती लागत को पूरा करती है या नहीं। यदि वस्तु की कीमत औसत परिवर्ती लागत से अधिक है तो फर्म उत्पादन करेगी, वरना नहीं।**

अल्पकाल में हानि के साथ उत्पादन का अर्थ है अधिक हानि की बजाय कम हानि का चयन करना।

एक फर्म के अल्पकालिक उत्पादन संबंधी निर्णयों पर परिवर्ती लागतों का प्रभाव नीचे सूची में दिए कुछ कल्पित आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। हम यह कल्पना करते हैं कि फर्म की प्रति समयावधि स्थिर लागत 100 रुपये है और वस्तु की 10 इकाइयों के उत्पादन के लिए 50 रुपये परिवर्ती साधनों पर व्यय करने पड़ते हैं। इस प्रकार 10 इकाइयों के उत्पादन के लिए कुल मिलाकर 150 रुपये व्यय करना पड़ता है। नीचे सूची में चार वैकल्पिक स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

सूची 7.1

	Px	AVC	TVC	TFC	TC	TR	Loss
1.	—	—	—	100	100	—	100
2.	4	4	50	100	150	40	110
3.	5	5	50	100	150	50	100
4.	6	5	50	100	150	60	90

उपरोक्त सूची में :

Px वस्तु की कीमत का सूचक है।

AVC वस्तु की औसत परिवर्ती लागत है।

VC वस्तु की कुल परिवर्ती लागत है।

TFC कुल स्थिर लागत है।

TC वस्तु की कुल लागत है।

TR बिक्री से प्राप्त कुल आय है।

Loss हानि (अर्थात् TC—TR) है।

उपरोक्त सूची की पहली पंक्ति उस स्थिति से सम्बद्ध है जबकि फर्म कोई उत्पादन नहीं करती। जाहिर है कि इस स्थिति में फर्म को 100 रुपये के बराबर (अर्थात् कुल स्थिर लागत के बराबर) हानि वहन करनी पड़ती है। दूसरी पंक्ति के आंकड़े उप स्थिति से सम्बद्ध हैं जबकि वस्तु की बाजार कीमत (=4 रुपये प्रति इकाई) उसकी औसत परिवर्ती लागत (=5 रुपये प्रति इकाई) को भी पूरा नहीं करती। इस स्थिति में यदि फर्म उत्पादन करती है तो उसे 110 रुपये के बराबर हानि उठानी पड़ेगी। जाहिर है कि उस स्थिति में फर्म उत्पादन नहीं करेगी। यानी 110 रुपये हानि की बजाय 100 रुपये की हानि उठाने का चयन करेगी। तीसरी पंक्ति के आंकड़े उस स्थिति से सम्बद्ध हैं जब वस्तु की कीमत केवल औसत परिवर्ती लागत को पूरा करती है, अधिक नहीं। इस स्थिति में फर्म को उतनी ही हानि उठानी पड़ती है जितनी की उत्पादन बंदी की हालत में। इस स्थिति में फर्म उत्पादन करेगी या नहीं, कुछ नहीं कहा जा सकता। चौथी पंक्ति के आकंड़े उस स्थिति से सम्बद्ध हैं जबकि वस्तु की कीमत औसत परिवर्ती लागत से अधिक होने के कारण औसत स्थिर लागत के एक भाग को भी पूरा करती है। इस स्थिति में फर्म की हानि 100 रुपये की बजाय 90 रुपये हो जाती है। स्पष्ट है कि इस स्थिति में उत्पादन बन्द करके 100 रुपये हानि वहन करने के बजाय उत्पादन करके 90 रुपये हानि उठाना ही फर्म के लिए एक उपर्युक्त निर्णय होगा। हालांकि इस स्थिति में भी कुल मिलाकर फर्म को हानि पर ही उत्पादन करना पड़ता है परन्तु हानि को कम करना ही इस स्थिति में एक उपर्युक्त कार्य है।

इस प्रकार हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं :

(1) अल्पकाल में उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों के संदर्भ में स्थिर लागत का कोई महत्व नहीं होता। इस संदर्भ में स्थिर लागतें नहीं, परिवर्ती लागतें ही प्रासंगिक होती हैं।

(2) अल्पकाल में यदि वस्तु की कीमत औसत परिवर्ती लागत से कम है तो फर्म कोई उत्पादन नहीं करेगी। फर्म उत्पादन तब करेगी जबकि वस्तु की कीमत औसत परिवर्ती लागत से अधिक हो, भले ही वह कुल लागत को पूरा न करे और इस प्रकार कुल मिलाकर फर्म को हानि पर ही उत्पादन करना पड़े (Price > AVC but < AC)।

दीर्घकाल में सभी लागत परिवर्ती होती हैं :

दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनीय होते हैं। इसलिए फर्म आवश्यकतानुसार सभी साधनों की मात्राओं में परिवर्तन कर सकती है।

किसी समयावधि में कुछ साधनों की अपरिवर्तनीयता ही अल्पकाल और दीर्घकाल के बीच भेद का आधार है। अल्पकाल उस समयावधि को कहा जाता है जो एक फर्म के लिए सभी साधनों की मात्राओं में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने के लिए तो पर्याप्त

नहीं है परन्तु अपनी दी हुई साज-सज्जा के साथ अन्य परिवर्तनीय साधनों की अधिक या कम मात्राओं का प्रयोग करके उत्पादन बढ़ाने या घटाने के लिए पर्याप्त होती हैं। दूसरी ओर, दीर्घकाल वह समयावधि कहलाती है जो एक फर्म के लिए सभी साधनों की मात्राओं में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त होती है। अल्पकाल तथा दीर्घकाल के बीच भेद किसी निश्चित समयावधि पर आधारित नहीं है। ये समयावधियां विभिन्न उद्योगों के लिए भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरणतः इस्पात उद्योग के लिए दीर्घकाल का अर्थ कई वर्षों की समयावधि हो सकता है जबकि एक मछेरे के लिए यह समयावधि कुछ महीने की हो सकती है क्योंकि इस उद्योग में मछली पकड़ने के जालों के अतिरिक्त और कोई विशेष अचल पूंजी इस्तेमाल नहीं की जाती।

दीर्घकाल में फर्म सभी प्रतिबद्धताओं से मुक्त होती है। इसलिए कीमत के औसत लागत से कम होने की स्थिति में फर्म उद्योग को छोड़ देगी।

दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्ती होती हैं। किसी ऐसे उत्पादन साधन की कल्पना करना भी कठिन है जिसकी मात्रा नई इकाईयों के निर्माण के लिए (या पुरानी इकाईयों के इस्तेमाल होकर बेकार हो जाने के लिए) पर्याप्त समयावधि मिलने पर भी, आवश्यकतानुसार घटाई या बढ़ाई जा सके। अतः दीर्घकाल मे सभी साधनों की मात्राओं को आवश्यकतानुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है। इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि यदि किसी उद्योग में कोई फर्म उत्पादित वस्तु की कुल लागत (जिसमें स्थिर तथा परिवर्ती दोनों लागतें शामिल हैं) को पूरा नहीं कर पाती वह फर्म दीर्घकाल में (अर्थात् जैसे ही वह अपनी अल्पकालीन प्रतिबद्धताओं से मुक्त होती है) उस उद्योग को छोड़ देगी तथा अच्छे अवसर प्राप्त करने की चेष्टा करेगी। अल्पकाल में तो फर्म अपनी प्रतिबद्धताओं के कारण हानि की दशा में (Price > AVC < AC) भी उत्पादन करने पर मजबूर होती है। परन्तु दीर्घकाल में फर्म अपनी सभी प्रतिबद्धताओं से मुक्त होती है और उद्योग में बने रहने या छोड़ने के लिए स्वतन्त्र रहती है। इससे यह परिणाम निकलता है कि यदि किसी उद्योग में दीर्घकाल में वस्तु की कीमत कुल औसत लागत (जिसमें स्थिर तथा परिवर्ती दोनों ही घटक शामिल हैं) को पूरा नहीं करती तो फर्म उस उद्योग में नहीं बनी रहेगी। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि दीर्घकाल में एक फर्म किसी वस्तु का उत्पादन तभी करती रहेगी जबकि वस्तु की कीमत कम से कम औसत लागत (AC) को पूरा करे। स्थिर और परिवर्ती लागत तथा अल्पकाल और दीर्घकाल के बीच भेद से और सम्बद्ध उपरोक्त विवेचन के साराँश के रूप में हम निम्नलिखित कह सकते हैं।

(1) अल्पकाल में एक फर्म तभी उत्पादन करेगी जबकि वस्तु की कीमत कम से कम औसत परिवर्ती लागत (AVC) के बराबर हो।

(2) दीर्घकाल में एक फर्म किसी वस्तु का उत्पादन तभी जारी रखेगी (या आरम्भ करेगी) जबकि वस्तु की कीमत कम से कम उसकी कुल औसत लागत (AC) के बराबर हो।

4

कुल, औसत तथा सीमांत लागत की अवधारणाएँ

TC = TFC + TVC

कुल लागत (Total Cos) : वस्तु की एक विशेष मात्रा के उत्पादन के लिए प्रयुक्त सभी आदानों (जिसमें बाहर से खरीदे गए तथा स्वामियों द्वारा लगाए गए निजी आदान दोनों शामिल हैं) की लागतों का जोड़ उत्पादित मात्रा की कुल लागत (Total Cost—TC) कहलाता है। क्योंकि कुल लागत (TC) के स्थिर व परिवर्ती दो घटक होते हैं इसलिए कुल लागत कुल स्थिर लागत (Total Fixed Cost—TFC) तथा कुल परिवर्ती लागत (Total Variable Cost—TVC) के जोड़ के बराबर होगी।

अतः

कुल लागत = कुल स्थिर लागत + कुल परिवर्ती लागत

(TC = TFC + TVC)

AC = AFC + AVC

औसत लागत (Average Cost—AC) : यदि कुल लागत को वस्तु की उत्पादित इकाईयों से विभाजित किया जाए तो हमें प्रति इकाई औसत लागत प्राप्त होती है।

अतः

औसत लागत = कुल लागत + उत्पादित इकाइयाँ

(AC = TC + Number of units produced)

क्योंकि कुल लागत, कुल स्थिर लागत और कुल परिवर्ती लागत के जोड़ के बराबर होती है, इसलिए औसत लागत भी औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्ती लागत के जोड़ के बराबर होगी।

अतः

कुल लागत = कुल स्थिर लागत + कुल परिवर्ती लागत

(TC = TFC + TVC)

औसत स्थिर लागत = कुल स्थिर लागत ÷ उत्पादित इकाइयाँ

(AFC = TFC ÷ Number of units produced)

औसत परिवर्ती लागत = कुल परिवर्ती लागत ÷ उत्पादित इकाइयाँ

(AVC = TVC ÷ Number of units produced)

(कुल) औसत लागत = औसत स्थिर लागत + औसत परिवर्ती लागत

(AC = AFC + AVC)

उदाहरण के लिए मान लीजिए एक फर्म की कुल स्थिर लागत (TFC) 10000 रुपये है और वस्तु की 100 इकाईयों के उत्पादन के लिए उसे 5000 रुपये परिवर्ती लागतों के रूप में खर्च करने पड़ते है। इस उदाहरण के अनुसार कुल तथा औसत लागतों के मूल्य निम्नलिखित होंगे।

कुल स्थिर लागत (TFC) = 10000 रुपये

औसत स्थिर लागत (AFC) = 10000 ÷ 100 = 100 रुपये

कुल परिवर्ती लागत (TVC) = 5000 रुपये

औसत परिवर्ती लागत (AVC) = 5000 ÷ 100 = 50 रुपये

औसत लागत (AC) = औसत स्थिर लागत (100 रुपये) + औसत परिवर्ती लागत (50 रुपये)

= 150 रुपये

वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के कारण कुल लागत में परिवर्तन की सीमांत लागत कहते हैं।

सीमांत लागत (Marginal Cost—MC) : वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के कारण (जैसे 100 की बजाय 101 इकाइयों के उत्पादन के कारण) एक फर्म की कुल लागत (TC) में हुई वृद्धि को सीमांत लागत (MC) कहते हैं। उदाहरणतः मान लीजिए जब एक फर्म अपना उत्पादन 100 इकाई प्रतिदिन की बजाय 101 इकाई प्रतिदिन करती है तो उसकी कुल लागत 1500 रुपये प्रतिदिन की बजाय 1550 रुपये प्रतिदिन हो जाती है। जाहिर है कि 101वीं इकाई के उत्पादन के कारण फर्म की कुल लागत में 50 रुपये की वृद्धि हुई है। अतिरिक्त इकाई की लागत सीमांत लागत कही जाएगी। व्यापक रूप से हम कह सकते हैं कि किसी nवीं इकाई की सीमांत लागत (MC_n), n इकाइयों की कुल लागत (TC_n) और (n – 1) इकाइयों की कुल लागत (TC_n) के अन्तर के बराबर होती है। उदाहरण के लिए, बीसवीं इकाई की सीमांत लागत, 20 इकाईयों की कुल लागत और 19 इकाईयों की कुल लागत के अन्तर के बराबर होगी।

अतः

nवीं इकाई की सीमांत लागत = n इकाईयों की कुल लागत – (n – 1) इकाईयों की कुल लागत।

$$MC_n = TC_n - TC_{n-1}$$

$\mathbf{MC_n = TC_n — TC_{n-1}}$

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है अल्पकाल में उत्पादन के स्तर में परिवर्तन के कारण कुल स्थिर लागत में कोई परिवर्तन नहीं होता। अन्य शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि अतिरिक्त इकाईयों के उत्पादन के कारण कुल स्थिर लागत में वृद्धि शून्य के बराबर होती है, अर्थात् स्थिर लागत के कारण कुल स्थिर लागत में होने वाली वृद्धि यानी सीमांत स्थिर लागत (Marginal Fixed Cost—MFC) शून्य के बराबर होती है। इसका अर्थ हुआ कि सीमांत लागत (MC) जो कि सीमांत स्थिर लागत (MFC) और सीमांत परिवर्ती लागत (MVC) का जोड़ होती है, वास्तव में वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के कारण कुल परिवर्ती लागत में हुई वृद्धि (Marginal Variable Cost—MVC) ही होती है।

$\mathbf{MC_n = MVC_n}$

अतः

सीमांत लागत = सीमांत स्थिर लागत + सीमांत परिवर्ती लागत

(MC = MFC + MVC)

सीमांत स्थिर लागत (MFC) = शून्य

इसलिए सीमांत लागत (MC) = सीमांत परिवर्ती लागत (MVC)

इस प्रकार, सीमांत लागत की गणना में हम स्थिर लागत को बिल्कुल छोड़ सकते हैं क्योंकि स्थिर लागत में कोई वृद्धि नहीं होती। सीमांत लागत की गणना सीधे कुल परिवर्ती लागत के परिवर्तनों से की जाती है। बहरहाल सीमांत लागत की मूल्य वही होगा, चाहे उसकी गणना कुल लागत में परिवर्तन के आधार पर करें या कुल परिवर्ती लागत में परिवर्तन के आधार पर।

AC का घटना, बढ़ना या स्थिर रहना इस बात पर निर्भर करता है कि MC, AC से कम, अधिक या उसके समान है।

औसत लागत **(AC)** तथा सीमांत लागत **(MC)** के बीच सम्बन्ध एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के कारण (जिसे 10 इकाई प्रतिदिन की बजाय 11 इकाई प्रतिदिन) कुल लागत (TC) में हुई वृद्धि को सीमांत लागत कहते हैं और कुल लागत में एक इकाई का औसत भाग औसत लागत कहलाता है। जाहिर है सीमांत लागत, जो कि कुल लागत में वृद्धि करती है, औसत लागत को भी अवश्य प्रभावित करेगी। यदि एक अतिरिक्त इकाई का कुल लागत में योगदान (यर्थात् सीमांत लागत) अन्य इकाइयों की औसत लागत से अधिक हो सकती है तो जाहिर है सभी इकाइयों की औसत बढ़ जाएगी। उदाहरणतः यदि 100 इकाइयों की औसत लागत 150 रुपये प्रति इकाई है और 101वीं इकाई की सीमांत लागत 251 रुपये है (जो कि शेष इकाइयों की औसत लागत से अधिक है) तो 101 इकाइयों की औसत लागत 150 रुपये से बढ़कर 151 रुपये हो जाएगी (150x 100 + 251 = 15251 ÷ 101 = 151)। दूसरी ओर, यदि एक अतिरिक्त इकाई की सीमांत लागत औसत लागत से कम है तो सभी इकाइयों की औसत लागत गिर जाएगी। यदि उपरोक्त उदाहरण में 101वीं इकाई की सीमांत लागत 251 रुपये की बजाय केवल 49 रुपये होती (अर्थात् अन्य इकाइयों की औसत लागत से कम) तो सभी इकाइयों की औसत लागत 149 रुपये हो जाती (150x100 + 49 = 15049 ÷ 101 = 149)। अन्त में, यदि एक अतिरिक्त इकाई की सीमांत लागत अन्य इकाइयों की औसत लागत के बराबर ही है, तो औसत लागत उतनी ही रहेगी (अर्थात् न बढ़ेगी और न गिरेगी)। उपरोक्त उदाहरण के अनुसार यदि 101वीं इकाई की सीमांत लागत अन्य इकाइयों की औसत लागत के बराबर (यानि 150 रुपये) ही होती। तो औसत लागत 150 रुपये ही बनी रहती (150x100 + 150 = 15150 ÷ 101 = 150)।

सीमांत लागत तथा औसत लागत के बीच सम्बन्ध को और स्पष्ट करने के लिए नीचे सूची 7.2 में औसत, सीमांत तथा कुल लागत के कुछ कल्पित आँकड़े दिए गए हैं।

सूची 7.2

औसत और सीमांत लागत में सम्बन्ध

उत्पादित इकाइयां	N इकाइयों की औसत लागत	N इकाइयों की कुल लागत	(N + 1)वीं इकाई की सीमांत लागत	(N + 1) इकाइयों की कुल लागत	(N + 1) इकाइयों की औसत लागत
1.	10.0	10.0	9.0	10.0	9.5
2.	9.5	19.0	8.0	27.0	9.0
3.	9.0	27.0	7.0	34.0	8.5
4.	8.5	34.0	6.0	40.0	8.0
5.	8.0	40.0	8.0	48.0	8.0
6.	8.0	48.0	8.0	59.0	8.0
7.	8.0	56.0	8.0	64.0	8.0
8.	8.0	64.0	8.0	72.0	8.0
9.	9.0	72.0	18.0	90.0	9.0
10.	9.0	90.0	20.0	110.0	10.0
11.	10.0	110.0	22.0	132.0	11.0
12.	11.0	132.0	24.0	156.0	12.0

ऊपर दी गई सूची की पहली चार पंक्तियां यह स्पष्ट दिखलाती हैं कि जब (N + 1) वीं इकाई की सीमांत लागत N इकाईयों की औसत लागत से कम है तो सभी (N + 1) इकाइयों की औसत लागत कम हो जाएगी। अगली चार पंक्तियां यह दिखलाती हैं कि जब (N + 1) वीं इकाई की सीमांत लागत N इकाइयों की औसत लागत के बराबर होती है तो (N + 1) इकाइयों की औसत लागत उतनी ही (अर्थात् स्थिर) रहती है। अन्तिम चार पंक्तियां यह दिखलाती हैं कि जब (N + 1) वीं इकाई की सीमांत लागत N इकाइयों की औसत लागत से अधिक होती है तो (N + 1) इकाइयों की औसत लागत बढ़ जाती है।

AC का घटना, बढ़ना या स्थिर रहना MC के निरपेक्ष मूल्य पर निर्भर करता है न कि उसके घटने या बढ़ने पर।

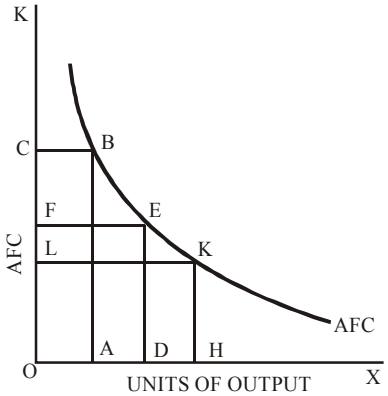
सीमांत लागत और औसत लागत के सम्बन्ध के विषय में (और वही बात अन्य किसी भी सीमांत तथा औसत मूल्य पर भी लागू होती है) यह स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में महत्व सीमांत लागत के निरपेक्ष मूल्य का है, न कि उसके घटने, बढ़ने या स्थिर रहने का। उदाहरणतः औसत लागत बढ़ने के लिए आवश्यक शर्त केवल यह है कि सीमांत लागत का निरपेक्ष मूल्य औसत लागत के निरपेक्ष मूल्य से अधिक हो, सीमांत लागत घट रही है या बढ़ रही है या स्थिर है, इस बात का कोई महत्व नहीं है। इसलिए चाहे सीमांत लागत घट रही हो, चाहे बढ़ रही हो, चाहे स्थिर हो, जब तक उसका निरपेक्ष मूल्य औसत लागत के निरपेक्ष मूल्य से अधिक है, औसत लागत निश्चित ही बढ़ेगी। इसी प्रकार, औसत लागत के घटने के लिए आवश्यक शर्त केवल यह है कि सीमांत लागत का निरपेक्ष मूल्य औसत लागत के निरपेक्ष मूल्य से कम हो, सीमांत लागत बढ़ रही है, घट रही है या स्थिर है, इस बात का कोई महत्व नहीं है। **निष्कर्ष यह निकलता है कि सीमांत लागत के घटने बढ़ने और स्थिर रहने की तीनों अवस्थाएं औसत लागत में वृद्धि के साथ संगत है, शर्त केवल यही है कि सीमांत लागत का निरपेक्ष मूल्य औसत लागत के निरपेक्ष मूल्य से अधिक हो। इसी प्रकार, सीमाँत लागत के घटने बढ़ने और स्थिर रहने की तीनों अवस्थाएँ औसत लागत में गिरावट के साथ संगत है, शर्त केवल यह है कि सीमांत लागत की निरपेक्ष मूल्य औसत लागत के निरपेक्ष मूल्य से कम हो। महत्व केवल इस बात का है कि सीमांत लागत का निरपेक्ष मूल्य औसत लागत के निरपेक्ष मूल्य से कम है या उसके समान है, न कि उसके घटने, बढ़ने या स्थिर रहने का।**

5

उत्पादन स्तर में परिवर्तन के साथ विभिन्न लागतों की प्रवृतियां औसत स्थिर लागत (AFC) की प्रवृति इसलिए यह सम्भव है कि AC बढ़ रही हो जब MC घट रही हो या AC घट रही हो जब MC घट रही हो। उत्पादित मात्रा जितनी अधिक होगी AFC उतनी ही कम होगी।

अल्पकाल में एक फर्म के उत्पादन का स्तर चाहे कम हो या अधिक और चाहे शून्य ही हो, कुल स्थिर लागत में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उत्पादन का स्तर जितना ऊंचा होगा, उतना ही औसत स्थिर लागत (AFC) नीचे गिरेगी क्योंकि स्थिर लागत की दी हुई मात्रा अधिकाधिक इकाइयों में बंटती जाएगी। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक फर्म की प्रति समयवधि (जैसे प्रतिदिन, प्रतिमास, या प्रतिवर्ष) स्थिर लागत 10000 रुपये है। यह फर्म यदि प्रति समयावधि 10 इकाइयों का उत्पादन करती है तो प्रति इकाई औसत स्थिर लागत 1000 रुपये होगी, प्रति समयावधि 100 इकाइयों का उत्पादन करती है तो औसत स्थिर लागत 100 रुपये होगी, प्रति समयावधि 1000 इकाइयों का उत्पादन करती है तो औसत स्थिर लागत 10 रुपये प्रति इकाई होगी और यदि प्रति समयावधि 10000 इकाइयों का उत्पादन करती है तो उसकी औसत स्थिर लागत 1 रुपये प्रति इकाई होगी। इस प्रकार जैसे जैसे फर्म अपने उत्पादन का स्तर बढ़ाएगी, औसत स्थिर लागत भी उत्तरोतर गिरती चली जाएगी। औसत स्थिर लागत का वक्र एक आयताकार हाइपरबोला की आकृति धारण करेगा जैसा की वक्र (AFC) नीचे रेखाचित्र 7.1 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 7.1



आयताकार हाइपरबोला का अर्थ है कि AFCX उत्पादित मात्रा = TFC, जो कि स्थिर है।

आयताकार हाइपरबोला वक्र की यह विशेषता होती है कि उस पर स्थित विभिन्न बिन्दुओं से अंतरित सभी आयतों के क्षेत्रफल आपस में समान होते हैं। रेखाचित्र 9.1 में OABC, ODEF, OHKL आदि सभी आयतों के क्षेत्रफल आपस में समान है। इस रेखाचित्र में प्रत्येक आयत का क्षेत्रफल (अर्थात औसत स्थिर लागत x उत्पादित इकाइयों की संख्या) कुल स्थिर लागत (TFC) के बराबर है। उदाहरणतः आयत OABC का क्षेत्रफल OC (यानि औसत स्थिर लागत) XOA (यानि उत्पादित इकाइयों की संख्या)= कुल स्थिर लागत (TFC)। हाँलाकि उत्पादन स्तर में वृद्धि के साथ औसत स्थिर लागत लगातार गिरती है परन्तु यह कभी भी शून्य नहीं होती क्योंकि औसत स्थिर लागत तथा उत्पादित इकाइयों की संख्या का गुणनफल कुल स्थिर लागत (TFC) के बराबर रहता है।

औसत परिवर्ती लागत (AVC) की प्रवृत्ति

परिवर्ती लागतों की प्रवृत्ति (1) भौतिक आदा-प्रदा सम्बन्ध (अर्थात उत्पादन श्रित) और (2) उत्पादन में प्रयोग होने वाले साधनों की कीमतों पर निर्भर करती है। इसलिए हमें आदा-प्रदा सम्बन्ध से विश्लेषण आरम्भ करना होगा।

कुल, औसत तथा सीमांत उत्पादन की प्रवृतियां

अल्पकाल में दी हुई साज-सज्जा के कम या अधिक सघन उपयोग से ही उत्पादन में परिर्वतन किया जा सकता है, साज-सज्जा में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

जैसा की ऊपर विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है, अल्पकाल में एक फर्म उत्पादन में विभिन्न स्तरों के लिए उत्पादन साधनों का इष्टतम संयोग नहीं चुन सकती। थोड़े समय में कुछ साधनों की मात्राओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसके कारणों का वर्णन का हम ऊपर कर चुके हैं। दिए हुए स्थिर साधनों का संयोग, जिसे प्लाँट (plant) कहा जाता है, उत्पादन के एक विशेष स्तर के लिए उपयुक्त होता है। वह उत्पादन स्तर, जिसे दिए हुए प्लांट (दी हुई साज-सज्जा तथा प्रबन्ध का संयोग) के प्रयोग से न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादित किया जा सकता है, उसे प्लांट का इष्टतम उत्पादन कहते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दिये हुए प्लांट की सहायता से इष्टतम से कम या अधिक उत्पादन नहीं किया जा सकता। कुछ सीमाओं के अन्दर, दिए हुए प्लांट के अधिक या कम सघन प्रयोग से (अर्थात् उसके साथ परिवर्ती साधनों की अधिक या कम मात्रा का प्रयोग करके) इष्टतम से कम या अधिक

उत्पादन किया जा सकता है परन्तु ऐसा करने से उत्पादन की औसत लागत न्यूनतम से अधिक हो जाती है। जब दिए हुए प्लॉट के साथ अन्य परिवर्ती साधनों की अधिकाधिक मात्राओं का प्रयोग करके उत्पादन बढ़ाया जाता है, तो एक बिन्दु के पश्चात् ह्रासमान प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns or the Law of Variable Proportions) सक्रिय हो जाता है जिसके कारण कुल उत्पादन में वृद्धि अनुपात से कम होती है। फलस्वरुप फर्म की कुल लागत में वृद्धि अनुपात से अधिक होती है और उत्पादन की औसत तथा सीमांत लागत बढ़ने लगती है।

यदि हम यह मान्यता लेकर चले कि तक्नॉलाजी स्थिर है (अर्थात् उत्पादन के तरीकों से कोई परिवर्तन नहीं होता), उत्पादन के लिए केवल एक ही परिवर्ती साधन की आवश्यकता है, जिसकी सभी इकाइयाँ समरूप है, तो हम ह्रासमान प्रतिफल के नियम को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

"शेष सभी बातें पूर्ववत् रहते हुए, जब किसी साधन की अधिकाधिक इकाइयों का अन्य साधनों की एक नियत मात्रा के साथ प्रयोग किया जाता है तो एक बिन्दु के पश्चात् परिवर्ती साधन का सीमांत (भौतिक) उत्पाद घटना आरम्भ हो जाता है।"

जब तक दी हुई साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग नहीं होता, परिवर्ती साधन का सीमांत उत्पाद बढ़ता है और उसके पश्चात् घटना आरम्भ हो जाती है।

शेष सभी साधनों की मात्रा स्थिर रहते हुए, किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण कुल भौतिक उत्पाद में जो वृद्धि होती है, उसे उस परिवर्ती साधन का सीमांत (भौतिक) उत्पाद (Marginal Physical Product) कहा जाता है। उदाहरणतः यदि 20 की बजाय 21 मजदूरों के नियोजन के कारण कुल (भौतिक) उत्पाद 100 की बजाय 110 इकाई हो जाता है तो सीमांत (भौतिक) उत्पाद 10 इकाई होगा। ह्रासमान प्रतिफल के नियम (जिसे परिवर्तनीय अनुपातों का नियम भी कहते हैं) की क्रियाशीलता को एक सरल उदाहरण की सहायता से नीचे सूची 7.3 में समझाया गया है। मान लीजिए एक किसान, जो गेहूँ का उत्पादन करता है, जब अपने फार्म पर प्रति समयावधि अधिकाधिक मजदूर लगाता है, तो वह सूची 7.3 में अंकित परिणाम प्राप्त करता है।

सूची 7.3

नियोजित मजदूरों की संख्या	कुल (भौतिक) उत्पाद	सीमाँत (भौतिक) उत्पाद	औसत (भौतिक) उत्पाद
1.	50	50	50
2.	110	60	55
3.	174	64	58
4.	236	62	59
5.	285	49	57

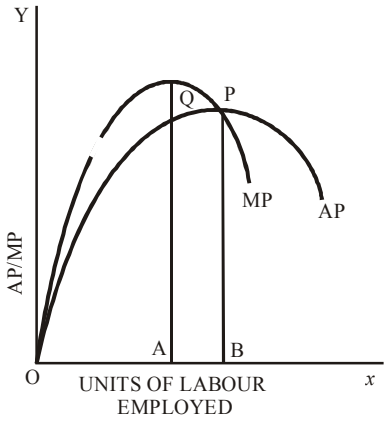
उपरोक्त सूची में अंकित आँकड़ों के ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर हमें कुल, औसत तथा सीमांत उत्पाद की निम्नलिखित प्रवृत्तियों का पता चलता है :

(1) दिये हुए फार्म पर मजदूरों के बढ़ते नियोजन के साथ कुल उत्पादन बढ़ता है, परन्तु तीसरे मजदूर के नियोजन तक वर्द्धमान दर पर और उसके पश्चात् ह्रासमान दर पर।

(2) सीमाँत (भौतिक) उत्पाद तीसरे मजदूर के नियोजन तक बढ़ता है और उसके पश्चात् घटता चला जाता है। हम कह सकते हैं कि तीसरे मजदूर के नियोजन तक वर्द्धमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं और उसके पश्चात् ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं।

(3) औसत (भौतिक) उत्पाद चौथे मजदूर के नियोजन तक बढ़ता रहता है और उसके पश्चात् घटना आरम्भ कर देता है। उपरोक्त सूची के आकड़ों से प्रदर्शित कुल, सीमांत तथा औसत उत्पाद की प्रवृत्तियों के नीचे रेखाचित्र 7.2 में MP तथा AP वक्रों द्वारा चित्रण किया गया है।

रेखाचित्र 7.2



रेखाचित्र 7.2 में हम X अक्ष पर मजदूरों की संख्या नापते हैं और Y अक्ष पर सीमांत तथा औसत (भौतिक) उत्पाद। मजदूरों के OA नियोजन स्तर तक सीमांत उत्पाद वक्र MP ऊपर उठता जाता है और OA नियोजन स्तर से आगे MP वक्र लगातार नीचे गिरता चला जाता है। बिन्दु P पर, जहां कि MP वक्र AP वक्र को काटता है, AP वक्र अपने उच्चतम बिन्दु पर है।

AP तथा MP में वही सम्बन्ध होता है जो AC तथा MC वक्रों में है।

औसत तथा सीमांत उत्पाद में वही सम्बन्ध है जो कि औसत तथा सीमांत लागत के बीच है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। जब तक सीमांत उत्पाद वक्र MP औसत उत्पाद वक्र AP से ऊपर रहता है, AP वक्र ऊपर उठता रहता है, जब MP वक्र AP वक्र को काटता है (अर्थात् AP = MP) AP वक्र स्थिर हो जाता है और जब MP वक्र AP वक्र के नीचे होता है, तो AP वक्र नीचे गिरता है। AP वक्र Q तथा P बिन्दुओं के बीच में भी क्यों ऊपर उठता है जबकि इन बिन्दुओं के बीच में MP वक्र नीचे गिर रहा है? उत्तर बड़ा साधारण है। MP वक्र नीचे गिरे, ऊपर उठे और चाहे स्थिर रहे, जब तक वह AP वक्र के ऊपर रहता है (अर्थात् MP का निरपेक्ष मूल्य AP से अधिक है), AP वक्र निश्चय ही ऊपर उठता रहेगा। बिन्दु P तक MP वक्र AP वक्र से ऊपर रहता है (अर्थात MP>AP) इसलिए AP वक्र बिन्दु P तक ऊपर उठता रहता है।

वर्द्धमान तथा ह्रासमान प्रतिफल तकनीकी कारणों से होते हैं, अन्य कारणों से नहीं।

यह बात ध्यान पूर्वक नोट करनी चाहिए कि वर्द्धमान तथा ह्रासमान प्रतिफल की अवस्थाओं का सम्बन्ध केवल उत्पाद सम्बन्धी तकनीकी कारणों से है, अन्य किसी कारण से नहीं। उदाहरण के लिए, जब दी हुई साज-सज्जा के साथ नियोजित मजदूरों की संख्या बढ़ती है तो श्रम विभाजन के लिए भी अधिक गुंजाइश मिलती है जिसके फलस्वरूप श्रमिकों की उत्पादन तथा प्रबन्ध में दक्षता बढ़ती है। श्रम की दक्षता में वृद्धि के कारण कच्चे माल तथा अन्य आदाओं की छीजन में कमी होती है। संक्षेप में, जब तक फर्म की दी हुई साज-सज्जा अल्प-प्रयुक्त रहती है, परिवर्ती साधनों की अधिक मात्रा के नियोजन से पूरे उत्पादन संगठन की कार्यकुशलता बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप कुल उत्पादन में अनुपात से अधिक वृद्धि होती है (वर्धमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं या सीमांत उत्पाद बढ़ता है)। परन्तु दी हुई साज-सज्जा के पूर्ण रूप से प्रयुक्त हो जाने के पश्चात् परिवर्ती साधनों के अधिक नियोजन से उनका सीमांत उत्पाद घटने लगता है और कुल (भौतिक) उत्पाद में वृद्धि अनुपात से कम होने लगती है। उदाहरणतः जब उन्हीं मशीनों को प्रतिदिन अधिक घंटों तक इस्तेमाल किया जाता है तो उनमें आकस्मिक रूकावटें अधिक होने लगती हैं तथा मशीनों की टूट-फूट बढ़ जाती है। ठीक इसी प्रकार जब श्रमिक प्रतिदिन अधिक घंटे काम करते हैं तो थकावट के कारण उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है और साथ-साथ कच्चे माल तथा अन्य आदाओं की छीजन बढ़ जाती है। इन तथा अन्य कारणों से सारे उत्पादन संगठन की कार्यक्षम्ता कम होने लगती है और परिणामस्वरूप कुल (भौतिक) उत्पाद में अनुपात से कम वृद्धि होती है अर्थात् सीमांत उत्पाद गिरने लगता है।

दी हुई साज-सज्जा के पूर्ण उपयोग से पहले MP बढ़ता है और उसके बाद घटता है।

उपरोक्त विवेचन के सारांश के रूप में हम कह सकते हैं कि जब तक फर्म की दी हुई साज-सज्जा पूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं हो जाती, तब तक परिवर्ती साधनों का अधिकाधिक प्रयोग स्थापित उत्पादन क्षमता का उत्तरोत्तर अच्छा प्रयोग करने में सहायता देता है और वर्द्धमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं। इस अवस्था को वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था कहा जाता है। दी हुई उत्पादन क्षमता का इष्टतम

प्रयोग हो जाने के बाद जब अधिक परिवर्ती साधन लगातार उत्पादन बढ़ाया जाता है तो कुल उत्पाद में वृद्धि अनुपात से कम होती है (यानि कुल उत्पाद ह्रासमान दर से बढ़ता है या ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं), इसलिए नहीं कि परिवर्ती साधनों की इकाइयाँ कुछ कम कुशल हैं, बल्कि इसलिए कि परिवर्ती साधनों को स्थिर साधनों के स्थान पर एक सीमा तक प्रतिस्थापित तो किया जा सकता है, परन्तु उनकी कुशलता में कमी के बिना नहीं।

कुल, औसत तथा सीमांत लागतों की प्रवृतियाँ

परिवर्ती साधन की उत्पादिता और वस्तु की प्रति इकाई परिवर्ती लागत में विपरीत सम्बन्ध होता है।

अल्पकालीन उत्पादन सम्भावनाओं की सीमाओं के अन्तर्गत उत्पादन स्तर में परिवर्तन के साथ फर्म की परिवर्ती लागतों की क्या प्रवृत्ति होगी? यदि हम यह मान कर चले कि फर्म के लिए परिवर्ती साधनों की कीमतें दी हुई हैं (अर्थात् चालू बाजार कीमतों पर फर्म किसी परिवर्ती साधन की जितनी मात्रा चाहे खरीद सकती है) तो हम कह सकते हैं कि जब तक एक परिवर्ती साधन का सीमांत उत्पाद बढ़ता है तो वस्तु की सीमांत परिवर्ती लागत निश्चय ही गिरेगी और जब साधन का सीमांत उत्पाद घटता है तो वस्तु की सीमांत परिवर्ती लागत निश्चय ही बढ़ेगी। जब साधन का सीमांत उत्पाद अधिकतम होगा, तो वस्तु की सीमांत परिवर्ती लागत निश्चय ही न्यूनतम होगी। औसत परिवर्ती लागत की प्रवृत्ति के बारे में भी यही बात लागू होती है। जब तक साधन का औसत उत्पाद बढ़ता है वस्तु की औसत परिवर्ती लागत निश्चिय ही गिरेगी, जब औसत उत्पाद अधिकतम होगा तो वस्तु की औसत परिवर्ती लागत न्यूनतम होगी और जब औसत उत्पाद घटता है तो वस्तु की औसत परिवर्ती लागत निश्चय ही बढ़ेगी। कुल परिवर्ती लागत (TVC) की प्रवृत्ति के विषय में हम कह सकते हैं कि जब तक सीमांत परिवर्ती लागत (MVC) गिरती है तो कुल परिवर्ती लागत (TVC) ह्रासमान दर से बढ़ेगी और जब सीमांत परिवर्ती लागत (MVC) बढ़ती है तो कुल परिवर्ती लागत (TVC) वर्द्धमान दर से बढ़ेगी। इन मान्यता के आधार पर कि एक परिवर्ती साधन (मान लीजिए श्रम) फर्म को 100 रुपये प्रति इकाई पर उपलब्ध है, सूची 7.4 में अंकित कुछ कल्पित आंकड़े फर्म के उत्पादन स्तर में परिवर्तन के साथ कुल, सीमांत तथा औसत परिवर्ती लागतों की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हैं।

सूची 7.4

कुल, सीमांत तथा औसत लागतों की प्रवृतियाँ

श्रम में नियोजित इकाइयों की संख्या	कुल परिवर्ती लागत (कुल वेतन बिल)	कुल उत्पाद (कि. ग्रा.)	औसत उत्पाद (कि. ग्रा.)	औसत परिवर्ती लागत (प्रति कि.)	सीमांत उत्पाद (कि. ग्रा.)	सीमांत परिवर्ती लागत
(1)	(2)	(3)	(4)	(5 = 2 ÷ 3)	(6)	(7)
1.	100	50	50	2.00	50	2.00
2.	200	110	55	1.82	60	1.67
3.	300	174	58	1.72	64	1.56
4.	400	236	59	1.69	62	1.61
5.	500	285	57	1.75	49	2.04

औसत तथा सीमांत उत्पाद आंकड़ों के औसत तथा सीमांत परिवर्ती लागत आकड़ों से तुलना करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

(1) श्रम का सीमांत उत्पाद तीसरी इकाई के नियोजन स्तर तक बढ़ता है और उसके पश्चात् गिरना आरम्भ हो जाता है। ठीक इसके विपरीत, जब तक सीमांत उत्पाद बढ़ता है सीमांत परिवर्ती लागत गिरती है और जब सीमांत उत्पाद घटता है तो सीमांत परिवर्ती लागत बढ़ना आरम्भ कर देती है। जब सीमांत उत्पाद अधिकतम होता है, तो सीमांत परिवर्ती लागत न्यूनतम होती है।

(2) श्रम का औसत उत्पाद चौथी इकाई के नियोजन तक बढ़ता है और उसके पश्चात् गिरना आरम्भ कर देता है। इसके ठीक विपरीत, जब तक औसत उत्पाद बढ़ता है, औसत परिवर्ती लागत गिरती है और जब औसत उत्पाद घटता है तो औसत परिवर्ती लागत बढ़ती है, जब औसत उत्पाद अधिकतम होता है, तो औसत परिवर्ती लागत न्यूनतम होती है।

(3) जब तक सीमांत उत्पाद बढ़ता है, कुल उत्पाद वर्द्धमान दर से बढ़ता है और जब सीमांत उत्पाद घटता है तो कुल उत्पाद ह्रासमान दर से बढ़ता है। इसके विपरीत, जब तक कुल उत्पाद वर्द्धमान दर से बढ़ता है, कुल परिवर्ती लागत ह्रासमान दर से बढ़ती है और जब कुल उत्पाद ह्रासमान दर से बढ़ता है तो कुल परिवर्ती लागत वर्द्धमान दर से बढ़ती है।

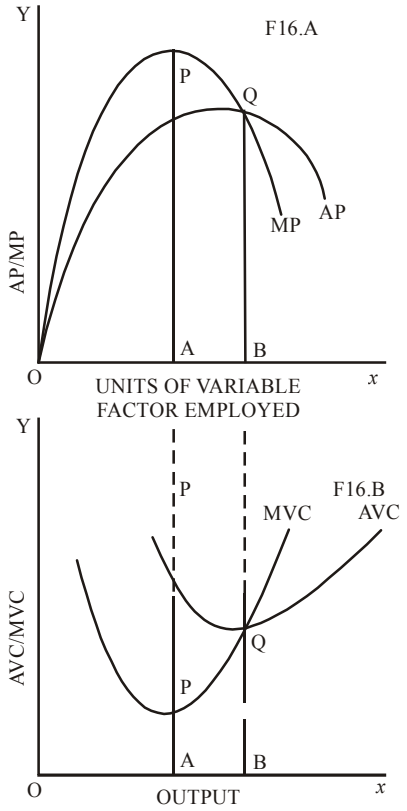
निष्कर्ष

परिवर्ती साधन की उत्पादिता वृद्धि का अर्थ है वस्तु की प्रति इकाई परिवर्ती लागत में आनुपातिक कमी और उत्पादिता में कमी का अर्थ है वस्तु की प्रति इकाई परिवर्ती लागत में आनुपातिक वृद्धि। यही बातें सीमांत उत्पाद, सीमांत परिवर्ती लागत, कुल उत्पाद तथा कुल परिवर्ती लागत पर भी लागू होती है।

नीचे रेखाचित्र 7.3 (A और B) में फर्म के उत्पादन स्तर में परिवर्तन के साथ औसत उत्पाद (AP) तथा सीमांत उत्पाद (MP) की प्रवृत्तियों की औसत परिवर्ती लागत (AVC) तथा सीमांत परिवर्ती लागत (MVC) की प्रवृत्तियों के साथ तुलना को दिखाया गया है।

ये रेखाचित्र परिवर्ती साधन की उत्पादिता और वस्तु की प्रति इकाई परिवर्ती लागत में विपरीत सम्बन्ध को दर्शते हैं।

रेखाचित्र 7.3



रेखाचित्र 7.3 (A) श्रम के नियोजन में परिवर्तन के साथ श्रम के औसत तथा सीमांत उत्पाद की प्रवृत्तियों का चित्रण करता है। दूसरी ओर, रेखाचित्र 7.3 (B) श्रम के विभिन्न नियोजन स्तरों से जुड़े उत्पादन स्तर में परिवर्तनों के साथ औसत तथा सीमांत परिवर्ती लागतों की प्रवृत्तियों का चित्रण करता है। उपरोक्त रेखाचित्र के अध्ययन से निम्नलिखित तथ्य साफ उभर कर आते हैं।

1. जब तक AP वक्र (रेखाचित्र 7.3 A) ऊपर की ओर उठता है, AVC वक्र (रेखाचित्र 7.3 B) नीचे की ओर गिरता है, जब AP वक्र अपने उच्चतम बिन्दु पर होता है तो AVC वक्र अपने निम्नतम बिन्दु पर होता है और जब AP वक्र नीचे की ओर गिरता है तो AVC वक्र ऊपर की ओर उठता है।
2. इसी प्रकार AP तथा AVC वक्रों की प्रवृत्तियों की तरह MP तथा MVC वक्रों की प्रवृत्तियाँ भी ठीक एक दूसरे की विपरीत हैं।

AVC तथा MVC वक्र दोनों ही 'U' की आकृति के होते हैं।

अल्पकाल में फर्म के उत्पादन स्तर में परिवर्तन के साथ औसत तथा सीमांत लागतों की प्रवृत्तियों के बारे में उपरोक्त विवेचन के सारांश के रूप में हम कह सकते हैं कि अल्पकाल में कोई फर्म अपनी दी हुई साज-सज्जा के साथ जब परिवर्ती साधनों की अधिकाधिक मात्राओं का प्रयोग करके अपने उत्पादन स्तर में वृद्धि करती है, तो एक बिन्दु तक तो सीमांत परिवर्ती लागत (MVC) गिरती है और फिर बढ़ना आरम्भ कर देती है। इसी तरह औसत परिवर्ती लागत भी एक बिन्दु तक नीचे गिरती है और फिर बढ़ना आरम्भ कर देती है। इस प्रकार अल्पकाल में फर्म के औसत सीमांत लागत वक्र 'U' आकृति के होते हैं। जो वक्र आरम्भ में नीचे की ओर गिरते हैं और एक बिन्दु के पश्चात् फिर ऊपर की ओर उठते हैं, 'U' आकृति के वक्र कहलाते हैं। रेखाचित्र 7.3 (B) में AVC वक्र का निम्नतम बिन्दु MVC वक्र के निम्नतम बिन्दु के दाईं ओर है। इसका कारण यह है कि जब AVC वक्र नीचे की ओर गिरता है तो MVC वक्र उसके नीचे होता है तथा AVC वक्र के उसके निम्नतम बिन्दु पर काटता है। स्पष्ट है कि अपने निम्नतम बिन्दु पर पहुंचने के पश्चात् MVC वक्र ऊपर को उठकर ही AVC वक्र के बराबर हो सकता है। यही कारण है कि AVC वक्र का निम्नतम बिन्दु MVC वक्र के दाईं ओर होता है।

औसत लागत (औसत स्थिर लागत + औसत परिवर्ती लागत) की प्रवृत्ति

औसत लागत (AC) औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्ती लागत दोनों का योग है। स्पष्ट है कि औसत लागत की प्रवृत्ति उसके घटकों – औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्ती लागत – की संयुक्त प्रवृत्ति पर निर्भर करेगी। औसत स्थिर लागत उत्पादन स्तर में वृद्धि के साथ लगातार गिरती चली जाती है परन्तु औसत परिवर्ती लागत आरम्भ में एक बिन्दु तक गिरती है और फिर बढ़ती चली जाती है। किसी फर्म की कुल स्थिर लागत 500 रु. मान कर, नीचे सूची 7.5 में औसत स्थिर लागत (AFC) तथा औसत परिवर्ती लागत (AVC) के आकड़ों को जोड़कर औसत लागत निकाली गई है।

सूची 7.5

स्थिर लागत			परिवर्ती लागत				कुल लागत		
उत्पादित इकाइयां	कुल स्थिर लागत	सीमांत स्थिर लागत	औसत स्थिर लागत	कुल परिवर्ती लागत	सीमांत परिवर्ती लागत	औसत परिवर्ती लागत	कुल लागत	सीमांत लागत	औसत लागत
1.	100	00	100	40	40	40	140	40	140
2.	100	00	50	70	30	35	170	30	85
3.	100	00	33.3	90	20	30	190	20	63.3
4.	100	00	25	136	46	34	236	46	59
5.	100	00	20	200	64	40	300	64	60
6.	100	00	16.7	300	100	50	400	100	66.7
7.	100	00	14.3	434	134	62	534	134	76.3

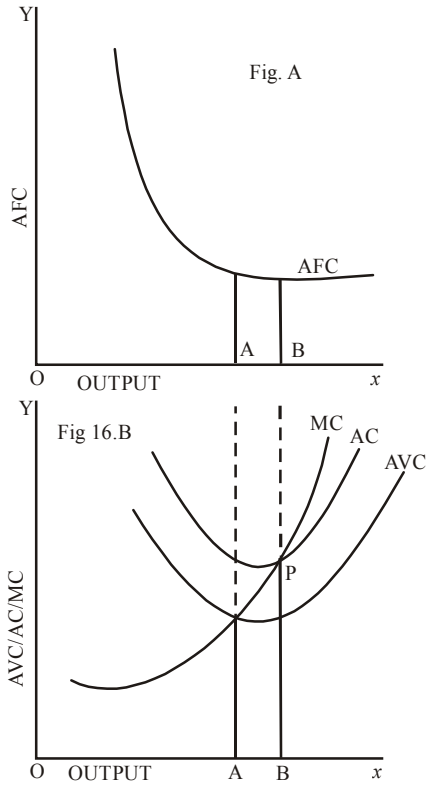
उपरोक्त सूची में सीमांत स्थिर लागत शून्य रहती है क्योंकि कुल स्थिर लागत में कोई परिवर्तन नहीं होता। औसत स्थिर लागत उत्पादन स्तर में वृद्धि के साथ उत्तरोत्तर घटती जाती है। कुल परिवर्ती लागत 3 इकाइयों के उत्पादन स्तर तक ह्रासमान दर से बढ़ती जाती है और उसके पश्चात् वर्द्धमान दर से बढ़ती है। सीमांत परिवर्ती लागत 3 इकाइयों के स्तर तक घटती है और उसके पश्चात् बढ़ना आरम्भ कर देती है। औसत परिवर्ती लागत 3 इकाइयों के उत्पादन स्तर तक घटती रहती है और उसके पश्चात् बढ़ती चली

जाती है। कुल लागत, कुल स्थिर लागत तथा कुल परिवर्ती लागत का जोड़ है। सीमान्त लागत (MC) वास्तव में सीमान्त परिवर्ती लागत (MVC) ही है। औसत लागत (AC), औसत स्थिर लागत (AFC) तथा औसत परिवर्ती लागत (AVC) का जोड़ है। सीमांत लागत (MC) 3 इकाइयों तक गिरती है और उसके बाद बढ़ती चली जाती है। औसत लागत (AC) 4 इकाइयों तक गिरती है और उसके बाद बढ़ती जाती है।

नीचे रेखाचित्र 7.4 में औसत स्थिर लागत (AFC) के वक्र को औसत परिवर्ती लागत (AVC) के वक्र के ऊपर जोड़कर औसत लागत (AC) वक्र प्राप्त किया गया है।

AVC तथा MVC वक्रों की तरह AC वक्र भी 'U' आकृति का होता है।

रेखाचित्र 7.4



MVC वक्र ही MC वक्र होता है क्योंकि MC = MVC

उपरोक्त रेखाचित्र में औसत लागत वक्र (AC) की आकृति तथा प्रवृत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार चरण अंकित किए जा सकते हैं :

1. जब तक औसत लागत के दोनों घटक—अर्थात् औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्ती लागत नीचे गिरते हैं, तो निश्चय ही औसत लागत वक्र (जो दोनों का योग है) भी नीचे गिरेगा। रेखाचित्र में OA उत्पादन स्तर तक औसत स्थिर लागत वक्र AFC तथा औसत परिवर्ती लागत वक्र AVC दोनों ही नीचे की ओर गिरते हैं। इसलिए औसत लागत वक्र भी नीचे गिरता है।
2. उत्पादन स्तर OA के पश्चात् भी औसत स्थिर लागत वक्र तो नीचे ही गिरता रहता है, पर औसत परिवर्ती लागत वक्र AVC ऊपर उठना आरम्भ कर देता है। परन्तु जब तक औसत स्थिर लागत में निरपेक्ष कमी औसत परिवर्ती लागत में निरपेक्ष वृद्धि से अधिक रहती है, AC वक्र नीचे गिरता रहता है। रेखाचित्र में क्षेत्र AB पर औसत स्थिर लागत में निरपेक्ष कमी औसत परिवर्ती लागत में निरपेक्ष वृद्धि से अधिक है, इसलिए AC वक्र नीचे गिरता रहता है।

3. फिर औसत स्थिर लागत में कमी और औसत परिवर्ती लागत में वृद्धि समान हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप AC वक्र स्थिर हो जाता है।
4. इसके पश्चात् औसत परिवर्ती लागत में निरपेक्ष वृद्धि औसत स्थिर लागत में निरपेक्ष कमी से अधिक होती है और परिणामस्वरूप AV वक्र ऊपर को उठना आरम्भ कर देता है।

औसत लागत तथा सीमांत लागत के संबंध को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

1. जब तक सीमांत लागत औसत लागत से कम है, औसत लागत नीचे की ओर गिरता है। चित्र 7.4 में OB AC उत्पादन स्तर तक MC वक्र AC वक्र से नीचे है अतः AC वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ है।
2. यदि सीमांत लागत औसत लागत के समान (MC = AC), जैसा कि चित्र में P बिंदु पर दिखाया गया है, तो AC स्थिर रहेगा।
3. यदि सीमांत लागत औसत लागत से अधिक है तो AC वक्र ऊपर उठता है। चित्र में P बिंदु के दाई ओर MC वक्र AC वक्र के ऊपर रहता है, इसलिये AC वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ है।

निष्कर्ष

जो वक्र आरम्भ में नीचे गिरता है और फिर ऊपर उठता है, उसे 'U' आकृति का वक्र कहते हैं।

जिस प्रकार फर्म के औसत परिवर्ती लागत (AVC) तथा सीमांत परिवर्ती लागत (MVC) के वक्र 'U' की आकृति के होते हैं, ठीक वैसे ही औसत लागत (AC) तथा सीमांत लागत (MC) के वक्र भी 'U' आकृति के ही होते हैं। MC वक्र तो वास्तव में MVC वक्र ही है। AC तथा AVC वक्रों के बीच लम्बवत् अंतर (जैसा कि रेखाचित्र 7.5 में दिखाया गया है) प्रत्येक उत्पादन स्तर औसत स्थिर लागत (AFC) को व्यक्त करता है।

SECTION – II

दीर्घकालीन लागत वक्र

(Long Run Cost Curve)

अब आप दीर्घकाल लागत वक्रों के बारे में जानेंगे। दीर्घकाल समय की वह अवधि है जिसमें सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। फर्म के पास सभी साधनों का आवश्यकतानुसार उपयोग करके न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने के लिए पर्याप्त समय होता है। दूसरे शब्दों में, दीर्घकाल में फर्म भविष्य की योजना बना सकती है तथा अल्पकाल की विभिन्न उत्पादन विधियों में से यह चुनाव कर सकती है कि दीर्घकाल में वे कौन सी उत्पादन विधि चुनी जाएगी। अतः प्रत्येक फर्म उत्पादन की अल्पकालीन स्थिति में कार्य करती है, परन्तु वह दीर्घकाल में उत्पादन सम्बन्धी योजनाएँ बनाती है। किसी भी फर्म को उत्पादन संबंधी योजना बनाने के लिए दीर्घकालीन लागतों (Long run cost) का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

अल्पकाल की तरह दीर्घकाल में भी लागत की तीन धारणाएँ हैं–

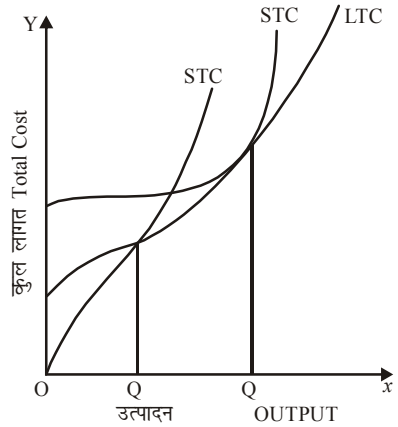
(1) दीर्घकालीन कुल लागत (Long-run total cost-LTC)

(2) दीर्घकालीन औसत लागत (Long-run Average Cost-LAC) तथा

(3) दीर्घकालीन सीमांत लागत (Long-run Marginal Cost-LMC)

1. दीर्घकालीन कुल लागत (Long-run total cost-LTC) : अल्पकाल में तीन तरह की कुल लागत में अंतर कर सकते हैं, कुल स्थिर लागत (TFC), कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) तथा अल्पकालीन कुल लागत (STC) परन्तु दीर्घकाल में एक ही प्रकार की कुल लागत (LTC) होती है। दीर्घकालीन कुल लागत वह न्यूनतम लागत है जिस पर प्रत्येक स्तर का उत्पादन किया जा सकता है। (The long run total cost is the minimum cost at which each level of output can be produced.)

चित्र

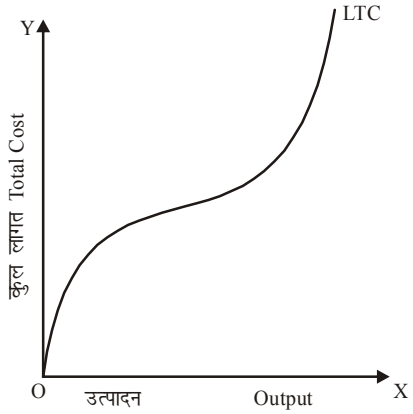


लीभाफास्की के अनुसार **"दीर्घकालीन कुल लागत उत्पादन के किसी स्तर की न्यूनतम कुल लागत है जबकि सभी साधन परिवर्तनशील हों।"** (The long run total cost of production (LTC) is the least possible cost of producing any given level of output when all inputs are variable- Leibhafasky)

उत्पादन के प्रत्येक स्तर के लिए लागत वक्र पर एक बिंदु होता है जो अल्पकालीन न्यूनतम लागत को दिखाता है। दीर्घकाल लागत वक्र ऐसे सभी बिंदुओं का बिंदु पथ (Locus) है। इसलिए दीर्घकालीन लागत वक्र अल्पकालीन लागत वक्रों का लिफाफा है।

दीर्घकाल में एक फर्म वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा का न्यूनतम लागत पर उत्पादन कर सकती है। इसका मुख्य कारण यह है कि फर्म के पास पर्याप्त समय होता है जिसमें वह (i) आदर्श आकार के प्लांट का चुनाव कर सकती है। (ii) न्यूनतम लागत साधन अनुपात (Least cost factor proportion) का चुनाव कर सकती है। **इसका अर्थ यह है कि दीर्घकालीन कुल लागत अल्पकालीन कुल लागत से कम होगी या उसके बराबर होगी। परन्तु दीर्घकालीन लागत अल्पकालीन लागत से कभी भी अधिक नहीं होगी।** इस तथ्य को निम्नलिखित सूत्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं–

$LTC \leq STC$



दीर्घकालीन कुल लागत वक्र उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर न्यूनतम लागतों (Least Costs) को दर्शाती है। अतएव यह वह वक्र है जो अल्पकालीन कुल लागत वक्र के किसी एक बिन्दु पर उसकी स्पर्शीय रेखा (Tangent) है। इसे चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र में STC_1 तथा STC_2 दो विभिन्न आकार के प्लांट्स की अल्पकालीन कुल लागत वक्र हैं। दीर्घकालीन कुल लागत (LTC) वक्र विभिन्न अल्पकालीन लागत वक्रों के न्यूनतम बिन्दुओं को मिलाकर खींची जाती है। दीर्घकालीन कुल लागत वक्र अल्पकालीन कुल लागत वक्रों की स्पर्श रेखा (Tangent) होती है इसलिए LTC वक्र STC वक्रों को ढक लेती है अर्थात लिफाफा (Envelope) जैसा बना लेती है।

दीर्घकालीन की कुल लागत (LTC) वक्र उल्टे S (Inverse S) के आकार की होती है। इस वक्र की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) दीर्घकालीन कुल लागत वक्र मूल बिन्दु o से आरम्भ होती है जबकि अल्पकालीन कुल लागत OY लम्ब के किसी भी बिन्दु से आरंभ होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दीर्घकाल में सभी लागतों के परिवर्तनशील होने के कारण जब उत्पादन की मात्रा शून्य होती है तो कुल लागत भी शून्य हो जाती है जबकि अल्पकालीन कुल लागत कभी भी शून्य नहीं होती।

(ii) LTC वक्र का ढलान धनात्मक होता है। इसका अर्थ है कि उत्पादन की अधिक मात्रा की लागत अधिक होती है।

(iii) दीर्घकालीन कुल लागत वक्र पहले घटती दर पर इसके बाद समान दर पर और अन्त में बढ़ती दर पर बढ़ रही है।

2. दीर्घकालीन औसत लागत वक्र या लिफाफा वक्र (Long Run Average Cost Curve-LAC or Envelope Curve) :

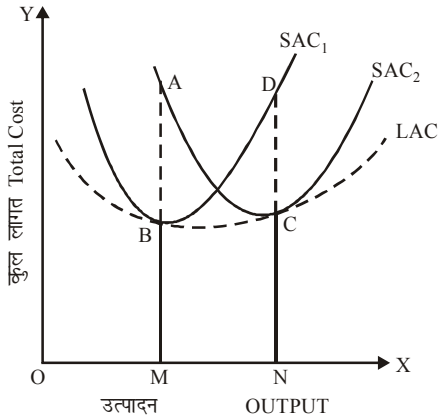
दीर्घकाल में किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं को उत्पन्न करने के प्रति इकाई न्यूनतम संभव लागत दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) होती है। मैन्सफील्ड के अनुसार **"दीर्घकालीन औसत लागत वक्र वह वक्र है जो उत्पादकता के विभिन्न स्तरों के संदर्भ में उत्पादन के प्रत्येक स्तर की प्रति इकाई न्यूनतम लागत को दिखाता है।" (The long-run average cost curve (LAC) is that curve which shows the minimum cost per unit of producing each output level, corresponding to different scales of productivity-Mansfield)**

इसका पता लागत को उत्पादन की मात्रा से भाग देकर LAC का पता लागया जाता है। यह न्यूनतम औसत लागत है जो उस समय प्राप्त होती है जब सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। साथ ही जब किसी भी आकार के प्लांट का निर्माण किया जा सकता है।

दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म विभिन्न आकार के प्लांटों का उपयोग कर सकती है। एक विशेष प्रकार का प्लांट उपयुक्त रहता है क्योंकि उस प्लांट की सहायता से उत्पादन करने से औसत लागत न्यूनतम होती है। दीर्घकाल में एक उत्पादक उस प्लांट से उत्पादन करेगा जिससे औसत लागत न्यूनतम हो जाये। उत्पादन की मांग में परिवर्तन होने के साथ ही वह प्लांट के आकार में भी परिवर्तन करता जायेगा। **प्रत्येक प्लांट की एक अल्पकालीन औसत लागत वक्र (SAC) होती है। इसकी सहायता से हम दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) का अनुमान लगा सकते हैं।**

मान लीजिए एक फर्म दो प्रकार के प्लांटों का प्रयोग कर सकती है। एक छोटा प्लांट है उसकी अल्पकालीन लागत वक्र SAC_1 है। दूसरा बड़ा प्लांट है, इसकी अल्पकालीन लागत वक्र SAC_2 है। दीर्घकाल में फर्म इन दोनों प्लांटों में से सबसे लाभदायक प्लांट पर निवेश करने की योजना बना सकती है। उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर इन दोनों अल्पकालीन लागत वक्रों की सहायता से यह पता किया जा सकता है कि उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर कौन से प्लांट के द्वारा उत्पादन करने से औसत लागत न्यूनतम होगी।

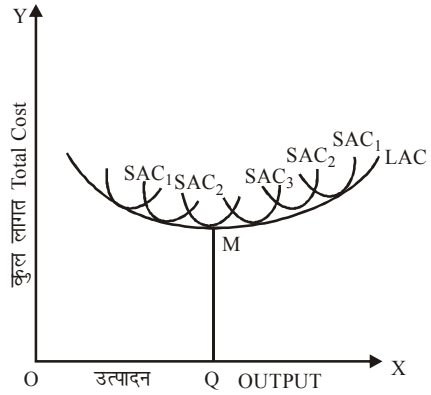
चित्र



चित्र में दो प्रकार के प्लांटों की अल्पकालीन औसत लागत वक्रें दिखाई गई हैं। SAC_1 छोटे प्लांट की तथा SAC_2 बड़े प्लांट की औसत लागत वक्र है। यदि फर्म OM मात्रा का उत्पादन करना चाहती है तो वह छोटे प्लांट को चुनेगी। इस प्लांट की सहायता से OM इकाइयों का उत्पादन न्यूनतम औसत लागत BM पर होगा जैसा कि SAC_1 वक्र से ज्ञात होता है। इसके विपरीत OM इकाइयों का उत्पादन बड़े प्लांट द्वारा करने से औसत लागत बढ़कर AM हो जाएगी। परन्तु यदि फर्म को ON इकाइयों का उत्पादन

करना है तो फर्म बड़े प्लांट का प्रयोग करेगी। इस प्लांट के द्वारा ON इकाइयों का उत्पादन न्यूनतम औसत लागत CN के द्वारा किया जा सकेगा जबकि छोटे प्लांट ON द्वारा मात्रा का उत्पादन करने पर औसत लागत बढ़कर DN हो जाएगी। यदि हम मान लें कि फर्म को विभिन्न आकारों के बहुत सारे प्लांट उपलब्ध हैं तो **उन प्लांटों के प्रत्येक स्तर की न्यूनतम लागत को प्रकट करने वाली वक्र दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) कहलायेगी।** अतएव OM मात्रा का न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादन छोटे प्लांट (SAC_1) द्वारा किया जाएगा तथा ON की मात्रा का न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादन बडे प्लांट (SAC_2) के द्वारा किया जाएगा।

चित्र



उपर्युक्त चित्र में दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) को दिखाया गया है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र प्रत्येक अल्पकालीन औसत लागत वक्र को किसी न किसी बिन्दु पर अवश्य स्पर्श करती है। दीर्घकालीन औसत लागत के न्यूनतम बिन्दु M से बाईं ओर यह स्पर्शीय बिन्दु (point of tangency) अल्पकालीन औसत लागतों के नीचे की ओर गिरते हुए हिस्सों पर है। इसका कारण यह है कि न्यूनतम बिन्दु M तक दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र का ढलान ऋणात्मक (negative) है। इसलिए अल्पकालीन औसत लागत (SAC) वक्र का ढलान भी ऋणात्मक होगा क्योंकि स्पर्शीय बिन्दु पर दोनों वक्रों के ढलान बराबर होते हैं। न्यूनतम बिन्दु M से ऊपर स्पर्शीय बिन्दु औसत लागत वक्रों के ऊपर की ओर उठते हुए हिस्सों पर होंगे। बिन्दु M के बाद दीर्घकालीन औसत लागत वक्र ऊपर की ओर उठा रही है। बिन्दु M पर दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत तथा अल्पकालीन न्यूनतम औसत लागत एक-दूसरे के बराबर होती है।

अतः यह याद रखना चाहिए कि हालैण्ड ने कहा है कि, **"प्रत्येक अल्पकालीन औसत लागत वक्र का स्पर्शीय बिन्दु (Point of Tangency) होना आवश्यक नहीं है। एक अल्पकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम बिन्दु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का स्पर्शीय बिन्दु केवल उस स्थिति में होता है जब दीर्घकालीन औसत लागत भी न्यूनतम होती है।" (The lowest point on each SAC curve, however, may not be the point of tangency with the LAC curve. The lowest point on an SAC Curve is tangent to the LAC Curve only at the lowest point of the LAC Curve. - Holland).** अतः केवल M बिन्दु पर ही अल्पकालीन प्लांट का आदर्श उपयोग (optimum use) होता है।

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) को योजना वक्र भी कहते हैं। कौतसुवायानी के शब्दों में "दीर्घकालीन औसत लागत वक्र एक योजना वक्र है क्योंकि यह भविष्य में उत्पादन के विस्तार की योजना के संबंध में निर्णय लेने के लिए एक उद्यमी का मार्गदर्शक है।" **(The long-run average cost curve is a planning curve, in the sense that it is a guide to the entrepreneur in his decision to plan the future expansion of his output.- Kautsoyiannis)**

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) U- आकार की क्यों होती है?

दीर्घकालीन लागत वक्र अंग्रेजी अक्षर U की तरह होती है। इससे यह ज्ञात होता है कि जब कोई फर्म उत्पादन आरंभ करती है तो LAC ऊपर से नीचे की ओर गिर रही होती है। इस अवस्था में उत्पादन की मात्रा बढ़ने से LAC कम हो जाती है इसके बाद LAC स्थिर (Constant) रहती है। उत्पादन की एक निश्चित मात्रा के बाद LAC बढ़ना आरंभ कर देती है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र भी उत्पादन के पैमाने की बचतों (economies) तथा हानियाँ (diseconomies) के कारण U- आकार की होती है।

(1) **पैमाने की बचतें (Economies of Scale) :** एक फर्म की LAC वक्र के नीचे गिरते हुए भाग का मुख्य कारण उत्पादन में वृद्धि होने के कारण प्राप्त होने वाले पैमाने की बचतें हैं। ये बचतें निम्नलिखित कारणों से होती है:

(i) श्रम विभाजन तथा श्रम का विशिष्टीकरण (Division and Specialisation of Labour)– उत्पादन का पैमाना बड़ा होने के कारण काम को कई छोटे-छोटे भागों में बांटा जा सकता है। काम के प्रत्येक भाग को करने में एक श्रमिक विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकता है। इसके कारण श्रमिक उस विशेष कार्य में निपुणता प्राप्त कर लेता है जिससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त एक विशेष काम में विशिष्टीकरण करने से समय तथा पूंजी की बचत होतीहै। श्रम विभाजन के कारण नये आविष्कारों के अवसर भी बढ़ जाते हैं। इसी कारण प्रति इकाई उत्पादन लागत कम होती जाती है।

(ii) अविभाज्यता की बचतें (Economies of indivisibility)– जे॰ एस॰ बेन (J.S. Bain) के अनुसार उत्पादन के साधनों की अविभाज्यताओं के फलस्वरूप भी उत्पादन में वृद्धि करने पर औसत लागत कम होने लगती है। उत्पादन के कई साधनों की एक निश्चित मात्रा का उपयोग करना आवश्यक होता है। चाहे उत्पादन कम हो या अधिक हो। जैसे एक बड़ी फर्म एक उत्पादन मैनेजर का उसकी पूर्ण क्षमता तक प्रयोग कर सकती है लेकिन एक छोटी फर्म उत्पादन मैनेजर की क्षमता के दसवें भाग का भी उपयोग नहीं कर सकती है। अतः उत्पादन की मात्रा जैसे-जैसे बढ़ती है अविभाजित साधनों का उनकी पूर्ण क्षमता तक उपयोग होता जाता है तथा औसत लागत घटती जाती है।

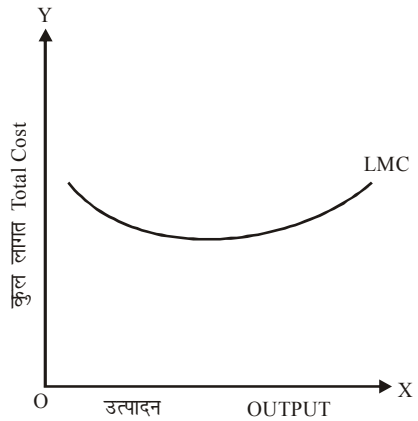
(iii) तकनीकी बचतें (Technical economies)– दीर्घकाल में उत्पादन का पैमाना बढ़ाने के फलस्वरूप कई प्रकार की तकनीकी बचतें प्राप्त होती हैं जैसे स्वचालित मशीनों का अधिक उपयोग। उन्नत तकनीक के कारण उत्पादन लागत कम हो जाती है। इसलिए तकनीकी बचतों के कारण औसत लागत कम होती होती जाती है।

(2) **पैमाने की हानियाँ (Diseconomies of Scale)**– दीर्घकालीन औसत लागत के ऊपर की ओर उठते हुए भाग का मुख्य कारण उत्पादन में वृद्धि होने के कारण **पैमाने की होने वाली हानियाँ हैं।** एक फर्म का कुशल प्रबंध करने तथा समन्वित (co-ordination) करने में प्रबन्ध की कार्यकुशलता की अपनी सीमाएँ होती हैं। ये सीमायें पैमाने की हानियाँ(diseconomies of scale) कहलाती हैं। एक फर्म के उत्पादन के पैमाने में जैसे-जैसे वृद्धि की जाती है, प्रबंधक कार्यों के विभाजन तथा विशिष्टीकरण से अधिक कार्यकुशल हो जाता है। किंतु, एक सीमा के पश्चात फर्म का प्रबंध करने से संबंधित कठिनाइयाँ बढ़ने लगती हैं। मुख्य प्रबंधकों का व्यवसाय के दैनिक कार्यों से संपर्क धीरे-धीरे दूर होता जाता है। इसके फलस्वरूप उत्पादन के विभिन्न विभागों के संचालन की कार्यकुशलता घटने लगती है। निर्णय करने की जिम्मेवारी अन्य व्यक्तियों को देनी पड़ती है। कागजी कार्य, यात्रा व्यय, टेलिफोन बिलों आदि का खर्च बढ़ जाता है। कभी-कभी विभिन्न निर्णय लेने वाले कर्मचारियों की योजनाओं में परस्पर समन्वय नहीं हो पाता है। इसके फलस्वरूप उत्पादन में कमी हो जाती है तथा औसत लागत बढ़ने लगती है।

दीर्घकालीन सीमांत लागत (Long Run Marginal Cost)

दीर्घकाल में किसी वस्तु की एक अधिक या कम इकाई उत्पन्न करने से कुल लागत में जो अन्तर आता है उसे दीर्घकालीन सीमांत लागत कहा जाता है।

चित्र



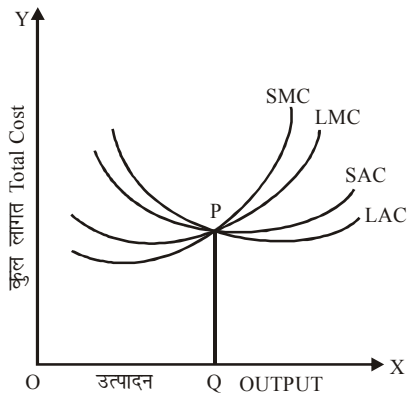
फर्गूसन के शब्दों में **"दीर्घकालीन सीमान्त लागत उत्पादन की एक अधिक इकाई का प्रयोग करने से कुल लागत में होने वाली वृद्धि है जब सभी साधन क्रियात्मक रूप से समायोजित होते हैं।" (Long run marginal cost is the addition to total cost attributable to an additional unit of output when all inputs are operationally adjusted.- Ferguson)**

दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र को चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है। दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र LMC है। यह पहल गिरती हुई न्यूनतम हो जाती है तथा इसके बाद ऊपर की ओर उठने लगती है।

(i) दीर्घकालीन सीमान्त लागत तथा अल्पकालीन सीमांत लागत में संबंध (Relation between Long run and Short run Marginal Cost) एक अल्पकालीन सीमांत लागत वक्र से यह ज्ञात होता है कि घटते-बढ़ते साधनों में परिवर्तन से किसी वस्तु की एक अधिक या कम मात्रा उत्पादन करने के कारण कुल लागत पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके विपरीत एक दीर्घकालीन सीमांत लागत वक्र से यह पता लगता है कि सभी साधनों में परिवर्तन होने से किसी वस्तु की एक अधिक या कम मात्रा का उत्पादन करने के कारण कुल लागत पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। दीर्घकालीन सीमांत लागत वक्र को अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्रों से ज्ञात किया जाता है परन्तु यह उनको घेरती (Envelope) नहीं है। उत्पादन के उस स्तर पर दीर्घकालीन सीमांत लागत (LMC) अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) के बराबर अवश्य होगी जिस पर SMC से संबंधित SAC दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) की स्पर्श रेखा (Tangent) होती है।

चित्र



जब फर्म वस्तु की दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए प्लांट का एक उचित पैमाना बना लेती है तो उत्पादन की इस मात्रा पर अल्पकालीन सीमांत लागत वक्र समान हो जाती है। जैसा कि चित्र से दर्शाया गया है कि इष्टतम उत्पाद OQ पर SMC और LMC बराबर होते हैं। यदि उत्पादन इष्टतम स्तर OQ से कम होगा तो SMC कम होगी तथा LMC उसकी अपेक्षा अधिक होगी। इसके विपरीत यदि उत्पादन इष्टतम स्तर OQ से अधिक होगा तो SMC अधिक होगी तथा LMC उसकी अपेक्षा कम होगी। दीर्घकालीन सीमांत लागत (LMC) अल्पकालीन सीमांत लागत (SMC) की तुलना में अधिक चपटी (flatter) होती है।

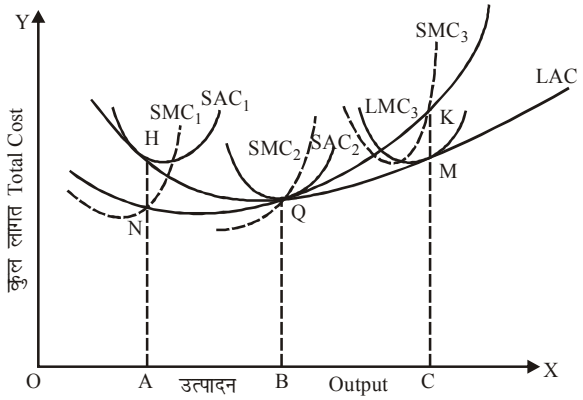
(iii) दीर्घकालीन सीमांत लागत तथा दीर्घकालीन औसत लागत में सम्बन्ध (Relation between LMC and LAC) : LMC तथा LAC में संबंध भी चित्र से स्पष्ट हो जाता है। इस चित्र से जाना जाता है कि दीर्घकाल में LMC और LAC का वही संबंध होता है जो अल्पकाल में जब LAC गिरती है, LMC उससे कम होती है। LAC के न्यूनतम बिंदु P पर LMC उसके बराबर हो जाती है। इस चित्र से यह भी ज्ञात होता है कि LMC वक्र LAC की अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे की ओर गिरती है और अधिक तेजी से ऊपर की ओर उठती है। इष्टतम उत्पादन के बिन्दु P पर SAC = SMC = LAC = LMC।

दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र को प्राप्त करना (Deriving Lon-Run Marginal Cost Curve)

हम ऊपर यह बता चुके हैं कि सीमान्त लागत क्या है, अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और इसका अल्पकालीन औसत लागत वक्र से क्या संबंध है। चूंकि सीमांत लागत वक्र अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है इसलिए यह जानना लाभप्रद होगा कि दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। दीर्घकालीन सीमान्त लागत

वक्र दीर्घकालीन कुल लागत वक्र से सीधे तौर पर प्राप्त किया जा सकते है क्योंकि किसी उत्पादन मात्रा पर दीर्घकालीन सीमान्त लागत उत्पादन की उस मात्रा पर कुल लागत वक्र की ढाल (slope) के बराबर होती है।

चित्र



दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र की व्युत्पत्ति

इसके अतिरिक्त, दीर्घकालीन सीमांत लागत वक्र दीर्घकालीन औसत लागत वक्र से भी प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र से भी संबंध होता है जोकि अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र का अल्पकालीन औसत लागत वक्र से होता है। चित्र में यह दर्शाया गया है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC खींचा गया है जोकि अल्पकालीन औसत और सीमान्त लागत वक्रों को घेरे हुए है। यदि फर्म को दीर्घकाल में वस्तु की OA मात्रा उत्पादित करनी है तो वह दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बिन्दु H पर काम करेगी जोकि अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_1 से स्पर्श करता है। इस प्रकार जब फर्म की वस्तु की OA मात्रा उत्पादित करनी है तो वह अल्पकालीन औसत लागत वक्र के SAC_1 के संयंत्र से की जाएगी जिसका अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC_1 है। अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SAC_1 और दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बीच स्पर्श बिन्दु H के अनुसार अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC_1 का बिन्दु N है। इसका अर्थ यह है कि दीर्घकाल में वस्तु की OA मात्रा को उत्पादित करने की सीमान्त वक्र AN है।

यदि दीर्घकाल में वस्तु OB मात्रा उत्पादित करनी है तो उसे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के LAC बिन्दु Q पर काम करके उत्पादित किया जाएगा और यह Q बिन्दु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC और अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_2 के बीच स्पर्श बिन्दु है। बिन्दु Q अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC_2 पर उत्पादन मात्रा OB के अनुसार बिन्दु भी है। इस प्रकार बिन्दु Q भी वस्तु की OB मात्रा के अनुसार दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र का बिन्दु होगा। इसी तरह यदि वस्तु की OC मात्रा दीर्घकाल में उत्पादित करनी है तो इसे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के बिन्दु M पर इसी तरह उत्पादित किया जाएगा। यह बिन्दु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC और अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_3 के बीच स्पर्श बिन्दु है। बिन्दु M के अनुसार अल्पकालीन सीमान्त वक्र SMC_3 का बिन्दु K है जिसका अर्थ है कि वस्तु की OC मात्रा उत्पादित करने की सीमान्त लागत CK है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन की मात्रा OC के अनुसार दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र पर बिन्दु K होगा। N, Q और K बिन्दुओं को परस्पर मिलाने पर हमें दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र LMC प्राप्त होता है।

तकनीकी परिवर्तनः अति दीर्घकाल (Technical Change : The Very Long Run)

अल्पकाल में, सामान्यतः एक फर्म के पास श्रम एक परिवर्तनशील साधन होता है, जबकि पूंजी, प्लांट तथा साज-सामग्री जैसे अन्य साधन, उत्पादन तकनीक आदि स्थिर रहते हैं। अतः श्रम का अधिक मात्रा में प्रयोग करके उत्पादन को तब तक बढ़ाया जा सकता है जब तक कि श्रम की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन धनात्मक (positive) अर्थात् MP_L धनात्मक है। अतिरिक्त श्रम लगाने पर जो लागत या खर्च बैठता है उसे **उत्पादन सृजित (output generate)** करके निकाल दिया जाता है, अर्थात् उत्पादन अधिक करके उस खर्च को पूरा किया जा सकता है।

दीर्घकाल में, उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं, इसलिए फर्में साधनों के उन सभी विभिन्न संयोगों को ले व प्रयोग कर सकती है जो कुल उत्पादन की लागत को न्यूनतम कर दे। इसलिए फर्में विभिन्न सम-लागत रेखाओं (Iso-cost Line) पर सरक

सकती हैं। इसे न्यूनतम लागत संयोग (Least Cost Combination) भी कहा जाता है, वह इसलिए कि उत्पादन के सभी साधनों के लिए की गई प्रति इकाई सीमान्त उत्पाद लागत समान होती है, अर्थात् $MP_L/P_L = MP_K/P_K$।

अति दीर्घकाल में, स्वयं उत्पादन फलन परिवर्तन होता है, अर्थात उत्पादन तकनीक में इस ढंग से परिवर्तन किया जा सकता है कि आगतों की समान मात्रा अधिक उत्पादन कर सकें और इसलिए लागत वक्र में परिवर्तन होता है और वह नीच की ओर सरकती है। अन्य शब्दों में, तकनीकी परिवर्तन अथवा नव प्रवर्तन (Innovation) होने के साथ एक दिए हुए उत्पाद की पैदा करने की लागत को, उत्पादन के उपलब्ध साधनों का अधिक कुशल प्रयोग करके, कम किया जा सकता है।

वैज्ञानिकों, नवप्रवर्तकों आदि द्वारा किए तकनीकी नवप्रवर्तन का उत्तम प्रकार से संयोग करके उत्पादन लागत को कम किया जा सकता है। शुम्पीटर (Schumpeter) एक एकाधिकारी प्रतियोगिता का एक प्रतिपादनक (exponent) है क्योंकि यह (एकाधिकारी प्रतियोगिता) फर्मों को नवप्रवर्तन की प्रेरणा देती है। अतएव दीर्घकाल में, बाजार में बदलने वाले आर्थिक संकेतकों (economic signals) के कारण निरन्तर तकनीकी परिवर्तन होते रहते हैं।

तकनीकी नवप्रवर्तन सदा बदलने वाले आर्थिक संकेतों का परिणाम है अर्थात् बाजार दशाओं में एक दिए परिवर्तन के फलस्वरूप ये फर्मों की **परिवतर्नशील अनुक्रिया (change response)** को बतलाते हैं। साधनों की कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप साधनों का प्रतिस्थापन फर्मों को नवप्रवर्तन के लिए प्रोत्साहित करता है। उदाहरण के लिए श्रम की बढ़ती कीमत (श्रम की मांग बढ़ने, मजदूर संघ के निर्माण तथा सरकार की मजदूरी कानून संबंधी नीति के कारण) की स्थिति में फर्मों ने उत्पादन की पूँजी गहन विधियों/तकनीकों की खोज करनी शुरू कर दी है। यातायात संचार, **विनिर्माण (manufacturing)** आदि में श्रम के स्थान पर पूंजी का लगाना वैश्विक स्वरूप बन चुका है।

अति दीर्घकाल में, तकनीकी नवप्रवर्तन एक ही देश तक सीमित नहीं रहते, बल्कि ये विश्व के सभी भागों में अक्सर फैल जाते हैं। मान लो देश "A" श्रम और पूंजी का प्रयोग करके कपड़े का उत्पादन कर रहा है। अब यदि अल्पकाल में श्रम की कीमत में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि वह श्रम के बदले में पूंजी का प्रतिस्थापन नहीं कर सकता। परन्तु श्रम की बढ़ती लागत देश के हित में नहीं होगी क्योंकि वह विश्व बाजार में अपनी प्रतिस्पर्धात्मक (comptitiveness) खो देगा। ऐसी हानि उत्पादकों को नवप्रवर्तन के लिए प्रेरित करती है ताकि बाजार शेयर (अर्थात् बाजार से मिलने वाली धनराशि) को वे दोबारा प्राप्त कर सकें। अति दीर्घकाल में, उत्पादन लागत को कम करने के लिए फर्में अनुसंधान और विकास में अपने आप को व्यस्त कर सकती हैं। यदि इसमें उनको सफलता मिल जाती है तब वे ऐसी प्रेरणा विशुद्ध रूप से अन्तर्जात (endogenous) होती है और इन प्रतियोगी देशों को उपलब्ध नहीं है जो श्रम की कीमत में वृद्धि से प्रभावित नहीं है।

अतएव कीमत में परिवर्तन के रूप में आर्थिक संकेतों और फर्म के उत्पादन में किसी भी परिवर्तन की फर्मों की अनुक्रिया (response) का, समय अवधि पर निर्भर, तीन चरणों में विश्लेषण किया जा सकता है।

- परिवर्तनशील साधन में समन्वय के रूप में अल्पकालीन अनुक्रिया,
- उत्पादन के सभी साधनों में समन्वय के रूप में दीर्घकालीन अनुक्रिया,
- नवप्रवर्तन के रूप में, दीर्घकालीन अनुक्रिया अर्थात् अनुसंधान तथा विकास अनुक्रिया।

आय

हमारा विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि एक पूंजीवादी फर्म बाजार में बेचने के लिए उत्पादन करती है। उत्पादित मात्रा को बेचने से जो आय प्राप्त होती है, उसके तथा कुल लागत के अन्तर को फर्म लाभ के रूप में प्राप्त करती है।

1

आय की विभिन्न अवधारणाएँ

1. कुल आय

वस्तु की उत्पादिता मात्रा को बाजार में बेचने से फर्म को जो आय प्राप्त होती है, वह उसकी कुल आय है। स्पष्ट है कि कुल आय वस्तु की बेची गई मात्रा तथा उसकी बाजार कीमत पर निर्भर करेगी। हम यह मान्यता लेकर चल रहे हैं कि फर्म अपना सारा उत्पादन एक ही कीमत पर बेचती है।

अतः कुल आय = उत्पादित मात्रा × कीमत

2. औसत आय

क्रेता वस्तु की प्रति इकाई जो कीमत अदा करता है, वह फर्म के दृष्टिकोण से औसत आय है। अतः कीमत व औसत आय वास्तव में एक ही हैं। इसलिए कुल आय, उत्पादित वस्तु की मात्रा तथा उसकी औसत आय के गुणनफल के बराबर होती है। इसका निहितार्थ यह हुआ कि औसत आय = कुल आय ÷ उत्पादित मात्रा।

उदाहरणतः यदि एक फर्म को वस्तु की 100 इकाइयां बेचने से 1500 रु. मिलते हैं तो औसत आय 15 रु. होगी। (1500 ÷ 100 = 15)। अतः औसत आय = कुल आय ÷ उत्पादित मात्रा।

कीमत तथा औसत आय दोनों एक ही चीज़ है।

3. सीमान्त आय

एक अतिरिक्त इकाई की बिक्री के कारण फर्म की कुल आय में जो परिवर्तन होता है, वह उस अतिरिक्त इकाई की सीमान्त आय कही जाती है। उदाहरणतः मान लीजिये कि एक फर्म जब 100 रुपये की बजाय 101 इकाई प्रति समयावधि बिक्री करती है, तो उसकी कुल आय 1500 रु. से बढ़कर 1550 रु. प्रति समयावधि हो जाती है। स्पष्ट है कि इस स्थिति में फर्म की कुल आय में अतिरिक्त इकाई का योगदान 50 रु. के बराबर है। अतः अतिरिक्त इकाई की सीमान्त आय 50 रु. होगी। अधिक व्यापक रूप में n वीं इकाई की सीमांत आय (n इकाइयों की संख्या का सूचक है) n इकाइयों से प्राप्त कुल आय तथा (n – 1) इकाइयों से प्राप्त कुल आय के अन्तर के बराबर होती है। उदाहरणतः बीसवीं इकाई की सीमान्त आय, बीस इकाइयों से प्राप्त कुल आय तथा उन्नीस इकाइयों से प्राप्त कुल आय के अन्तर के बराबर होगी।

अतः

nवीं इकाई की सीमान्त आय = n इकाइयों की कुल आय – (n – 1) इकाइयों की कुल आय

$MR_n = TR_n — TR_{(n-1)}$

4. औसत तथा सीमान्त आय में सम्बन्ध

AR तथा MR में वह सम्बन्ध होता है जो AC तथा MC के बीच होता है।

औसत तथा सीमान्त आय में वही सम्बन्ध होता है जो औसत और सीमान्त लागत में होता है तथा जिसका सविस्तार वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यदि वस्तु की अधिक मात्रा बेचने से औसत आय (अर्थात कीमत) गिरती है तो निश्चय ही सीमान्त आय औसत से कम होगी। मान लीजिए जब एक फर्म 20 की बजाए 21 इकाइयाँ बेचती है, तो वस्तु की कीमत (अर्थात् औसत आय) 100 रुपये से गिरकर 98 रुपये हो जाती है। इस स्थिति में 21वीं इकाई की सीमान्त आय 58 रुपये होगी (अर्थात् 98×21–100×20 = 2058–2000=58) जो औसत आय (यानि 98 रुपये) से कम है। दूसरी ओर यदि अधिक मात्रा बेचने से फर्म की औसत आय (अर्थात् कीमत) बढ़ती है, तो निश्चय ही सीमान्त आय औसत आय से अधिक होगी। उपरोक्त उदाहरण में यदि 20 के बजाय 21 इकाइयाँ बेचने से वस्तु की कीमत 100 से बढ़कर 102 रुपये हो जाती है, तो 21वीं इकाई की सीमान्त आय 142 रुपये होगी (अर्थात्102×21–100×20 = 2142–2000 = 142) जो औसत आय (यानि 102 रुपए) से अधिक है। अन्त में यदि किसी स्थिति में फर्म वस्तु की अधिक या कम मात्रा एक स्थिर कीमत पर बेच सकती है तो निश्चय ही सीमान्त आय औसत आय के बराबर होगी। उदाहरणतः जब फर्म 20 की बजाय 21 इकाइयां प्रति समयावधि बेचती हैं और कीमत 100 रुपये ही रहती है, तो स्पष्ट है कि 21वीं इकाई की सीमांत आय भी 100 ही होगी (अर्थात् 100×21–100–20 = 2100–2000 = 100)।

बहरहाल ऊपर को उठता हुआ AR वक्र सामान्य स्थिति नहीं अपितु अपवाद होता है।

इस प्रकार तकनीकी दृष्टि से तो, जब वस्तु की अधिक मात्रा बेचने से फर्म की औसत आय गिरती है, तो सीमान्त आय औसत आय से कम होगी। औसत आय स्थिर रहने की स्थिति में सीमान्त आय उसके बराबर रहेगी और औसत आय के बढ़ने की स्थिति में सीमान्त आय उससे अधिक होगी। बहरहाल, यह भली भांति समझ लेना चाहिए कि वस्तु की अधिक मात्रा बेचने से फर्म की औसत आय में वृद्धि होना एक सामान्य स्थिति नहीं, अपितु अपवाद है। ऐसी असाधारण स्थिति बहुत कम पाई जाती है। साधारणतः अधिकतर

वस्तुओं के व्यक्तिगत तथा बाजार मांग वक्र नीचे की ओर झुकते हुए होते हैं। किन्तु, किन्हीं विशेष बाजार-परिस्थितियों में (जिनका वर्णन अगले खण्ड में किया जाएगा), फर्म का व्यवहार इस मान्यता पर आधारित हो सकता है कि उसकी वस्तु की बाजार मांग वक्र क्षितिजीय है अर्थात् वह चालू बाजार कीमत पर अपनी वस्तु की जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है।

2

विभिन्न बाजार परिस्थितियाँ तथा फर्म की आय

भूमिका

अधिकांश वस्तुओं के बाजार मांग वक्र नीचे की ओर झुकते हुए होते हैं जो इस बात के सूचक हैं कि वस्तु की अधिक मात्रा कीमत कम करके ही बेची जा सकती है। बहरहाल इस सन्दर्भ में फर्म के लिए महत्वपूर्ण तथ्य बाजार की कुल मांग नहीं, अपितु बाजार की कुल मांग का वह हिस्सा है जिसकी पूर्ति वह फर्म करती है। यदि किसी वस्तु का उत्पादन एक ही फर्म द्वारा किया जाता है तो स्पष्ट है कि वस्तु का बाजार मांग वक्र ही फर्म का मांग वक्र है। इसके विपरीत एक स्थिति यह भी हो सकती है कि वस्तु का उत्पादन करने वाली फर्मों की संख्या इतनी हो कि कुल उत्पादन में एक फर्म का योगदान सागर में बूंद के समान हो। ऐसी स्थिति में एक व्यक्तिगत फर्म यह कल्पना भी नहीं कर सकती कि वह अपने उत्पादन को कम या अधिक करके बाजार कीमत को तनिक भी प्रभाक्ति कर सकती है। फर्मों की संख्या के अलावा व्यक्तिगत फर्म की मांग को प्रभावित करने वाले कई अन्य परिवर्ती भी होते है जैसे निकट स्थानापन्न वस्तुओं का उपलब्ध होना तथा उनकी कीमतें, उपभोक्ताओं की रुचियाँ, विज्ञापन इत्यादि। इन सभी परिवर्तियों पर आधारित विभिन्न बाजार परिस्थितियों का विश्लेषण करना आपके पाठ्यक्रम की सीमा के बाहर है। इस पर्चे में हम केवल पूर्ण प्रतियोगी बाजार एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगी बाजार का ही विश्लेषण करेंगे।

AR तथा बाजार MR परिस्थितियाँ पर निर्भर करता है।

1. पूर्ण प्रतियोगिता :

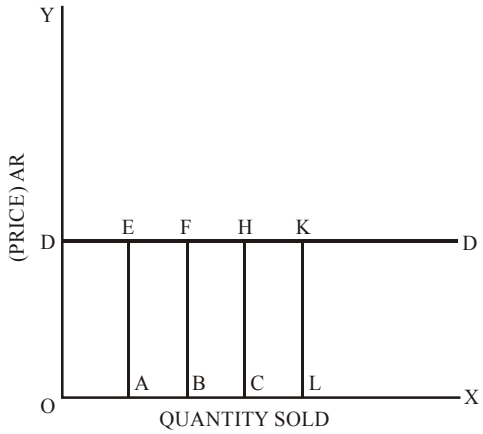
पूर्ण प्रतियोगिता (जो कि केवल सैद्धांतिक की ही है) एक ऐसी बाजार परिस्थिति को दर्शाती है जिसके अन्तर्गत (1) कुल मांग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित बाजार कीमत किसी भी व्यक्ति, फर्म या उपभोक्ता के लिए एक दिया हुआ तथ्य है तथा (2) उस उद्योग में दीर्घकाल में सभी फर्में केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर सकती हैं, उससे अधिक नहीं। यहां यह कह देना आवश्यक है कि सामान्य लाभ वस्तु की औसत लागत में स्थिर लागत के अंश के रूप में पहले से ही शामिल होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में (1) व्यक्तिगत उपभोक्ता तथा फर्म कीमत स्वीकारक होते हैं, नकि कीमत निर्धारक (अर्थात वे अपने व्यक्तिगत क्रय-विक्रय में परिवर्तन से बाजार कीमत को तनिक भी प्रभावित करने में असमर्थ होते हैं) और (2) दीर्घकाल में फर्म की कुल आय कुल लागत के बराबर (यानि वस्तु की कीमत उसकी औसत लागत के बराबर) होती है।

व्यक्तिगत फर्म का कीमत स्वीकारक होना और दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ ही कमा पाना पूर्ण-प्रतियोगिता की पहचान है।

पूर्ण प्रतियोगिता के लिए क्या शर्तें आवश्यक हैं? पूर्ण प्रतियोगिता के लिए पहली आवश्यक शर्त यह है कि कोई भी फर्म या उपभोक्ता अपने उत्पादन या खरीद में परिवर्तन के द्वारा बाजार की कीमत को तनिक भी प्रभावित करने में असमर्थ हो। एक फर्म के लिए इस शर्त का निहितार्थ है कि जितना भी उत्पादन करना उसके लिए तकनीकी दृष्टि से संभव है, उसे वह चालू बाजार कीमत को प्रभावित किए बिना बेच सकती है। अन्य शब्दों में व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र क्षितिजीय अर्थात् पूर्णतया लोचदार होता है जैसे कि नीचे रेखा चित्र 7.5 में दिखाया गया है।

कीमत स्वीकारकता का निहितार्थ है फर्म के मांग वक्र का पूर्णतया लोचदार होना।

रेखाचित्र 7.5



पूर्णतया लोचदार माँग का अर्थ है कि फर्म अपना सारा उत्पादन चालू बाजार कीमत को गिराए बिना बेच सकती है।

उपरोक्त रेखाचित्र में क्षितिजीय मांग वक्र DD यह दिखाता है कि फर्म चाहे OA मात्रा बेचे या OB (या OC या OL), वस्तु की कीमत (या औसत आय) OD पर ही स्थिर रहती है (OD=AE=BF=CH=LK)। इस प्रकार कोई भी उपभोक्ता चालू बाजार कीमत को प्रभावित किए बिना वस्तु की जितनी मात्रा चाहे खरीद सकते है अर्थात् उसके लिए वस्तु की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है। ऐसी बाजार स्थिति के लिए किन बातों का होना आवश्यक है? जरा सा विचार करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम यह मान्यता लेकर चलते हैं कि सभी उपभोक्ता तथा उत्पादक विवेकशील हैं, तो ऐसी बाजार स्थिति के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक होंगी :

(1) **क्रेताओं तथा विक्रेताओं की बहुत बड़ी संख्या :** बाजार में वस्तु के अनेक क्रेता तथा विक्रेता होने चाहिए जिससे कि कोई एक क्रेता या विक्रेता अपने व्यक्तिगत क्रय विक्रय में परिवर्तन के द्वारा बाजार कीमत को प्रभावित न कर सके। अपने देश में गेहूँ के अनेक उत्पादकों में से किसी एक किसान के अपने उत्पादन में परिवर्तन करने के परिणामस्वरूप बाजार कीमत पर पड़ने वाले प्रभावों की कल्पना कीजिए। क्या वह अपने उत्पादन में कमी या वृद्धि करके वस्तु की कीमत को प्रभावित कर सकता है? स्पष्ट है कि वह ऐसा करने में असमर्थ है क्योंकि देश में गेहूँ के कुल उत्पादन में उसका योगदान सागर में एक बूंद से अधिक नहीं है। वह देश में गेहूँ के कुल उत्पादन के इतने छोटे से भाग की पूर्ति करता है कि अपने उत्पादन में 20% या 30% की वृद्धि (जैसे कि उसके लिए सामान्यतः सम्भव हो सकती है) करके गेहूँ की चालू बाजार कीमत को तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकता। इसलिए उसे बाजार कीमत को एक दिए हुए तथ्य के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। किन्तु एक व्यक्तिगत फर्म के पूर्णतया लोचदार मांग वक्र का यह अर्थ नहीं है कि यदि फर्म किसी प्रकार अपने उत्पादन को एक हजार गुना बढ़ा सके, तब भी वह बाजार कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। इस सन्दर्भ में कीमत स्वीकारक होने का अर्थ केवल इतना है कि एक व्यक्तिगत फर्म अपने सीमित उत्पादन-क्षमता के कारण अपने उत्पादन में इतना बड़ा परिवर्तन नहीं कर सकती जो बाजार कीमत को प्रभावित कर सके।

(2) **वस्तु का समरूप होना :** व्यक्तिगत फर्मों तथा उपभोक्ताओं के कीमत स्वीकारक होने के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तु समरूप हो। इसका अर्थ यह है कि कोई भी उत्पादक वस्तु की वास्तविक या काल्पनिक गुणवत्ता के आधार पर उपभोक्ताओं को प्रभावित न कर सके। अन्य शब्दों में, कोई भी उत्पादक यह दावा न कर सके कि उसकी वस्तु किसी प्रकार से भी अन्य उत्पादकों द्वारा उत्पादित वस्तु से भिन्न है। इसी प्रकार उपभोक्ता भी विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं में किसी प्रकार का भेद न कर सके। उदाहरणतः गेहूँ का उत्पादन चाहे कोई भी करे, गेहूँ ही रहेगा। संक्षेप में, विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न होनी चाहिए।

(3) **बाजार का पूर्ण ज्ञान :** जब तक उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों को बाजार का पूर्ण ज्ञान न हो, उनकी विवेकशीलता की मान्यता का कोई अर्थ नहीं। उदाहरण के लिए, यदि क्रेताओं को विभिन्न विक्रेताओं की कीमतों के विषय में पता नहीं है तो वे सबसे

कम कीमत पर बेचने वाले विक्रेता से वस्तु नहीं खरीद पाएंगे। स्पष्ट है कि यदि क्रेताओं को बाजार का पूर्ण ज्ञान है तो वे वस्तु को मंहगा बेचने वाले विक्रेताओं को छोड़ कर सस्ता बेचने वाले विक्रेताओं से खरीदेंगे। विक्रेताओं की यही गतिशीलता पूरे बाजार में वस्तु की एक कीमत का होना निश्चित करती है।

दीर्घकाल में सामान्य लाभ

पूर्ण प्रतियोगिता के लिए दूसरी आवश्यक शर्तें यह हैं कि दीर्घकाल में वस्तु की कीमत उसकी औसत लागत के बराबर हो। इसके लिए निम्नलिखित बातों का होना अनिवार्य है :

1. **प्रवेश तथा निकाय की स्वतन्त्रता :** उद्योग में फर्मों के प्रवेश करने तथा वहाँ से निकलने पर किसी प्रकार का कोई कानूनी, तकनीकी या संस्थागत प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए जैसे कि वर्तमान फर्मों द्वारा किसी प्रकार के षड्यन्त्र की सम्भावना, कच्चे माल या किसी अन्य आवश्यक आदा पर एकाधिकार, किसी वस्तु अथवा उत्पादन-प्रक्रिया का पेटेन्ट प्राप्त होना, बड़े पैमाने पर उत्पादन के अधिक लाभों के कारण आवश्यक प्रारम्भिक निवेश के आकार का बड़ा होना आदि।
2. **उत्पादन साधनों की पूर्ति का पूर्णतया लोचदार होना :** पूर्ति के पूर्णतया लोचदार होने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन साधन कीमत प्रलोभन के प्रति पूर्णतया संवेदनशील हों। इसके लिए साधनों के स्वामियों को उपलब्ध विकल्पों का ज्ञान होना आवश्यक है जिसके बिना साधनों का पूर्णतया गतिशील होना सम्भव नहीं। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि साधन स्वामियों को भावी विकल्पों या उनसे प्राप्त पुरस्कारों में होने वाले परिवर्तनों का भी पूर्ण ज्ञान हो। उपरोक्त शर्तों के पूरा होने से यह निश्चित हो जाता है कि (क) व्यक्तिगत फर्में कीमत स्वीकारक हैं और (ख) दीर्घकाल में वे केवल सामान्य लाभ ही कमा पाती है, इससे अधिक नहीं। यह स्मरणीय है कि जिस लाभ को सामान्य कहा जाता है, वह स्थिर लागत के अंश के रूप में औसत लागत में ही शामिल होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का सीमांत आय वक्र

पूर्ण प्रतियोगिता में एक व्यक्तिगत फर्म का मांग वक्र (यानि कीमत वक्र या औसत आय वक्र) पूर्णतया लोचदार या क्षितिज अक्ष के सामानान्तर होता है। क्षितिजीय औसत आय वक्र का अर्थ है कि चालू बाजार कीमत पर फर्म जितना चाहे माल बेच सकती है। इस स्थिति में फर्म के सीमान्त आय वक्र की क्या प्रवृति होगी? यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जब फर्म के अधिक मात्रा बेचने पर भी औसत आय स्थिर रहती है तो सीमान्त आय भी उसके बराबर होती है। उदाहरणतः यदि कोई फर्म 25 रुपए की दर पर 100 इकाइयाँ भी बेच सकती है तो सीमान्त आय भी 25 रुपए ही होगी। इसका निहितार्थ यह हुआ कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का औसत आय वक्र ही उसका सीमान्त आय वक्र भी होता है। वास्तव में, फर्म का क्षितिजीय औसत तथा सीमान्त आय वक्र ही पूर्ण प्रतियोगिता को अन्य बाजार स्थितियों से अलग करता है।

पूर्णतया लोचदार AR व MR वक्र ही पूर्ण प्रतियोगिता का प्रमाण चिन्ह होता है।

(3) एकाधिकार

एकाधिकार भी पूर्ण प्रतियोगिता की तरह एक सैद्धान्तिक संरचना ही है। यह एक ऐसी काल्पनिक बाजार स्थिति का सूचक है जिसमें एक ऐसी वस्तु, जिसका कोई स्थानापन्न उपलब्ध नहीं है, की पूर्ती एक ही फर्म द्वारा की जाती हो और उद्योग में अन्य फर्मों को प्रवेश करने की स्वतन्त्रता नहीं होती। कुछ ऐसी बाधाएँ भी हो सकती हैं जिनके कारण फर्मों का उद्योग में प्रवेश करना बहुत कठिन या असम्भव हो जाए या फिर कानून के द्वारा भी प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

एकाधिकार फर्म एक ऐसी वस्तु की एकमात्र उत्पादक होती है जिसका कोई स्थानापन्न नहीं होता।

ये बाधाएँ कई प्रकार की हो सकती हैं। किन्हीं सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक कारणों से किसी उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश पर सरकार द्वारा कानूनी प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। उदाहरणतः देश की सुरक्षा के लिए उत्पादन करने वाले महत्त्वपूर्ण उद्योगों में निजी फर्मों को प्रायः प्रवेश नहीं करने दिया जाता। कई बार किसी वस्तु विशेष उत्पादन प्रक्रिया के लिए वर्तमान फर्मों को पेटेन्ट अधिकार देकर या किसी आवश्यक कच्चे माल पर एकाधिकार के माध्यम से नई फर्मों के प्रवेश पर नियन्त्रण किया जाता है। इसी उद्देश्य के लिए सरकार लाइसैंसिंग नीति का भी प्रयोग करती है। घरेलू बाजार में विदेशी उत्पादकों का प्रवेश कानून के द्वारा या आयात पर बहुत ऊँचे कर लगा कर नियंत्रित किया जाता है। कुछ क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययिताएँ इतनी अधिक हो सकती हैं कि

माँग की स्थिति को देखते हुए अधिक फर्मों को उद्योग में प्रवेश करने देना आर्थिक दृष्टि से उचित नहीं होता। यातायात, संचार, रेडियो व दूरदर्शन-प्रसारण, डाक-तार व्यवस्था, बिजली तथा जलपूर्ति आदि सार्वजनिक उपयोगिताएँ इसके कुछ उदाहरण हैं। कई बार प्रवेश पर कानूनी प्रतिबन्ध न होने पर भी कुछ तकनीकी कारणों से किसी उद्योग में प्लांट का न्यूनतम आकार इतना बड़ा हो सकता है कि वर्तमान माँग स्थिति नये प्रवेशकों को हतोत्साहित कर दे। यह भी हो सकता है कि अपने बड़े आकार के कारण किन्हीं फर्मों को कुछ ऐसे विशिष्ट लागत लाभ प्राप्त हों जो सामान्यतः नये प्रवेशकों को उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणतः नई फर्में किसी उद्योग विशेष में प्रवेश के लिए आवश्यक पूँजी एकत्रित करने में असमर्थ हो सकती हैं या फिर उन्हें पुरानी फर्मों के मुकाबले में अधिक ऊँची ब्याज दर पर वह राशि प्राप्त हो सकती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की तरह वास्तविक संसार में कोई शुद्ध एकाधिकार नहीं होता।

पूर्ण प्रतियोगिता की भांति एकाधिकार, जिस प्रकार कि उसे अर्थशास्त्र में परिभाषित किया गया है, केवल एक सैद्धान्तिक संरचना है जिसका प्रयोग आर्थिक विश्लेषण को सरल रखने के लिए किया जाता है। ऐसी किसी भी वस्तु की कल्पना करना कठिन है जिसका कोई भी कम या अधिक निकट स्थानापन्न उपलब्ध न हो। उदाहरणतः कोयला, डीजल, पेट्रोल, भाप आदि ऊर्जा के सभी वैकल्पित स्रोत बिजली के स्थानापन्न हैं। इसी प्रकार निजी टैक्सी व्यवस्था, बाईसिकलें, तांगे, स्कूटर आदि सार्वजनिक परिवहन के स्थानापन्न हैं। बुनियादी बात तो यह है कि विभिन्न वस्तुएँ इस अर्थ में एक दूसरे की कम या अधिक स्थानापन्न हैं कि उपभोक्ता अपनी सीमित आय में से ही इन वस्तुओं पर खर्च करता है। इसलिए संसार में शुद्ध एकाधिकार जैसा कि अर्थशास्त्रियों द्वारा इसे परिभाषित किया है, जैसी कोई बाजार स्थिति वास्तव में नहीं होती है। व्यावहारिक रूप से एकाधिकार उस बाजार स्थिति का सूचक है जिसमें एक ही उत्पादक किसी ऐसी वस्तु, जिसका कोई निकट स्थानापन्न उपलब्ध नहीं है, की लगभग पूरी बाजार मांग की पूर्ति करता हो। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि उस वस्तु की मांग की आड़ी लोच काफी कम होनी चाहिए। इस सबका निष्कर्ष यह निकलता है कि पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार का अंतर प्रकारात्मक नहीं, अपितु अंशात्मक है। वास्तविक बाजार स्थितियां इन दोनों के विभिन्न अंशों में मिश्रणों को प्रस्तुत करती हैं, न कि पूर्ण प्रतियोगिता व एकाधिकार के दो छोरों को।

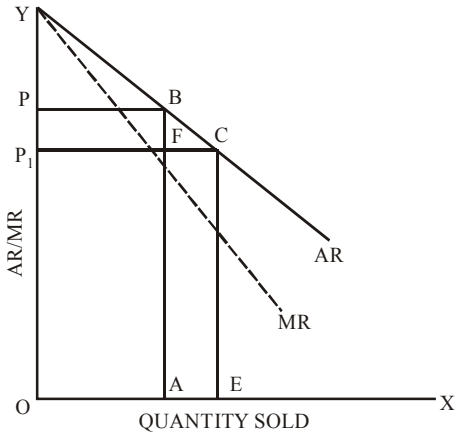
वास्तविक बाजार स्थितियों प्रतियोगिता और एकाधिकार के विभिन्न मात्राओं में मिश्रण होते हैं।

एकाधिकार में सीमाँत तथा औसत आय वक्र

एकाधिकार में एक ही फर्म किसी वस्तु का सारा उत्पादन करती है। इसलिए फर्म और उद्योग में कोई अन्तर नहीं होता। नीचे की ओर झुकता हुआ बाजार मांग वक्र ही एकाधिकारी फर्म का मांग वक्र होता है। नीचे की ओर झुकते हुए मांग व का अर्थ है कि वस्तु की अधिक मात्रा कीमत को कम करके ही बेची जा सकती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस स्थिति में सीमांत आय औसत आय (यानी कीमत) से सदा कम होगी। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक सरल उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए एकाधिकारी फर्म जब 100 इकाइयों की बजाय 101 इकाइयाँ प्रति समयावधि बेचती है तो बाजार कीमत 25 रुपए से गिर कर 24.90 रुपए हो जाती है। हालाँकि इस स्थिति में बाकी इकाइयों के साथ सीमान्त इकाई भी 24.90 रुपए पर बिकती है, परन्तु उत्पादकों को पहली 100 इकाइयों पर (जिन्हें वह 25 रुपए प्रति इकाई पर बेच सकता था) 10 पैसे प्रति इकाई की हानि उठानी पड़ती है। अतः उत्पादक की कुल आय में अतिरिक्त इकाई का वास्तविक योगदान (अर्थात् सीमान्त आय) अपनी कीमत और शेष इकाइयों पर उठाई गई हानि के अन्तर के बराबर होगी। इस प्रकार ऊपर दिए गए उदाहरण में 101वीं इकाई की सीमांत आय 14.90 रुपए ($24.90 - 100 \times 0.10 = 14.90$) होगी न कि 24.90 रुपए। यदि वक्रों के माध्यम से इस स्थिति को व्यक्त किया जाए तो एकाधिकारी फर्म का औसत आय (यानी कीमत) वक्र नीचे की ओर झुकता हुआ होगा तथा उससे सम्बद्ध सीमान्त आय वक्र उसके नीचे होगा जैसा कि रेखाचित्र 7.6 में दिखाया गया है।

वस्तु की नीचे की ओर झुकता हुआ बाजार मांग वक्र ही एकाधिकारी फर्म का AR वक्र होता है और MR उसके नीचे रहता है।

रेखाचित्र 7.6



एकाधिकारी OP कीमत पर वस्तु की OA मात्रा बेच सकता है किन्तु अधिक मात्रा (जैसे OE) बेचने के लिए उसे कीमत कम करनी पड़ती है (जैसे OP की बजाय OP_1)। जब व वस्तु की OA मात्रा बेचता है तो उसकी कुल आय OABP के क्षेत्रफल के बराबर होती है और जब वह OE मात्रा बेचता है तो कुल आय आयत $OECP_1$ के क्षेत्रफल के बराबर हो जाती है। उपरोक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि अतिरिक्त मात्रा का एकाधिकारी की कुल आय में योगदान (यर्थात् सीमान्त आय आयत AECF अर्थात् बेची हुई अतिरिक्त मात्रा X नई कीमत) तथा PP_1FB (अर्थात् पुरानी मात्रा X कीमत में कमी) के क्षेत्रफल के अन्तर के बराबर होगी। इसलिए एकाधिकारी फर्म का सीमान्त आय वक्र सदा उसके नीचे की ओर झुकते हुए औसत आय (या कीमत) वक्र के नीचे होगा।

MR = नई कम कीमत – पुरानी TR में कमी।

(3) अपूर्ण-प्रतियोगिता

अपूर्ण-प्रतियोगिता में बाजार की वे सभी स्थितियाँ शामिल हैं जिनमें एकाधिकार तथा प्रतियोगिता विभिन्न अंशों में मिश्रित होते हैं।

कारण :

1. **क्रेताओं/विक्रेताओं की कम संख्या।**
2. **वस्तु की गुणवत्ता में भेद,**
3. **पूर्ण ज्ञान न होना,**
4. **परिवहन लागतें,**
5. **जड़ता तथा अविवेक,**
6. **नाम का प्रभाव,**
7. **विज्ञापन, इत्यादि।**

पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार यद्यपि संसार की वास्तविकता से बहुत दूर है फिर भी विश्लेषण को सरल रखने के लिए सैद्धान्तिक संरचनाओं के रूप में इनका अपना महत्त्व है। सामान्यतः वास्तविक बाजार-परिस्थितियाँ विभिन्न अंशों में पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार का मिश्रण होती हैं। बाजार कीमत पर ऐसे व्यक्तिगत फर्म का कोई भी प्रभाव न होना (अर्थात् कीमत स्वीकारकता) और फर्मों को उद्योग में प्रवेश और निकास की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होना पूर्ण प्रतियोगिता की दो बुनियादी शर्तें हैं। इन दोनों शर्तों के पूरा होने के लिए जिन बातों का होना अनिवार्य है, उनका वर्णन हम ऊपर विस्तार 'पूर्वक कर चुके हैं। इनमें से एक भी शर्त या बात पूरी न होने की स्थिति में प्रतियोगिता अपूर्ण हो जाती है। उदाहरण के लिए ऐसा हो सकता है कि क्रेताओं या विक्रेताओं की संख्या कम होने के कारण एक व्यक्तिगत क्रेता या विक्रेता अपने क्रय या विक्रय में परिवर्तन के माध्यम से बाजार कीमत को प्रभावित कर सके। उत्पादकों की संख्या कम होने के कई कारण हो सकते हैं जैसे बड़े पैमाने की मितव्ययिताएँ, पुरानी फर्मों की उत्पादन लागत

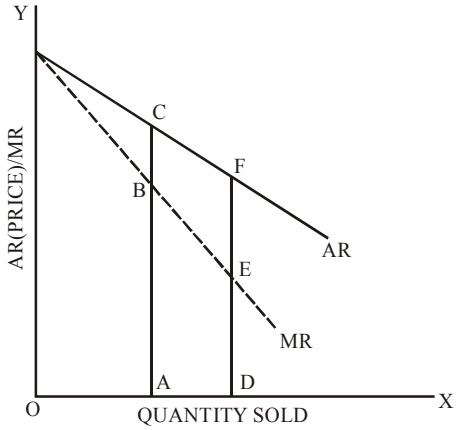
का अधिक होना, पूँजी की आवश्यक मात्रा एकत्रित करने में कठिनाई आदि। दूसरे, यह भी हो सकता है कि क्रेताओं की दृष्टि में विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ समरूप न हों। (अर्थात् इन वस्तुओं की गुणवत्ता में वास्तविक या काल्पनिक भेद हो)। तीसरे, यह भी सम्भव है कि क्रेताओं को विभिन्न विक्रेताओं की कीमतों का ज्ञान ही न हो, या ज्ञान तो हो, परन्तु परिवहन लागतों के कारण या जड़ता अथवा अविवेक अधिमानों के कारण विभिन्न क्रेता कीमतों में अन्तर के प्रति पूर्णतया संवेदनशील न हों। कई बार जड़ता और अज्ञान के आलावा भी क्रेताओं को दूसरे विक्रेताओं पर अधिमान दिए जाने के कई कारण भी होते हैं। किसी प्रसिद्ध नाम या ब्राँड के पीछे गुणवत्ता की गारण्टी, विभिन्न विक्रेताओं द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं में अन्तर, सेवा में स्फूर्ति, सेल्समैनों का सदव्यवहार, उधार की अवधि, वैयक्तिक रुचियों को महत्त्व, विज्ञापन आदि तत्त्व विभिन्न क्रेताओं को अलग-अलग तरीके से प्रभावित करते हैं। इस प्रकार प्रतियोगिता के अपूर्ण होने के अनेक कारण हो सकते हैं।

अपूर्ण प्रतियोगिता में औसत तथा सीमांत आय वक्र

अपूर्ण प्रतियोगिता की मुख्य विशेषता यह है कि एक व्यक्तिगत उत्पादक का अपनी वस्तु की बाजार कीमत पर नियन्त्रण होता है। किन्तु यह नियन्त्रण एकाधिकार में उत्पादक के कीमत पर नियन्त्रण से कम होता है। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्तिगत उत्पादक की वस्तु की किसी भी कीमत पर माँग लोच उस वस्तु की बाजार मांग की लोच से अधिक होती है। वैसे अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्मों को उद्योग में प्रवेश व निकास की पूर्ण स्वतन्त्रता की मान्यता की जाती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि अनेक कारणों से (जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है), फर्मों की संख्या इतनी अधिक नहीं होती कि एक व्यक्तिगत उत्पादक का कीमत पर तनिक भी नियन्त्रण न हो। इसलिए, एकाधिकार की तरह, अपूर्ण प्रतियोगिता में भी फर्म का औसत आय (अर्थात् कीमत) वक्र नीचे की ओर झुकता हुआ होता है और इसका सीमान्त आय वक्र औसत आय वक्र के नीचे होता है। किन्तु एकाधिकारी के औसत तथा सीमांत आय वक्रों की तुलना में अपूर्ण प्रतियोगी फर्म के वक्रों की ढलान कम होगी। इसका कारण यह है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म अपनी वस्तु की कीमत कम करके निश्चय ही अपनी प्रतिद्वन्दी फर्मों के कुछ ग्राहकों को आकर्षित करती है जबकि एकाधिकार की परिभाषा में ही यह निहित है कि एकाधिकार के प्रतिद्वंदी नहीं होते। अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्मों को उद्योग में प्रवेश व निकास की स्वतन्त्रता होने का निहितार्थ भी स्पष्ट है। दीर्घकाल में वस्तु की कीमत औसत (कुल) लागत के बराबर होगी तथा फर्में केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त करेगी। (आपको याद होगा कि सामान्य लाभ से हमारा अभिप्राय है प्रबंध का सामान्य पुरस्कार जो स्थिर लागत के एक अंश के रूप में औसत लागत में शामिल होता है।) नीचे दिए गए रेखाचित्र में एक अपूर्ण प्रतियोगी फर्म के औसत तथा सीमांत आय वक्र दिखाए गए हैं।

अपूर्ण-प्रतियोगिता में भी एकाधिकार की तरह के ही AR तथा MR वक्र होते हैं परन्तु उनका ढलान कम होता है।

रेखाचित्र 7.7



इस रेखाचित्र में औसत आय वक्र विभिन्न कीमतों पर फर्म द्वारा बेची जा सकने वाली वस्तु की विभिन्न मात्राएँ दिखाता है जबकि सीमांत आय वक्र यह दिखाता है कि एक अतिरिक्त इकाई बेचने से फर्म की कुल आय में क्या परिवर्तन होता है। उदाहरणतः उत्पादन की OA मात्रा AC कीमत (अथवा औसत आय) पर बेची जा सकती है जबकि इससे सम्बद्ध सीमांत आय केवल AB के बराबर

है। इसी प्रकार, उत्पादन की OD मात्रा बेचने के लिए कीमत के DF के बराबर करना पड़ता है जबकि सीमांत आय केवल DE होती है। अतः सीमान्त आय वक्र हर बिन्दु पर औसत आय वक्र के नीचे होता है।

SECTION – III

विभिन्न बाजार स्थितियों में फर्म का संतुलन

1

विषय प्रवेश

बाजार परिस्थिति चाहे जो भी हो, फर्म के सन्तुलन के लिए आवश्यक है;

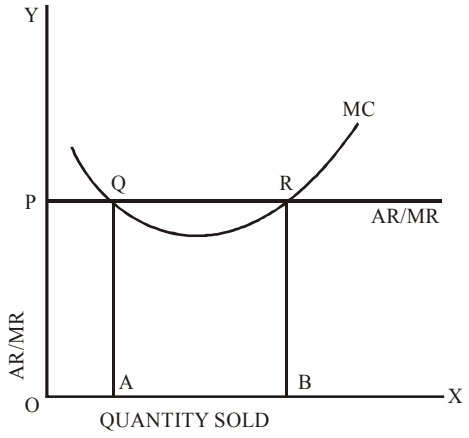
(1) MC = MR और

(2) समानता के बिन्दु के पश्चात् MC > MR।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादक का उद्देश्य, लागत तथा आय की दी हुई स्थितियों में, अधिकतम लाभ कमाना होता है। एक तरफ तो उत्पादन की एक अतिरिक्त इकाई को बेचने से उसे कुछ अतिरिक्त आय प्राप्त होती है। दूसरी ओर इस इकाई के उत्पादन से उसकी कुल लागत में भी कुछ वृद्धि होती है। अर्थशास्त्र की शब्दावली में एक अतिरिक्त इकाई की बिक्री से उत्पादक की कुल आय में होने वाली वृद्धि को ''सीमान्त आय'' तथा इस इकाई के उत्पादन से कुल लागत में होने वाली वृद्धि को ''सीमान्त लागत'' कहा जाता है। बाजार की संरचना अथवा विचाराधीन समयावधि चाहे कोई भी हो, यह निर्णय करने में एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन किया जाए या नहीं, एक विवेकशील उत्पादक सदा सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत की तुलना करेगा। यदि किसी अतिरिक्त इकाई की सीमांत आय उसकी सीमान्त लागत से अधिक है तो उसके उत्पादन से फर्म के लाभ में वृद्धि होगी। अतः सीमान्त आय के सीमान्त लागत से अधिक होने की स्थिति में फर्म अपना उत्पादन बढ़ाएगी। दूसरी ओर, यदि किसी इकाई की सीमान्त लागत उसकी सीमान्त आय से अधिक है, तो उस इकाई के उत्पादन से दोनों के अन्तर के बराबर लाभ में कमी होगी। अतः सीमान्त लागत के सीमान्त आय से अधिक होने की स्थिति में उत्पादन कम करने से उत्पादक का लाभ बढ़ेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन के उस स्तर पर फर्म को अधिकतम लाभ होगा जहां (1) सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर है तथा (2) उसके पश्चात् सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक हो जाती है।

यद्यपि सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत की समानता अधिकतम लाभ की एक आवश्यक शर्त है, किन्तु यह एक पर्याप्त शर्त नहीं है। यदि समानता के बिन्दु के पश्चात् सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक हो तो फर्म की प्रवृत्ति उत्पादन को बढ़ा कर लाभ में वृद्धि करने की होगी तथा सीमान्त आय व सीमान्त लागत की समानता के बिन्दु पर होने वाला संतुलन टिकाऊ नहीं होगा। इसे नीचे दिए गए रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र 7.8



MC > MR संतुलन की स्थिरता को निश्चित करती है।

इस रेखाचित्र में सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र (जो कि क्षितिज अक्ष के समानान्तर एक सरल रेखा है) को दो बिन्दुओं Q तथा R पर काटता है—अतः इन दोनों ही बिन्दुओं पर सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर है। किन्तु बिन्दु Q पर सीमान्त आय व सीमान्त लागत की समानता से लाभ अधिकतम नहीं होता क्योंकि इस बिन्दु के पश्चात् सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक हो जाती है जिसका अर्थ है फर्म यदि अपना उत्पादन बढ़ाए; तो उसके लाभ में वृद्धि होगी। इसलिए फर्म की प्रवृत्ति उत्पादन को उत्तरोत्तर बढ़ाने की होगी जब तक कि बिन्दु R पर सीमान्त आय फिर एक बार सीमान्त लागत के बराबर नहीं हो जाती। बहरहाल, बिन्दु R के पश्चात्, सीमांत लागत सीमांत आय से अधिक होने के कारण, यदि फर्म उत्पादन में वृद्धि करती है तो उसके लाभ में कमी होगी। अतः बिन्दु R पर होने वाला संतुलन टिकाऊ होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि फर्म के लिए निम्नलिखित तथा दोनों शर्तों का इकट्ठे पूरा होना आवश्यक है : (1) सीमान्त आय = सीमान्त लागत तथा (2) समानता के बिन्दु के पश्चात्, सीमांत लागत > सीमांत आय। एक बार फिर हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि चाहे कोई भी बाजार स्थिति हो अथवा हम किसी भी समयावधि पर विचार कर रहे हों, फर्म के संतुलन के लिए ऊपरलिखित दोनों शर्तें मूलभूत रूप से आवश्यक हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि सीमान्त आय व सीमांत लागत की समानता उत्पादन के संतुलन स्तर (अर्थात् जहां लाभ अधिकतम होता है) का निर्धारण करती है, किन्तु इससे हमें वस्तु की बाजार कीमत के विषय में कुछ पता नहीं चलता। सीमांत आय व सीमांत लागत की समानता द्वारा निर्धारित संतुलन उत्पादन स्तर पर कीमत का निर्धारण फर्म के मांग वक्र द्वारा होगा। अधिकतम लाभ की शर्तों की इस पृष्ठभूमि के साथ अब हम विभिन्न बाजार स्थितयों में, अल्पकाल व दीर्घकाल में, फर्म के संतुलन का अध्ययन कर सकते हैं।

MC तथा MR की समानता संतुलन निर्धारित करती है और उस बिन्दु पर AR वक्र कीमत को निर्धारित करता है।

2

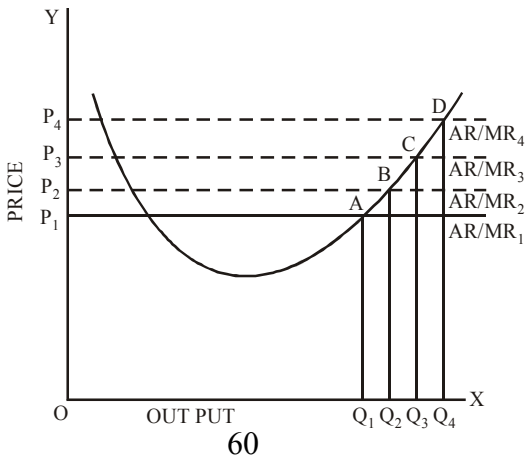
पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत-निर्धारण

फर्म का पूर्ति वक्र

जैसा कि पहले भी कह चुके हैं, पूर्ण प्रतियोगिता में एक व्यक्तिगत फर्म कीमत स्वीकारक होती है, न कि कीमत निर्धारक। यह अपने व्यवहार (अर्थात् उत्पादन-स्तर में कमी या वृद्धि) द्वारा वस्तु की बाजार कीमत को तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकती। वस्तु की बाजार कीमत का निर्धारण कुल माँग व कुल पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है। इसके परिणामस्वरूप, फर्म के सन्दर्भ में, वस्तु का पूर्णतया लोचदार मांग वक्र ही पूर्ण प्रतियोगिता की प्रमुख विशेषता है। इसके परिणामस्वरूप, फर्म की सीमांत आय सदा उसकी औसत आय के बराबर होती है तथा फर्म का क्षितिजीय औसत आय (अर्थात् मांग) वक्र ही उसका सीमान्त आय वक्र भी होता है। इसलिए सीमान्त आय व सीमांत लागत की समानता का अर्थ औसत आय (अर्थात् कीमत) तथा सीमांत लागत की समानता भी है। हम यह कह सकते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म अपने उत्पादन-स्तर का इस प्रकार समयोजन करती है कि उसकी सीमान्त लागत दी हुई बाजार कीमत के बराबर हो जाए। पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत व सीमान्त लागत की समानता को नीचे दिए गए रेखाचित्र की सहायता से और स्पष्ट किया जा सकता है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अंतर्गत फर्म केवल अपनी MC को दी हुई बाजार कीमत के बराबर करती है।

रेखाचित्र 7.9



ऊपर दिए गए रेखाचित्र 7.9 में, जब बाजार कीमत OP_1 है तो फर्म वस्तु की OQ_1 मात्रा का उत्पादन करती है जिससे इसकी सीमान्त लागत बिन्दु पर बाजार कीमत के बराबर हो जाती है। बाजार कीमत OP_2 हो जाने पर, फर्म अपना उत्पादन बढ़ा कर OQ_2 कर देती है तथा बिन्दु कीमत व सीमान्त लागत की समानता दर्शाते हैं। इसी प्रकार, बाजार कीमत के OP_3 व OP_4 होने पर फर्म वस्तु की क्रमशः OQ_3 तथा OQ_4 मात्राओं का उत्पादन करती है। निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है क्योंकि फर्म बाजार कीमत को प्रभावित करने में असमर्थ होती है, अतः वह केवल अपने उत्पादन स्तर का ही इस प्रकार समायोजन कर सकती है कि इसकी सीमान्त लागत चालू बाजार कीमत के बराबर हो।

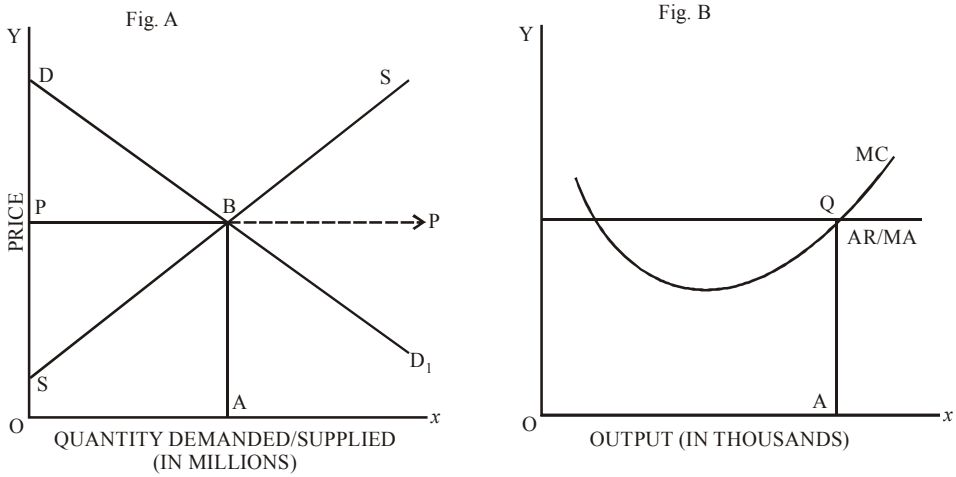
फर्म के AR/MR वक्र के क्षितिजीय होने के कारण, MC वक्र का ऊपर उठता हुआ भाग (उत्पादन बन्द बिन्दु के पश्चात्) ही उसका पूर्ति वक्र होता है।

फर्म की सीमान्त लागत तथा चालू बाजार कीमत की समानता से हम फर्म की पूर्ति वक्र प्राप्त कर सकते हैं। एक दी हुए कीमत पर फर्म वस्तु की कितनी मात्रा का उत्पादन तथा पूर्ति करती है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि फर्म का औसत तथा सीमान्त आय वक्र उसके सीमान्त लागत वक्र को किस बिन्दु पर काटता है। दूसरे शब्दों में, फर्म के सीमान्त लागत वक्र का ऊपर उठता हुआ भाग यह निर्धारित करता है कि विभिन्न कीमतों पर फर्म वस्तु की कितनी-कितनी मात्रा में पूर्ति करेगी। अतः सीमान्त लागत का ऊपर उठता हुआ भाग ही अल्पकाल में फर्म का पूर्ति वक्र है।

सभी व्यक्तिगत फर्मों के पूर्ति (अर्थात् सीमान्त लागत) वक्रों का क्षितिजीय जोड़ ही अल्पकाल में वस्तु का बाजार पूर्ति वक्र होता है। क्योंकि फर्म की पूर्ति (अर्थात् सीमान्त लागत) वक्र ऊपर की ओर उठते हुए होते हैं, अतः किसी वस्तु का बाजार पूर्ति वक्र भी ऊपर की ओर उठता हुआ ही होगा। वस्तु की बाजार कीमत वहीं निर्धारित होगी जहां वस्तु की बाजार मांग व बाजार पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटेंगे जैसा कि नीचे दिए गए रेखाचित्र में दिखाया गया है।

सभी फर्मों के पूर्ति वक्रों (सीमांत लागत वक्रों) का क्षितिजीय जोड़ ही अल्पकाल में बाजार पूर्ति वक्र होता है।

रेखाचित्र 7.10



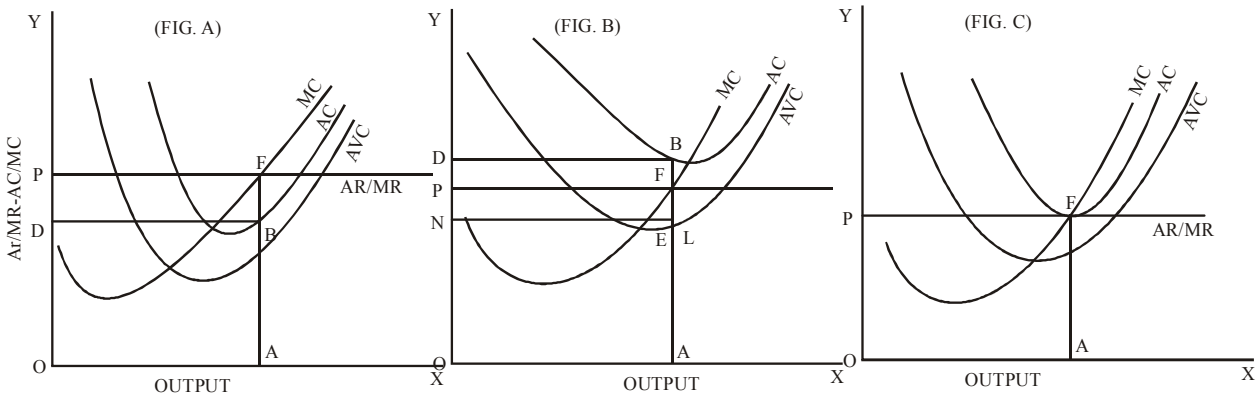
चित्र A में SS_1 वस्तु का बाजार पूर्ति वक्र (अर्थात् सभी फर्मों के पूर्ति अथवा सीमान्त लागत वक्रों का क्षितिजीय योग) है तथा DD_1 उसका बाजार मांग वक्र है। दोनों वक्र बिन्दु B पर मिलते हैं जहां सन्तुलन कीमत OP(=BA) का निर्धारण होता है। इस कीमत पर वस्तु की बाजार में मांगी गई मात्रा उसकी पूर्ति के बराबर (दोनों OA के बराबर है) होती है। यह निर्धारित कीमत व्यक्तिगत फर्मों के लिए एक दिया हुआ तथ्य बन जाता है जिसे उन्हें स्वीकार करता पड़ता है तथा जिसे वे अपनी क्रियाओं द्वारा प्रभावित नहीं कर सकती। फर्में केवल अपने उत्पादन स्तर का इस प्रकार समायोजन करती हैं कि उनकी सीमान्त लागत दी हुई बाजार कीमत के बराबर हो जाए जैसा कि चित्र B में दिखाया गया है। फर्म वस्तु की OA मात्रा का उत्पादन करती है क्योंकि बिन्दु Q पर सीमान्त लागत तथा बाजार कीमत एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं। लागत तथा मांग की दी हुई स्थिति में OA ही फर्म के लिए उत्पादन का वह स्तर है जहां उसका लाभ अधिकतम होता है।

बाजार मांग वक्र तथा बाजार पूर्ति वक्र का कटान बिन्दु बाजार कीमत निर्धारित करता है।

अल्पकालीन सन्तुलन

यदि फर्म का औसत तथा सीमान्त आय वक्र क्षितिजीय हो तथा औसत व सीमान्त लागत 'U' आकार के हों (जैसा कि सामान्यतः होता है) तो फर्म का सन्तुलन उस बिन्दु पर होगा जहाँ क्षितिजीय औसत तथा सीमान्त आय वक्र सीमान्त लागत वक्र के ऊपर उठते हुए भाग को काटता है। इसमें शर्त यह है कि सन्तुलन तभी होगा जब औसत तथा सीमान्त आय वक्र सीमान्त लागतवक्र को "उत्पादन" बिन्दु के ऊपर काटेगा। इसे नीचे दिए गए रेखाचित्र में स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र 7.11



ऊपर दिए गए तीनों चित्र पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के सन्तुलन की तीन सम्भव अवस्थाओं को दिखाते हैं। तीनों अवस्थाओं में, सन्तुलन वहीं होता है जहाँ क्षितिजीय औसत तथा सीमांत आय वक्र सीमांत लागत वक्र के ऊपर उठते हुए भाग को काटता है। चित्र A में फर्म का सन्तुलन ऐसा है कि वह असामान्य लाभ प्राप्त करती है जबकि दी हुई बाजार कीमत (जिसका सूचक औसत तथा सीमान्त आय वक्र) AF के बराबर है, औसत लागत केवल AB है जिसके परिणामस्वरूप फर्म को हर उत्पादित इकाई के पीछे BF के बराबर असामान्य लाभ प्राप्त होता है। फर्म का कुल असामान्य लाभ आयत PFBD के क्षेत्रफल के बराबर है। इसके विपरित चित्र B में सन्तुलन की ऐसी व्यवस्था दिखाई गई है जिसमें फर्म को PDBF के क्षेत्रफल के बराबर हानि होती है क्योंकि कीमत (=OP=AF) औसत लागत (AB) से कम है। प्रति उत्पादित इकाई फर्म को BF हानि होती है। चित्र C एक ऐसी सन्तुलन अवस्था का चित्रण करता है जिसमें फर्म को न तो असामान्य लाभ प्राप्त होता है और न हानि ही होती है। ऐसी स्थिति में, औसत तथा सीमान्त आय वक्र औसत लागत वक्र को बिन्दु F पर स्पर्श करता है तथा कीमत लागत के बिल्कुल बराबर होती है।

यह बिन्दु जहाँ MC वक्र का ऊपर उठता हुआ भाग (उत्पादन बिन्दु के बाद) क्षितिजीय AR/MC वक्र को काटता है, फर्म का सन्तुलन निर्धारित करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि फर्म अल्पकाल में कई बार हानि उठा कर भी वस्तु का उत्पादन क्यों करती है (जैसा कि ऊपर चित्र B में दिखाया गया है)? इसका कारण यही है कि ऐसा करके फर्म अपनी हानि को न्यूनतम करती है क्योंकि उत्पादन बन्द करके उसे अधिक हानि होती। यदि फर्म उत्पादन पूर्णतया बन्द कर दे, तो उसे कितनी हानि होगी? दी हुई लागत कीमत की स्थिति में, यदि फर्म उत्पादन करना बन्द कर देती है, तो उसे पूरी स्थिर लागत के बराबर हानि उठानी पड़ती है। यद्यपि यह सच है कि वस्तु की कीमत में से उसकी कुल औसत लागत (अर्थात् परिवर्ती लागत तथा औसत स्थिर लागत का जोड़) नहीं निकलती, फिर भी उनमें से पूरी औसत परिवर्ती लागत तथा औसत स्थिर लागत का एक अंश तो निकलता ही है। ऊपर दिए गए चित्र B में AF कीमत पर AL औसत परिवर्ती लागत के साथ-साथ औसत स्थिर लागत का LF भाग भी निकल आता है। औसत स्थिर लागत का जो भाग कीमत में से नहीं निकलता वह BF के बराबर है। ऐसी स्थिति में वस्तु की OA मात्रा का उत्पादन करके फर्म वास्तव में अपनी हानि को कम करती है जो उत्पादन पूर्णतया बन्द करने की स्थिति में कुल स्थिर लागत के बराबर होती।

अल्पकाल में असाधारण लाभ या हानि के साथ फर्म का सन्तुलन सम्भव है।

दीर्घकालीन सन्तुलन

दीर्घकाल में फर्म साधनों के इष्टतम संयोग तथा उद्योग के चयन के लिए स्वतन्त्र होती है।

फर्मों को उद्योग में प्रवेश तथा निकास की स्वतन्त्रता पूर्ण प्रतियोगिता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इसलिए असाधारण लाभ या हानि वाली सन्तुलन स्थितियों, जैसा कि ऊपर रेखाचित्र 7.11 (A और B) में दिखाई गई हैं, अल्पकाल में तो बनी रह सकती हैं परन्तु दीर्घकाल में नहीं। अल्पकाल वह समयावधि होती है जो फर्म की उत्पादन क्षमता में इच्छित परिवर्तन करने के लिए अपर्याप्त होती है। अल्पकाल में फर्में अपनी दी हुई उत्पादन क्षमता का कम या अधिक सघन प्रयोग करके (अर्थात् अपने दिए हुए स्थिर साधनों के साथ कम या अधिक परिवर्ती साधनों का प्रयोग करके) ही अपने उत्पादन स्तर में परिवर्तन कर सकती है परन्तुअपनी दी हुई उत्पादन क्षमता में कोई परिवर्तन नहीं कर सकतीं। उन्हीं कारणों से नई फर्में भी उद्योग में प्रवेश नहीं कर सकती। दीर्घकालीन वह समयावधि होता है जो सभी साधनों की मात्राओं में आवश्यकतानुसार परिवर्तन के लिए पर्याप्त होती है। दीर्घकाल में फर्म इष्टतम साधन संयोगों का चयन करने या भविष्य में उचित लाभ की आशा न होने की स्थिति में उद्योग को छोड़ देने के लिए स्वतन्त्र होती है (अर्थात् अपनी अल्पकालीन प्रतिबद्धताओं से मुक्त होती है और इसी प्रकार भविष्य में अच्छा लाभ प्राप्त होने की आशा की स्थिति में नई फर्में भी उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं)। इस प्रकार दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनीय होते हैं। ऐसे किसी साधन की कल्पना करना कठिन है जिसकी मात्रा में पर्याप्त समयावधि में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन न किया जा सके। बहरहाल, दीर्घकाल कोई निश्चित समयावधि नहीं होती जो सभी उद्योगों के लिए समान हो। उदाहरणतः जबकि इस्पात उद्योग के लिए दीर्घकाल का अर्थ कुछ वर्ष हो सकता है, मछेरों के लिए दीर्घकाल का अर्थ केवल कुछ महीने हो सकता है क्योंकि मछली उद्योग में कोई विशेष चिरस्थाई पूंजीगत वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। एक बार चिरस्थाई पूंजीगत वस्तुओं तथा अन्य स्थिर साधयनों में पूंजी प्रतिबद्ध कर देने के पश्चात् एक फर्म की वैकल्पिक उत्पादन सम्भावनाओं में चयन करने की स्वतन्त्रता इन्हीं स्थिर साधनों द्वारा निर्धारित होती है।

दीर्घकाल में हानि उद्योग को छोड़ने के लिए असाधारण लाभ नई फर्मों के प्रवेश को प्रेरित करते हैं।

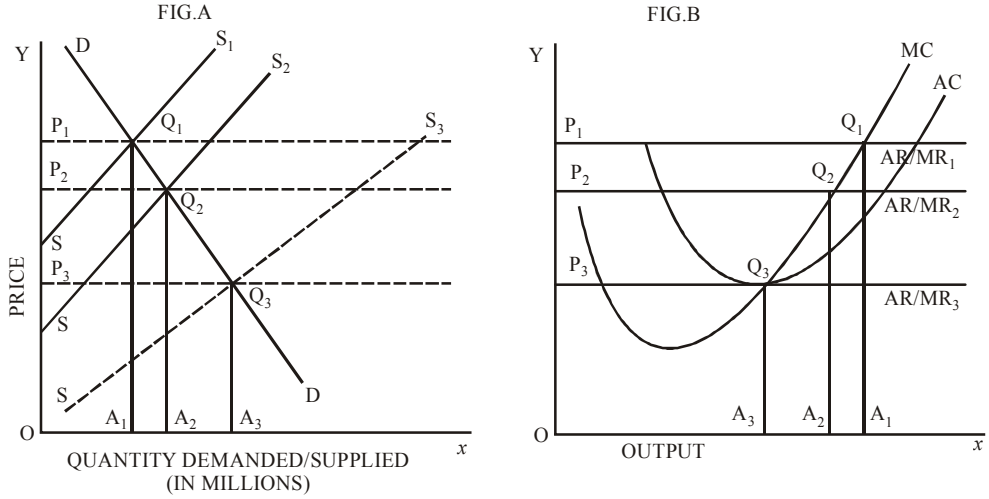
जब एक फर्म किसी उद्योग विशेष का चयन करती है तथा स्थिर साधनों की मात्रा (अर्थात् प्लांट का आकार) उसउद्योग में निश्चित करती है तो उस उद्योग में कम से कम इतना लाभ कमाने की आशा होती है जितनी वह किसी अन्य उद्योग में कमा सकती है। लाभ की उस मात्रा को जो कि कोई फर्म सामान्यतः अन्य किसी उद्योग में कमा सकती है को सामान्य लाभ कहा जाता है। यह लाभ स्थिर लागत के एक अंश के रूप में औसत लागत में शामिल होता है। बहरहाल यह स्थिति इस समय की है जबकि एक फर्म अपनी दीर्घकालीन योजना बनाती है। वास्तव में फर्म की प्रत्याशाएँ पूरी होती हैं या नहीं यह आर्थिक परिवर्तियों के भावी व्यवहार पर निर्भर करता है। यदि किसी उद्योग में फर्में सामान्य लाभ भी नहीं कमा पातीं और दीर्घकाल में भी ऐसी स्थिति में बने रहने की आशा है, तो फर्में अपने निर्णयों पर पुनर्विचार करेंगी अपनी नई प्रत्याशाओं के आधार पर उस उद्योग को छोड़ देने या अपने प्लांट के आकार में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने का निर्णय कर सकती हैं। दूसरी ओर, यदि उद्योग में फर्में असाधारण लाभकमा रही हैं और दीर्घकाल में भी ऐसी ही स्थिति के बने रहने की आशा करती हैं, तो वे अपनी दीर्घकालीन प्रत्याशाओं के अनुसार अपनी साज-सज्जा के आकार में परिवर्तन करेंगी। इस कारण नई फर्में भी उद्योग में प्रवेश के लिए प्रेरित होंगी। संक्षेप में, दीर्घकाल में असाधारण लाभ कमाने की प्रत्याशाएँ नई फर्मों को उद्योग में प्रवेश के लिए तथा पुरानी फर्मों को अपनी साज-सज्जा के आकार में वृद्धि करने के लिए प्रेरित करेंगी। इसके परिणामस्वरूप वस्तु के कुल उत्पादन में वृद्धि के कारण उसकी बाजार कीमत नीचे गिरेगी और इस प्रकार उद्योग में असाधारण लाभ कम हो जाएंगे। उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश तथा पुरानी फर्मों द्वारा अपनी साज-सज्जा के विस्तार की यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि वस्तु के कुल उत्पादन में इतनी वृद्धि नहीं हो जाती कि वस्तु की बाजार कीमत को गिराकर उसकी औसत लागत के बराबर न कर दें। जब वस्तु की कीमत औसत लागत के बराबर हो जाती है तो असाधारण लाभ समाप्त हो जाता है तथा फर्में केवल सामान्य लाभ कमा पाती हैं जो कि औसत लागत में शामिल होते हैं। जब उद्योग में फर्में केवल सामान्य लाभ ही कमा पाती हैं तो नई फर्मों के उद्योगों में प्रवेश के लिए या पुरानी फर्मों द्वारा अपनी साज-सज्जा के विस्तार के लिए कोई प्रेरणा नहीं रह जाती और इस प्रकार यह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में, फर्मों की संख्या तथा उनकी साज-सज्जा के रूप में उद्योग की कुल उत्पादन क्षमता की प्रवृत्ति न घटने की होती है और बढ़ने की, जब उद्योग में कुल उत्पादन क्षमता की प्रवृत्ति न घटने की होती है और न बढ़ने की, तो फर्मों तथा उद्योग को उनके दीर्घकालीन संतुलन में कहा जाता है।

जब उद्योग में लाभ सामान्य होते है तो नई फर्मों के प्रवेश या पुरानी फर्मों के निकास के लिए कोई प्रेरणा नहीं रह जाती।

दूसरी ओर, जब किसी उद्योग में फर्में सामान्य लाभ भी नहीं कमा पाती और इस स्थिति के दीर्घकालीन में बने रहने की आशा करती हैं, तो उद्योग से फर्मों के निकास तथा दी हुई साज-सज्जा में संकुचन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। उद्योग में हानि की स्थिति में कुछ फर्में उद्योग को छोड़ देती हैं और शेष अपनी दी हुई साज-सज्जा को नई प्रत्याशाओं के अनुसार व्यवस्थित करना आरम्भ कर देती हैं। परिणामस्वरूप वस्तु का कुल उत्पादन घटता है और इसकी बाजार कीमत में वृद्धि होने लगती है। जब कीमत में वृद्धि होती है तो उद्योग में अन्य फर्मों की हानि कम होने लगती है। उद्योग में फर्मों के निकास तथा शेष फर्मों की हानि कम होने लगती है। उद्योग से फर्मों के निकास तथा शेष फर्मों द्वारा अपनी साज-सज्जा के संकुचन की यह प्रक्रिया तब समाप्त होती है जब वस्तु के कुल उत्पादन में कमी के कारण बाजार कीमत औसत लागत के बराबर हो जाती है। जब वस्तु की कीमत उसकी औसत लागत के बराबर होती है तो उद्योग में बची फर्में साधारण लाभ कमाने लगती हैं और फर्मों के इस उद्योग को छोड़ने या अपनी साज-सज्जा के संकुचन के लिए कोई प्रेरणा बाकी नहीं रह जाती। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग में फर्मों के प्रवेश तथा निकास की स्वतन्त्रता दीर्घकाल में वस्तु की कीमत और उसकी औसत लागत की समानता की गारण्टी करती हैं।

उद्योग में असाधारण लाभ की स्थिति में नई फर्मों में प्रवेश तथा पुरानी फर्मों द्वारा अपनी साज-सज्जा के विस्तार की प्रक्रिया द्वारा किस प्रकार फर्मों तथा उद्योग का दीर्घकाल संतुलन स्थापित होता है यह नीचे रेखाचित्र 7.12 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 7.12



असामान्य लाभ की स्थिति में जब नई फर्में उद्योग में प्रवेश करती हैं तो वस्तु का उत्पादन बढ़ता है और उसके फलस्वरूप कीमत नीचे गिरती है तथा असामान्य लाभ कम होता जाता है।

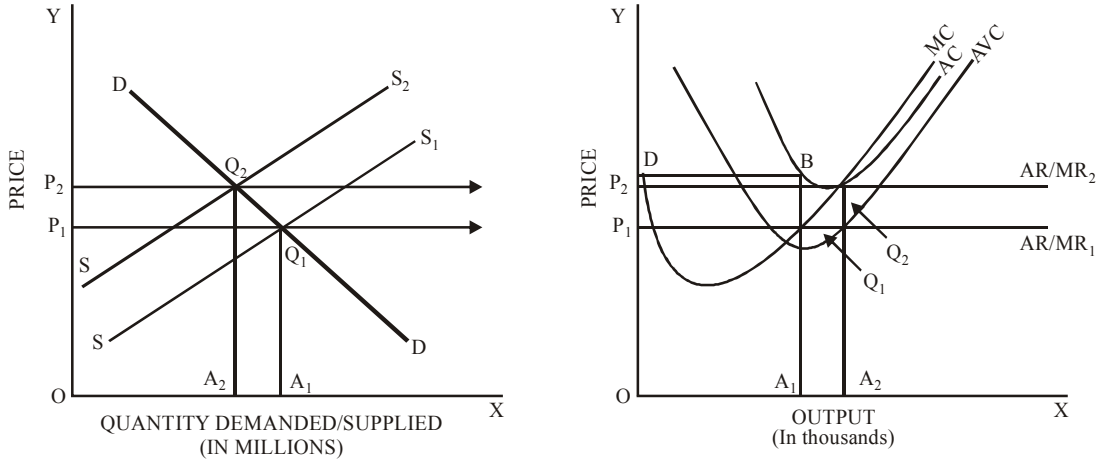
अन्ततः फर्मों के क्षितिजीय AR/MR वक्र 'U' आकृति के AC के निम्नतम बिन्दु पर स्पर्शी हो जाते हैं।

रेखाचित्र 7.12 A वस्तु की बाजार मांग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा कीमत निर्धारण प्रक्रिया को दिखाता है जबकि रेखाचित्र 7.12 B एक व्यक्तिगत फर्म की स्थिति दर्शाता है। वस्तु की बाजार कीमत OP_1 होने की स्थिति में एक व्यक्तिगत फर्म (जैसा कि रेखाचित्र 7.12 B में दिखाया गया है) असाधारण लाभ कमाती है क्योंकि वस्तु की औसत लागत उसकी कीमत से कम है। इस स्थिति में उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश तथा पुरानी फर्मों द्वारा साज-सज्जा के विस्तार करने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप वस्तु के कुल उत्पादन में वृद्धि होती है। वस्तु के कुल उत्पादन में वृद्धि के कारण उसका बाजार पूर्ति वक्र SS_1 (जैसा कि रेखाचित्र 7.12 A में दिखाया गया है) अपने दाईं ओर स्थानांतरित होकर SS_2 बन जाता है। बाजार पूर्ति वक्र SS_2 बाजार मांग वक्र DD को Q_2 पर काटता है और इस प्रकार वस्तु की नई साम्य कीमत OP_2 तथा साम्य मात्रा OA_2 को स्थापित करता है। जब वस्तु की बाजार कीमत इस प्रकार OP_1 से गिरकर OP_2 होती है तो उसके परिणामस्वरूप फर्म का क्षितिजय AR/MR_1 वक्र (जैसाकि रेखाचित्र 7.12 B में दिखाया गया है) अपने समानांतर नीचे की ओर स्थानांतरित होकर AR/MR_2 बन जाता है जो MC वक्र को बिन्दु Q_2

पर काटता है। बिन्दु Q_2 पर संतुलन की स्थिति में भी फर्म असाधारण लाभ कमाती है क्योंकि इस स्थिति में भी वस्तु की बाजार कीमत (=OP_2) उसकी औसत लागत से अधिक है। उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश (और इसके साथ-साथ पुरानी फर्मों द्वारा अपनी साज-सज्जा के विस्तार) की यह प्रक्रिया तब समाप्त होती है जबकि वस्तु के कुल उत्पादन में इतनी वृद्धि (अर्थात् बाजार पूर्ति वक्र दाईं ओर स्थानांतरण) हो जाती है कि बाजार कीमत गिरकर औसत लागत के बराबर हो जाती है। रेखाचित्र 7.12 A में जब बाजार पूर्ति वक्र दाईं ओर स्थानांतरित होकर SS_3 हो जाती है तो वस्तु की बाजार कीमत गिरकर OP_3 हो जाती है। OP_3 कीमत के अनुरूप रेखाचित्र B में फर्म का क्षितिजीय वक्र AR/MR_3 हो जाता है जो 'U' आकृति के औसत लागत वक्र AC को बिन्दु पर Q_3 स्पर्श करता है। बिन्दु Q_3 पर वस्तु की औसत कीमत उसकी सीमांत लागत तथा औसत लागत दोनों के बराबर है। जब कीमत औसत लागत के बराबर हो जाती है तो फर्मों को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होते हैं और इस स्थिति में उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश या पुरानी फर्मों द्वारा अपनी साज-सज्जा में विस्तार करने के लिए कोई प्रेरणा शेष नहीं रह जाती और परिवर्तन की यह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। व्यक्तिगत फर्में तब दीर्घकालीन संतुलन में होती हैं जब सामान्य लाभ ही कमा पाती हैं अर्थात् जब वस्तु की कीमत उसकी औसत लागत के बराबर होती हैं। जब उद्योग में फर्में केवल सामान्य लाभ ही कमा पाती है तो नई फर्मों के उस उद्योग में प्रवेश या पुरानी फर्मों के निकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती तो उद्योग दीर्घकालीन सन्तुलन में कहा जाता है।

हानि की स्थिति में उद्योग से पूंजी के निकास के माध्यम से किस प्रकार फर्मों तथा पूरे उद्योग का दीर्घकालीन सन्तुलन स्थापित होता है वह नीचे रेखाचित्र 7.13 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 7.13



हानि की स्थिति में जब कुछ फर्मों का उद्योग से निकास होता है जो बाकी फर्मों के AR/MR वक्र ऊपर उठते हैं और अन्त में AC के साथ स्पर्शी हो जाते हैं।

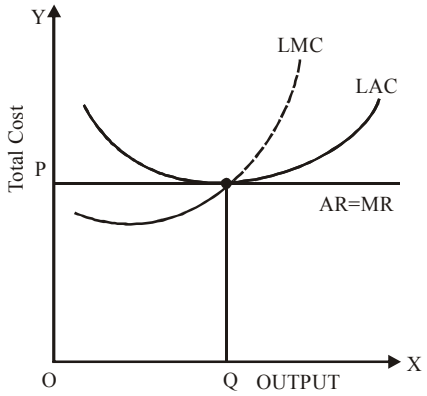
मान लीजिए अल्पकाल में वस्तु की कीमत OP_1 होने के कारण फर्म (रेखाचित्र 7.13 B) में बिन्दु Q_1 पर संतुलन में होती है और हानि उठानी है क्योंकि कीमत (=A_1Q_1) वस्तु की औसत लागत (=A_1B) से कम है। इस स्थिति में कुछ फर्में उद्योग को छोड़ना आरम्भ कर देती हैं जिसके परिणामस्वरूप वस्तु का कुल उत्पादन कम हो जाता है। वस्तु के कुल उत्पादन में कमी होने के कारण बाजार पूर्ति वक्र SS_1 (चित्र A में) बाईं और स्थानांतरित हो जाता है। बाजार माँग पूर्ववत् रहते हुए, बाजार पूर्ति वक्र के बाईं ओर स्थानान्तरण के कारण वस्तु की कीमत पहले से बढ़ जाती है। वस्तु की कीमत में वृद्धि के कारण फर्मों के क्षितिजीय AR/MR वक्र अपने समानान्तर ऊपर उठ जाते हैं और इस प्रकार फर्मों की हानियां कम हो जाती हैं। अन्ततः उद्योग से फर्मों के निकास तथा शेष फर्मों द्वारा अपनी साज-सज्जा के संकुचन की यह प्रक्रिया तब समाप्त होती है जबकि वस्तु की कीमत बढ़कर उसकी औसत लागत के बराबर हो जाती है और इस प्रकार उद्योग में बची फर्में फिर से सामान्य लाभ कमाने लगती हैं। चित्र A में जब उद्योग से फर्मों के निकास के कारण बाजार पूर्ति वक्र बाईं ओर स्थानांतरित होकर SS_2 होकर OP_2 कीमत स्थापित करता है तो (चित्र B में) फर्म का क्षितिजीय AR/MR_2 वक्र 'U' आकृति के औसत लागत वक्र के साथ उसके निम्नतम बिन्दु Q_2 पर स्पर्शी हो जाता है। बिन्दु Q_2 पर कीमत औसत

लागत के बराबर है तथा फर्म केवल सामान्य लाभ कमाती है। जब उद्योग में बची फर्में सामान्य लाभ कमाती हैं तो वे अपनी दीर्घकालीन संतुलन में कही जाती हैं। ऐसी स्थिति में उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश या पुरानी फर्मों के निकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। जब यह स्थिति होती है तो पूरे उद्योग की दीर्घकालीन सन्तुलन में कहा जाता है। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सन्तुलन में वस्तु की कीमत उसकी न्यनूतम औसत लागत के बराबर होती है।

दीर्घकालीन पूर्ति वक्र

(Long run supply curve)

(i) फर्म की दीर्घकालीन वक्र **(Long run supply curve of a firm)** — दीर्घकालीन समय अवधि में एक फर्म सभी साधनों में परिवर्तन करके आवश्यकतानुसार पूर्ति को घटा-बढ़ा सकती है। दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। इस अवस्था में सीमान्त लागत, सीमान्त आय और औसत आय (कीमत) भी न्यूनतम औसत लागत के बराबर होगी। यानि LMC = MR = LAC = AR। दीर्घकाल में फर्म केवल न्यूनतम औसत लागत पर ही उत्पादन करेगी तथा सामान्य लाभ (Normal profit) प्राप्त होंगे। किसी भी फर्म का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र सीमान्त लागत वक्र का वह भाग है जो न्यूनतम औसत लागत अर्थात् इष्टतम उत्पादन बिन्दु से शुरू होता है। Long run supply curve of firm is that portion of its marginal cost curve that lies above the minimum point of its average cost curve.



(ii) उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (Long run supply curve of an Industry) — एक उद्योग का पूर्ति वक्र फर्मों का दीर्घकालीन पूर्ति से ही निर्धारित होता है। **लेकिन उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र अल्पकाल की तरह फर्मों के पूर्ति वक्रों का समस्तर जोड़ (lateral summation)** नहीं होता है। इसके मुख्य दो कारण हैं–

(i) दीर्घकाल में, उद्योग में फर्मों का प्रवेश तथा छोड़ना जारी रहता है।

(ii) फर्मों को पैमाने की बचतें, प्राप्त होती हैं या हानियाँ (economies and diseconomies) उठानी पड़ती हैं। इसी कारण फर्मों की दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (LMC) अपने स्थान से हिल जाती है। इन्हीं कारणों से उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्रों का समस्तर जोड़ नहीं होता है। अतः उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र एक फर्म के दीर्घकालीन इष्टतम उत्पादन (Long run optimal production) तथा उद्योग में फर्मों की संख्या (N) को गुणा करके प्राप्त किया जाता है।

SL = Q X N

SL = उद्योग की दीर्घकालीन पूर्ति

Q = फर्म का इष्टतम उत्पादन

N = फर्मों की संख्या

प्रतियोगी उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र के निर्माण के लिए हमको तीन प्रकार की लागत दशाओं में भेद करना होगा :

(अ) स्थिर लागत और पूर्ति वक्र

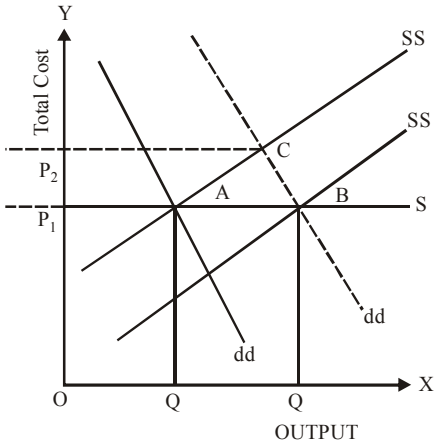
(ब) बढ़ती लागत और पूर्ति वक्र तथा

(स) घटती लागत और पूर्ति वक्र।

(अ) स्थिर लागत उद्योग (constant cost industry) तथा पूर्ति वक्र एक उद्योग को उस स्थिति में स्थिर लागत उद्योग कहा जाता है तब नयी फर्मों के प्रवेश के बाद उद्योग का उत्पादन बढ़ने पर साधन कीमतें परिवर्तित नहीं होती। अर्थात् उत्पादन में बढ़ने या कम होने पर औसत लागत और कीमत में परिवर्तन नहीं होता।

ऐसा तब संभव है जबकि उत्पादन में अकुशल श्रमिक एक प्रमुख साधन हो और श्रम की मांग बढ़ने पर अकुशल श्रमिकों की बाजार मजदूरी अप्रभावित रहे। अतः स्थिर लागत उद्योग का पूर्ति वक्र सीधी समस्तर रेखा (Horizontal straight line) होती है।

स्थिर लागत की अवस्था में उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र को चित्र में दर्शाया गया है।



चित्र में उद्योग का साम्य बिन्दु A है। साम्य बिन्दु पर उद्योग OP_1 प्रति इकाई कीमत पर OQ मात्रा की पूर्ति करता है।

एक प्रतिनिधि फर्म OP_1 कीमत पर OQ_1 मात्रा का उत्पादन करती है।

मान लीजिए, उद्योग का माँग वक्र dd_1 से खिसक कर dd_2 हो जाता है। SS_1 पूर्ति पर नयी कीमत OP_2 होगी, जिसे बिन्दु C से दर्शाया गया है।

बाजार कीमत में वृद्धि की प्रतिक्रिया में लाभ अधिकतम बनाने वाली फर्म OQ_2 मात्रा का उत्पादन लगेगी, जो कि नये साम्य बिन्दु के अनुरूप है।

यदि प्रत्येक फर्म इसी प्रकार की प्रतिक्रिया दिखाती है, तो अल्पकालीन साम्य की अवस्था में फर्म को धनात्मक लाभे होंगे। इन लाभों से निवेशकर्ता प्रेरित होकर विद्यमान फर्मों के उत्पादन के विचार तथा नयी फर्मों के बाजार में प्रवेश में सहयोग देंगे।

उद्योग का पूर्ति वक्र SS_1 से खिसक कर SS_2 हो जाएगा, तथा नया साम्य बिन्दु B होगा, जहाँ वक्र dd_2 पूर्ति वक्र SS_2 को काटता है।

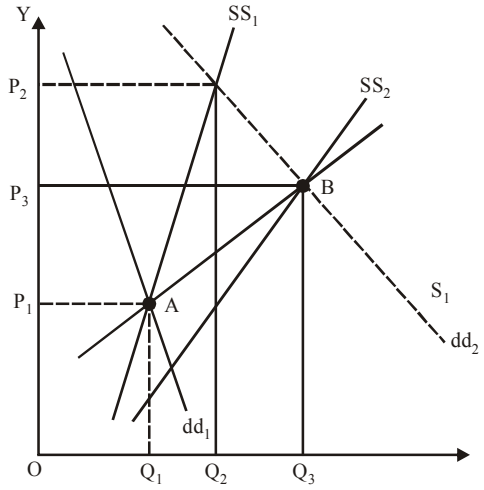
दीर्घकालीन साम्य की अवस्था में उद्योग में सभी फर्मों को शून्य लाभ प्राप्त होते हैं जिसके कारण फर्मों के उद्योग मे प्रवेश तथा विद्यमान फर्मों के निकलने के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता। बिन्दु B को परस्पर जोड़ने पर उद्योग को पूर्ति वक्र SL प्राप्त होता है।

स्थिर लागत वाले उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र सीधी समस्तर रेखा (Horizontal straight line) होगा, जिस पर कीमत और दीर्घकालीन औसत न्यूनतम लागत एक समान है।

(ब) बढ़ती या लागत उद्योग (Increasing Cost Industry) एक उद्योग को उस स्थिति में बढ़ती लागत उद्योग कहा जाता है जब नयी फर्मों के प्रवेश के बाद उद्योग के उत्पादन में विस्तार होने के कारण या अधिक साधनों की कीमतों में वृद्धि होती है।

ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब उद्योग कुशल श्रमिकों (जैसे सॉफ्टवेयर विशेषज्ञों) का उपयोग कर रहा हे और जिसकी मांग बढ़ने पर पूर्ति अल्प रह जाए।

वृद्धिमान लागतों की दशाओं में उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र को चित्र में दर्शाया गया है।



स्थिर लागत उद्योग की भांति बढ़ती लागत वाले उद्योग के पूर्ति वक्र के निर्माण के लिए हम वही प्रक्रिया अपनाते हैं। (i) उद्योग का मांग वक्र dd_1 से खिसक कर dd_2 हो जाता है; (ii) बाजार कीमत में वृद्धि होती है; (iii) फर्म अधिक मात्रा में उत्पादन और बिक्री करती हैं तथा अल्पकाल में असामान्य लाभ प्राप्त करती हैं; (iv) उद्योग में नयी फर्मों के प्रवेश को प्रोत्साहन मिलता है।

इसके बाद हमारा स्पष्टीकरण थोड़ा अलग हो जाता है। जैसे ही नयी फर्में उद्योग में प्रवेश करती हैं, तो साधनों की माँग बढ़ने के कारण साधनों की कीमतें बढ़ने लगती हैं। उद्योग को अल्पकालीन पूर्ति वक्र SS_1 से खिसक कर SS_2 हो जाता है, लेकिन पूर्ति से अधिक वृद्धि नहीं होती।

माँग और पूर्ति के बीच नया साम्य बिन्दु B पर स्थापित होता है। बिन्दु B बिन्दु A से ऊपर की ओर स्थित है।

साधनों की कीमतों में वृद्धि होने से फर्म के अल्पकालीन औसत लागत तथा सीमान्त लागत वक्र ऊपर की ओर खिसक कर क्रमशः AC_2 तथा MC_2 हो जाते हैं। दीर्घकालीन साम्य की अवस्था में फर्मों को शून्य लाभ अर्जित करने के लिए ऊँची बाजार कीमत चाहिए।

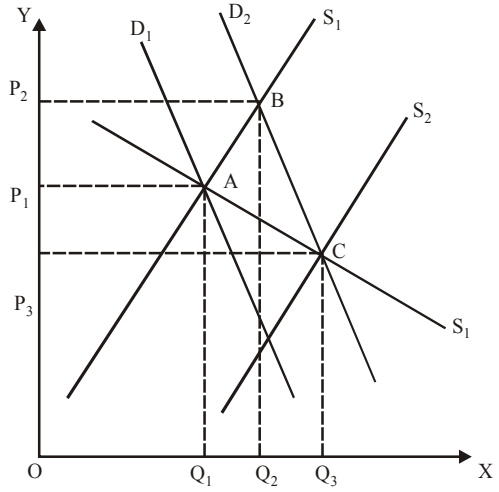
साम्य बिन्दु B के अनुरूप नयी साम्य कीमत OP_1 है, जो बिन्दु E_2 पर नयी न्यूनतम औसत लागत के समान है।

स्थिर लागत उद्योग की भांति, अल्पकाल में मांग में वृद्धि के कारण जो लाभ प्राप्त हुए थे वो दीर्घकाल में समाप्त हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि फर्में जैसे ही दीर्घकाल में उत्पादन को विस्तार करती हैं, साधनों की लागतें बढ़ने लगती हैं।

साम्य बिन्दु A तथा B को परस्पर जोड़ने पर हमको बढ़ती लागत उद्योग को दीर्घकालीन पूर्ति वक्र S_L प्राप्त होता है। बढ़ती लागत उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र का ढाल ऊपर की ओर होता है।

(स) घटती या लागत उद्योग और पूत्रि वक्र (decreasing cost industry) ह्रासमान लागत उद्योग में एक उद्योग अपने आकार का लाभ उठाकर कुछ लागतों को सस्ती कीमत पर प्राप्त कर सकता है।

इस अवस्था में फर्मों के औसत लागत वक्र नीचे की ओर खिसकेंगे तथा वस्तु की बाजार कीमत कम हो जाएगी। बाजार कीमत कम होने पर उत्पादन की औसत लागत घटने के कारण दीर्घकाल में साम्य की अवस्था में अधिक फर्में अधिक उत्पादन कर उसे नीची कीमत पर बेचेंगी। इसे चित्र में दिखाया गया है।



मांग में वृद्धि होने के कारण नयी फर्में उद्योग में प्रवेश करती हैं, साधनों की मांग बढ़ती है, प्रतियोगिता कारण उनकी कीमत कम हो जाताहै। इसके परिणामस्वरूप, फर्मों के लागत वक्र नीचे की ओर खिसकते हैं। अब फर्म कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा में पूर्ति कर सकती है।

दीर्घकालीन संतुलन की अवस्था में वस्तु की बाजार कीमत OP_3 है। सभी फर्में अधिक मात्रा में वस्तु की पूर्ति करती हैं, लेकिन उनके लाभ शून्य होते हैं। बिन्दु A तथा B को परस्पर जोड़ने पर उद्योग को दीर्घकालीन पूर्ति वक्र प्राप्त होता है।

– समानान्तर सरल रेखा (स्थिर लागत उद्योग)

– ऊपर की ओर ढालवाला वक्र (बढ़ती या लागत उद्योग)

– नीचे की ओर ढाल वाला वक्र (घटती या लागत उद्योग) हो जाती है।

एकाधिकार में फर्म का संतुलन

पूर्ण प्रतियोगिता में व्यक्तिगत फर्म ''कीमत स्वीकारक'' होती है, ''कीमत निर्धारक'' नहीं। इसी कारण एक फर्म का मांग वक्र क्षितिजीय होता है। इसके विपरीत, एकाधिकारी ''कीमत निर्धारक'' होता है ''कीमत स्वीकारक'' नहीं। एकाधिकारी का मांग वक्र बायें से दायें नीचे की ओर गिरता हुआ होता है जिसका अर्थ है कि वस्तु की अधिक मात्रा कम कीमत पर ही बेच सकता है। परिणामस्वरूप, एकाधिकारी की सीमांत आय वस्तु की बाजार कीमत (यानि औसत आय) से कम होती है और इसलिए फर्म का सीमांत आय वक्र हर बिन्दु पर औसत आय वक्र के नीचे होता है। जबकि फर्मों के आय वक्र तो बाजार स्थितियों पर निर्भर करते हैं, हमारे विश्लेषण की यह मान्यता है कि फर्मों के लागत वक्र उन पर निर्भर नहीं करते। इसलिए सभी बाजार स्थितियों में हम वही 'U' आकृति के लागत वक्रों का प्रयोग करते हैं। यह मान्यता पूर्णतया सही नहीं है परन्तु विश्लेषण के सरलीकरण के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

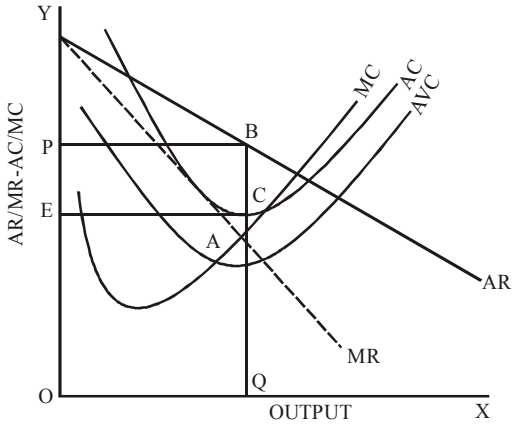
पूर्ण प्रतियोगिता की भांति एकाधिकार में भी फर्म का संतुलन उस उत्पादन स्तर पर निर्धारित होता है जहां,

(1) सीमान्त लागत = सीमान्त आय।

(2) सीमांत लागत और सीमांत आय की समानता के बिन्दु के पश्चात् सीमांत लागत > सीमांत आय।

नीचे रेखाचित्र 7.14 में एकाधिकारी फर्म का सन्तुलन दिखाया गया है।

रेखाचित्र 7.14

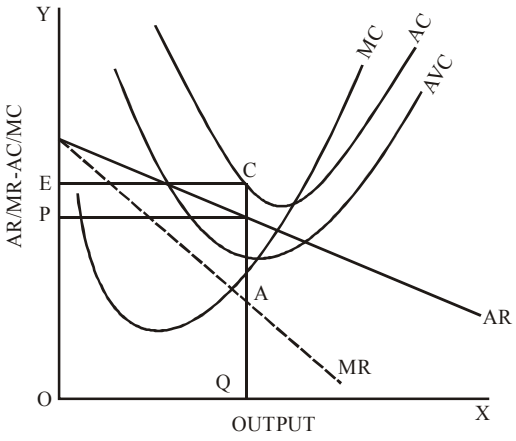


उपरोक्त रेखाचित्र में MC तथा MR वक्रों के कटान बिन्दु A पर फर्म का संतुलन निर्धारित होता है। संतुलन में फर्म OQ के बराबर उत्पादन करती है और उसे OP कीमत पर बाजार में बेचती है। इस सन्तुलन स्थिति में फर्म आयात EPBC के क्षेत्रफल के बराबर असाधारण लाभ कमाती है क्योंकि औसत कीमत (= OP) औसत लागत (= QC) से अधिक है।

एकाधिकार में भी फर्म का सन्तुलन उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहां **MC** वक्र **MR** को काटता है।

वस्तु की बाजार मांग स्थिति यदि ठीक न हो तो यह भी सम्भव है कि एकाधिकारी फर्म को अल्पकाल में हानि पर उत्पादन करना पड़े। नीचे रेखाचित्र 7.15 में यह सन्तुलन स्थिति दिखाई गई है जिसमें एकाधिकारी फर्म अल्पकाल में हानि पर उत्पादन करती है।

रेखाचित्र 7.15



उपरोक्त रेखाचित्र में बिन्दु A पर MC तथा MR की समानता फर्म का सन्तुलन निर्धारित करती है। इस सन्तुलन स्थिति में फर्म आयत PEBC के क्षेत्रफल के बराबर हानि उठाती है क्योंकि कीमत OP (= QB) औसत लागत (=QC) से BC के बराबर कम है। अल्पकाल में हानि की स्थिति में भी उत्पादन करते रहने के पीछे जो तर्क है उसका विवेचन हम ऊपर विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। इस स्थिति में उत्पादन करके वास्तव में फर्म अपनी हानि को कम कर रही है क्योंकि उत्पादन बन्द करने की स्थिति में उसे अधिक हानि उठानी पड़ती है।

दीर्घकालीन सन्तुलन

जब तक फर्म का एकाधिकार बना रहता है, असाधारण लाभ बने रहते हैं।

किसी उद्योग में फर्मों द्वारा असामान्य लाभों का अर्जन नई फर्मों को प्रवेश के लिए प्रेरित करता है परन्तु एकाधिकार में नई फर्मों

के प्रवेश की स्वतन्त्रता नहीं होती। इसलिए एकाधिकारी फर्म द्वारा अर्जित असामान्य लाभ तब तक बने रहते हैं जब तक एकाधिकार बना रहता है। पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सन्तुलन स्थितियों में अन्तर इस बात का है कि उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश और निकास की प्रक्रिया के माध्यम से दीर्घकाल में असामान्य लाभ और हानि दोनों ही लुप्त हो जाते हैं और परिणामस्वरूप फर्में दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ ही कमा पाती है। एकाधिकारी क्षेत्र में नई फर्मों के प्रवेश की कोई सम्भावना नहीं होती। इसलिए जब तक कोई फर्म अपने एकाधिकार को बनाए रख सकती है, वह दीर्घकाल में भी असामान्य लाभ कमाती रहेगी।

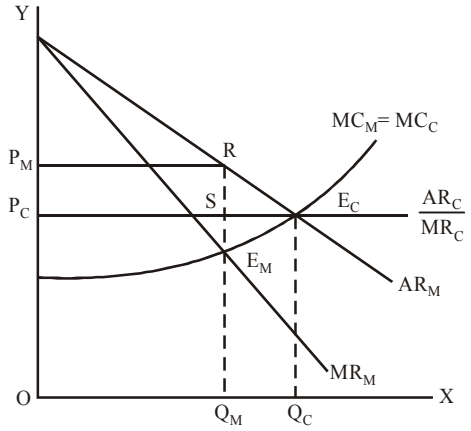
एकाधिकार में आबंटन की अकुशलता

(The Allocative Inefficiency of Monopoly)

एकाधिकारी फर्म का एक ही लक्ष्य होता है कि कीमत को ऊँचा रखें तथा उत्पादन को करें जिससे उनके लाभ अधिकतम हो सकें। एकाधिकार मे कीमत हमेशा प्रतियोगी कीमत से अधिक तथा उत्पादन हमेशा प्रतियोगी उत्पादन से कम होता है। इसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता की बचत कम तथा उत्पादक की बचत बढ़ जाती है। इसलिये यह कहा जाता है कि एकाधिकारी अधिक लाभ कमाने के लिए उपभोक्ता के लाभों को कम करता है।

इस स्थिति में हमें यह भी समझना होगा कि एकाधिकारी अपने लाभ अधिक करने के लिए केवल उपभोक्ता को ही हानि नहीं पहुँचाता वरन् पूरे समाज को हानि पहुँचाता है, क्योंकि इससे सम्पूर्ण समाज के कल्याण में कमी आती है जिससे पूरे समाज के अतिरीक में शुद्ध हानि होती है और तब समाज का हर वर्ग प्रतिकूल रूप में प्रभावित होता है चाहे वह उपभोक्ता हो चाहे वह उत्पादक हो। इस स्थिति को ''एकाधिकार के महाभार में हानि (Deadweight Loss of Monopoly) कहा जाता है। इस स्थिति को हम एक चित्र के द्वारा समझ सकते हैं।

रेखाचित्र



यहाँ पूर्ण प्रतियोगिता फर्म का मात्र वक्र AR_C तथा पूर्वी वक्र MC_C के द्वारा दिखाया गया है। यहाँ फर्म का साम्य E_C बिन्दु पर है जहाँ पूर्ति वक्र माँग वक्र को काटता है। इसलिए प्रतियोगी फर्म की कीमत P_C व उत्पादन Q_C के बराबर है। दूसरी तरफ एकाधिकारी का माँग वक्र AR_M व MR_M सीमान्त आगत वक्र है। यहाँ साम्य E_M बिन्दु पर है क्योंकि सीमान्त आगत सीमान्त लागत को इस बिन्दु पर काटता है। इसके कारण एकाधिकारी की कीमत P_M तथा उत्पादन Q_M के बराबर है। इस बात से यही पता चलता है कि एकाधिकार में प्रतियोगिता की तुलना में कीमत अधिक तथा उत्पादन व बिक्री कम होती है। इसके कारण $P_M R_S P_C$ के बराबर आय या लाभ उपभोक्ताओं की तरफ से एकाधिकारी को चले जायेंगे। अगर हम 'महाभार की हानि' को देखें तो यह $R E_M E_C$ के बराबर है जिसे सारे समाज को उठाना पड़ता है। इसमें से उपभोक्ताओं का हानि क्षेत्र RSE_C के बराबर है क्योंकि एकाधिकार में कीमत R_S के बराबर अधिक तथा उत्पादन SE_C के बराबर कम मिलता है उपभोक्ताओं को दूसरी तरफ एकाधिकारी को $S E_M E_C$ के बराबर हानि होती है क्योंकि इस एकाधिकारी को SE_C के बराबर कम बिक्री करनी पड़ी है।

इसलिये यह कहा जा सकता है कि एकाधिकार में आबंटन की अकुशलता के कारण सारे समाज को R E_M E_C के बराबर महामार की हानि होती है।

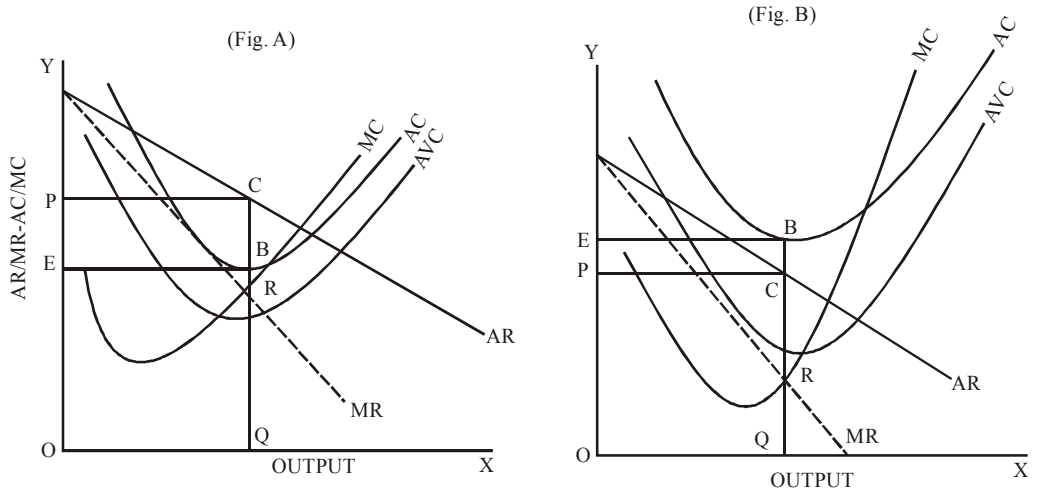
अपूर्ण-प्रतियोगिता में फर्म का सन्तुलन

पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार बाजार स्थितियों के दो छोरों को प्रस्तुत करते हैं। वास्तविक बाजार स्थितियाँ प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के विभिन्न अंशों का मिश्रण होती हैं। अपूर्ण प्रतियोगिता में भी फर्म का औसत आय वक्र नीचे की ओर झुकता हुआ होता है और परिणामस्वरूप सीमांत आय वक्र हर बिन्दु पर उसके नीचे रहता है। अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में भी लागत वक्र वैसे ही 'U' आकृति के होते हैं जैसे कि पूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार में। फर्म के सन्तुलन के लिए उन्हीं दो शर्तों अर्थात् (1) सीमांत लागत = सीमांत आय और (2) सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय की समानता के बिन्दु के पश्चात् सीमान्त लागत > सीमांत आय का पूरा होना आवश्यक है।

अल्पकालीन संतुलन

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म की दो सम्भव अल्पकालीन संतुलन स्थितियां नीचे रेखाचित्र 7.16 में दिखाई गई हैं।

रेखाचित्र 7.16



दोनों चित्रों में MC तथा MR वक्रों के कटान बिन्दु R पर फर्म का अल्पकालीन संतुलन निर्धारित होता है। चित्र A फर्म की उस संतुलन स्थिति को व्यक्त करता है जिसमें उसमें आयत PEBC के क्षेत्रफल के बराबर असाधारण लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि वस्तु की कीमत (=QC) उसकी औसत लागत (=QB) से अधिक है। चित्र B उस अल्पकालीन संतुलन स्थिति को व्यक्त करता है जिसमें फर्म आयत PEBC के क्षेत्रफल के बराबर हानि उठाती है क्योंकि वस्तु की कीमत OP (=QC) उसकी औसत लागत (=QB) से कम है। वस्तु की कीमत का औसत परिवर्ती लागत से अधिक होना भी अल्पकाल में हानि पर भी उत्पादन करते रहने को औचित्य प्रदान करता है।

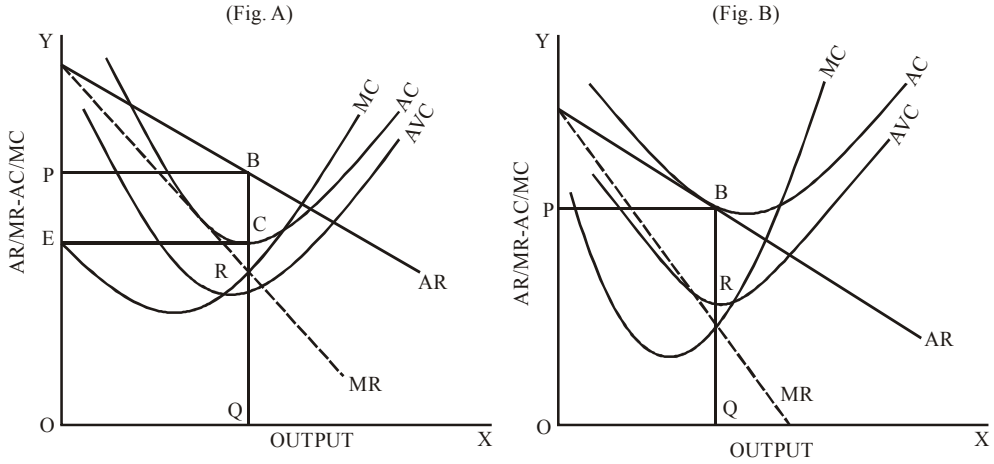
दीर्घकालीन संतुलन

असाधारण लाभ की स्थिति में नई फर्मों का उद्योग में प्रवेश उनके AR तथा MR वक्रों की बाईं ओर स्थानांतरित करता है।

अपूर्ण प्रतियोगिता में नई फर्मों के उद्योग में प्रवेश करने तथा पुरानी फर्मों के उद्योग से निकलने की स्वतन्त्रता होती है। इसलिए असाधारण लाभ या हानि वाली संतुलन स्थितियां केवल अल्पकाल में ही बनी रह सकती हैं, दीर्घकाल में नहीं। यदि उद्योग में फर्मों को असामान्य लाभ प्राप्त होते हैं और इस स्थिति के दीर्घकाल में बने रहने की आशा की जाती है तो यह स्थिति नई फर्मों को उद्योग में प्रवेश के लिए प्रेरित करेगी। जब नई फर्मों के प्रवेश से उद्योग में फर्मों की संख्या बढ़ेगी तो वस्तु की कुल बाजार मांग अधिक फर्मों में विभाजित होगी। इस प्रकार कुल मांग में प्रत्येक फर्म का भाग पहले से कम हो जाएगा। इसके परिणामस्वरूप फर्मों के मांग वक्र

बाईं ओर स्थानांतरित हो जाएंगे और वे प्रत्येक कीमत पर पहले की अपेक्षा कम माल बेच पाएगी। नई फर्मों के उद्योग में प्रवेश की यह प्रक्रिया जब तक जारी रहेगी जब तक उद्योग में फर्में कुछ भी असाधारण लाभ कमाती है। अन्ततः नई फर्मों के उद्योग में प्रवेश के कारण सभी फर्मों के AR वक्र बाईं ओर स्थानांतरित होकर 'U' आकृति के औसत वक्रों पर नीचे गिरते हुए भाग से स्पर्शी हो जाएंगे। जब AR वक्र औसत लागत वक्र के साथ स्पर्शी होता है तो वस्तु की कीमत उसकी लागत के बराबर होती है और फर्म केवल सामान्य लाभ कमाती है। जब उद्योग में फर्में केवल सामान्य लाभ कमाती हैं तो नई फर्मों के उद्योग में प्रवेश की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तथा फर्म तथा उद्योग अपने दीर्घकालीन संतुलन में होते हैं। असामान्य लाभ की स्थिति में नई फर्मों के उद्योग में प्रवेश के माध्यम से फर्म किस प्रकार अपना दीर्घकालीन संतुलन प्राप्त करती हैं यह नीचे रेखाचित्र 7.17 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 7.17



अंत में AR वक्र MR वक्र के साथ स्पर्श करता है और असामान्य लाभ लुप्त हो जाता है।

रेखाचित्र 7.17 A उस अल्पकालीन संतुलन स्थिति को दर्शाता है जिसमें फर्म आयत PECB के क्षेत्रफल के बराबर असाधारण लाभ कमा रही है। उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश के कारण वस्तु की पूर्ति बढ़ जाने से कीमत कम हो जाती है। अतः फर्म का AR वक्र बाईं ओर स्थानांतरित हो जाता है और (जैसाकि चित्र B में दिखाया गया है) अंत में बिन्दु B पर औसत लागत के बराबर है और फर्म केवल असाधारण लाभ कमाती है। जब उद्योग में फर्में केवल सामान्य लाभ कमा पाती हैं तो नई फर्मों के प्रवेश के लिए कोई प्रेरणा नहीं रह जाती। इस प्रकार फर्में अपना दीर्घकालीन संतुलन प्राप्त करती हैं।

हानि की स्थिति में उद्योग से फर्मों के निकास से दाईं ओर स्थानांतरित होकर AC साथ स्पर्शी हो जाता है।

दूसरी ओर जब फर्में हानि उठाती है और यह आशा की जाती है कि ऐसी ही स्थिति दीर्घकाल में बनी रहेगी तो उनमें से कुछ फर्में उद्योग को छोड़कर अपना आरम्भ कर देती हैं। जब कुछ फर्में उद्योग को छोड़ देती हैं, तो वस्तु की कुल माँग पहले से कम फर्मों में विभाजित होने लगती हैं जिसके फलस्वरूप उनके AR वक्र दाईं ओर स्थानांतरित हो जाते हैं। उद्योग से फर्मों के निकास तथा शेष फर्मों के AR वक्रों (और उनके साथ MR वक्रों) के दाईं ओर स्थानांतरण की यह प्रक्रिया तब समाप्त होती है जबकि फर्मों के AR वक्र उनके 'U' आकृति के औसत लागत वक्रों के गिरते हुए भागों पर स्पर्शी हो जाते हैं। जब वक्र और लागत वक्रों के साथ स्पर्शी होते हैं तो फर्म केवल साधारण लाभ कमाती है तब फर्में अपने दीर्घकालीन संतुलन में होती हैं। जब उद्योग में सभी फर्में सामान्य लाभ कमाती हैं तो फर्मों के उद्योग को छोड़ देने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। जब यह स्थिति होती है तो उद्योग अपने दीर्घकालीन संतुलन में कहा जाता है।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा अपूर्ण प्रतियोगिता का तुलनात्मक अध्ययन

विभिन्न बाजार परिस्थितियों में AR तथा MR वक्रों की आकृतियों में अन्तर ही निम्नलिखित का कारण है।

एक व्यक्तिगत फर्म के क्षितिजीय AR/MR वक्रों को पूर्ण प्रतियोगिता का प्रमाण चिन्ह कहा जा सकता है। दूसरी ओर नीचे की ओर गिरते हुए AR वक्र शेष सभी बाजार स्थितियों की विशेषता है। नीचे की ओर गिरते हुए हर बिन्दु पर AR वक्र से सम्बद्ध

MR वक्र भी नीचे की ओर गिरता है और हर बिन्दु पर AR वक्र के नीचे होता है। पूर्ण प्रतियोगिता तथा अन्य बाजार परिस्थितियों में साम्य कीमत, उत्पादन, सीमान्त लागत व कीमत में सम्बन्ध आदि के अन्तर केवल AR और MR वक्रों की आकृति के कारण उत्पन्न होते हैं।

संक्षेप में उनमें कुछ अन्तर निम्नलिखित हैं–

1. सभी बाजार परिस्थितियों में MC तथा MR की समानता फर्म का सन्तुलन निर्धारित करती है। परन्तु पूर्ण-प्रतियोगिता में फर्म के AR तथा MR सदा बराबर होते हैं। इसलिए अल्पकालीन सन्तुलन में MC = MR (=AR) होने के कारण पूर्ण प्रतियोगिता मे वस्तु की कीममत (या AR) सदा उसकी सीमांत लागत के बराबर होती है। दूसरी ओर अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की सीमांत आय सदा औसत आय से कम होती है और इसके परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत आवश्यक रूप से सीमांत लागत से अधिक होती है।
2. पूर्ण प्रतियोगिता में पूरे बाजार में एक ही कीमत प्रचलित होती है तथा सभी फर्में अपनी सीमांत लागतों का बाजार कीमत से समानीकरण करती हैं। इसलिए सभी फर्मों की सीमांत लागत बराबर होती है। सीमांत लागतों की समानता उद्योग में कार्यकुशलता की गारन्टी मानी जाती है। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत पूरे बाजार में वस्तु की कोई एक कीमत नहीं होती तथा फर्मों के AR और MR वक्रों की आकृतियाँ तथा स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं। उद्योग में फर्मों की सीमांत लागतों की भिन्नता को अकुशलता का सूचक माना जाता है।
3. पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतियोगिता दोनों बाजार स्थितियों में ही दीर्घकालीन सन्तुलन की शर्तें (1) MC = MR और (2) AC = AR है। परन्तु प्रतियोगिता में AR तथा MR की समानता के कारण फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन में निहितार्थ द्वारा MC = MR = AR = AC। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सन्तुलन में वस्तु की कीमत (यानि AR) उसकी सीमान्त तथा औसत लागत दोनों के बराबर होती है। सीमांत लागत औसत लागत के निम्नतम बिन्दु पर ही उसके बराबर होती है। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सन्तुलन में वस्तु की कीमत उसकी न्यूनतम लागत के बराबर होती है।

   दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की साज-सज्जा का पूर्ण उपयोग होता है, अपूर्ण प्रतियोगिता में अल्प प्रयोग होता है।

   हालांकि पूर्ण प्रतियोगिता की भांति अपूर्ण प्रतियोगिता में भी दीर्घकालीन संतुलन की शर्तें वही हैं यानि (1) MC = MR और (2) AC = AR परन्तु MR के हर बिन्दु पर AR से कम होने के करण दीर्घकालीन सन्तुलन में MC निश्चय ही AC से कम होगी। जब AC गिरती है तभी MC उससे कम होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सन्तुलन AC के गिरते हुए भाग पर कहीं स्थापित होगा। अन्य शब्दों में, अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सन्तुलन में वस्तु की कीमत आवश्यक रूप से न्यनूतम औसत लागत से अधिक होगी।
4. जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है जबकि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का दीर्घकालीन संतुलन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर स्थापित होता है, अपूर्ण प्रतियोगिता में संतुलन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु के बाईं ओर होता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का उत्पादन स्तर कम होगा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की उत्पादन क्षमता अल्पप्रयुक्त रहेगी।

अतिरेक क्षमता

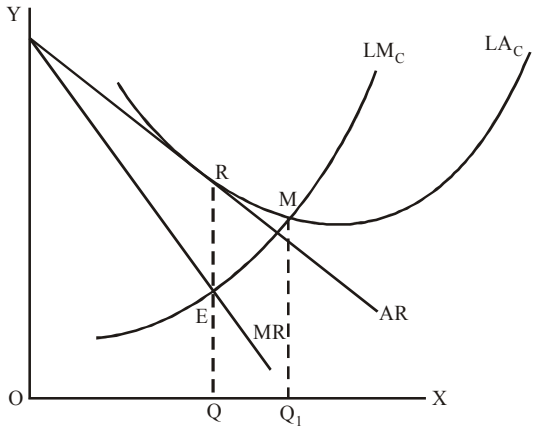
(Excess Capacity)

उत्पादन क्षमता की अवधारणा का मतलब है उत्पादन की वह मात्रा जो एक फर्म न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादित करती है। इस संदर्भ में 'मैन्सफील्ड' नामक अर्थशास्त्री ने कहा है कि ''क्षमता आधिक्य (Excess Capacity) दीर्घकालीन संतुलन की स्थिति में इष्टतम उत्पादन तथा वास्तविक उत्पादन का अन्तर है। इष्टतम उत्पादन वह उत्पादन है जिस पर दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम होती है।''

'साम्य स्तर का उत्पादन' एवं 'क्षमता उत्पादन' में अन्तर होता है। साम्य स्तर पर उत्पादन वह मात्रा है जिस पर सीमान्त आगत, सीमान्त लागत के समान होती है, जबकि क्षमता उत्पादन वह मात्रा है जिस पर दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम होती है। एकाधिकारी

प्रतियोगिता में अविरेक क्षमता या क्षमता अधिक्य इसलिए पाया जाता है क्योंकि वह फर्में औसत लागत के न्यूनतम बिन्दु पर उत्पादन नहीं करती हैं। यह फर्में न्यूनतम से अधिक लागत पर उत्पादन करती हैं जिसके कारण इनकी कीमतें प्रतियोगी फर्मों से अधिक होती हैं। इस बात को हम एक चित्र के माध्यम से समझ सकते हैं।

रेखाचित्र



यहाँ LMC = MR, E बिन्दु पर जो सन्तुलन बिन्दु कहलाता है तो वास्तविक उत्पादन या साम्य उत्पादन तो OQ है लेकिन इष्टतम उत्पादन तो OQ_1 के बराबर है जहाँ पर LAC न्यूनतम है इसलिये क्षमता अधिक्य QQ_1 के बराबर है। इस बाजार में अतिरेक क्षमता (Excess Capacity) तो होनी ही है क्योंकि AR रेखा नीचे को गिरती हुई होती है जो U के आकार वाले वक्र को इसके न्यनूतम बिन्दु पर स्पर्श कर ही नहीं सकता। इस कारण से एकाधिकारी प्रतियोगिता बाजार में कीमत अधिक व उत्पादन कम होता है।

इस सब का क्या यह मतलब लगाया जा सकता है कि अतिरेक क्षमता या क्षमता अधिक्य अपव्ययी होता है (Is Excess Capacity Wasteful) या हम यह कहें कि उत्पादन अकुशल ढंग से हो रहा है? इसका एक उत्तर तो यह है क्योंकि इस बाजार में काफी फर्में होती हैं इसीलिये इस ग्रुप में फर्में पूरा उत्पादन नहीं कर सकती जिसे हम अपव्यय या अकुशलता की स्थिति भी कह सकते हैं क्योंकि जितना उत्पादन इस ग्रुप की फर्में करती हैं या वह कम फर्मों के द्वारा किया जा सकता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता में आदर्शतम उत्पादन हो ही नहीं सकता क्योंकि आगम वक्र ऋणात्मक ढाल वाला होने के कारण लागत वक्र को, जो U के आकार का होता है निम्नतम बिन्दु पर स्पर्श नहीं कर सकता। इस स्थिति को प्रो लिप्सी ने 'अव्यधिक क्षमता प्रमेय' (Excess Capacity Theorem) कहा है। इस स्थिति के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जैसे कि–

1. ऋणात्मक ढाल वाला आगम वक्र होने पर भी सामान्य लाभ के साम्य को दिखाया जा सकता है;
2. एकाधिकारी प्रतियोगिता में कीमत पूर्ण प्रतियोगिता तथा सीमान्त लागत से अधिक होती है;
3. यहाँ फर्में हमेशा ही अतिरेक क्षमता में ही काम करती हैं।
4. क्योंकि फर्में काफी अधिक होती हैं इसलिये फर्में अपने साधनों का पूरा उपयोग नहीं करती कि कहीं पूर्ति अधिक न हो जाये और इसीलिये अतिरेक क्षमता बनी रहती है जिससे साधनों का अपव्यय होता है।

इसके विपरीत केल्विन लेन्कस्टर (Kelwin Lancaster) एकाधिकारी प्रतियोगी बाजार में अतिरेक क्षमता को अव्यय नहीं मानते क्योंकि विभेदीकृत वस्तुओं के उत्पादन के कारण उपभोक्ताओं की विभिन्न रूचियों को सन्तुष्ट करके उनकी सन्तुष्टि को अधिकतम किया जा सकता है। इसी संदर्भ में लिप्से ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि ''उपभोक्ता की सन्तुष्टि को अधिकतम करने के स्थान पर विभेदीकृत वस्तुओं की संख्या में तब तक वृद्धि करनी चाहिये जब तक विविधता में वृद्धि होने के फलस्वरूप उपभोक्ता की सन्तुष्टि में होने वाले लाभ प्रत्येक वर्तमान वस्तु का ऊँची लागत पर उत्पादन करने से होने वाली हानि के बराबर हो जाये।''

इसीलिये यह कहा जा सकता है कि अतिरेक क्षमता जरूरी नहीं है कि अपव्ययी हो।

उपभोक्ता व उत्पादक सिद्धान्तः व्यवहार में
(Consumer and Producer Theory in Action)

अब तक के अध्यायों में हमने मुख्य रूप से यही देखा है कि उपभोक्ता माँग सम्बन्धी तथा उत्पादन आपूर्ति सम्बन्धी प्रक्रिया के बारे में किस प्रकार से और क्या निर्णय लेते हैं। इसी संदर्भ में विभिन्न बाजारों का भी अध्ययन किया गया जैसे कि एक तरफ पूर्ण प्रतियोगिता से लेकर एकाधिकार तक। अब हम इन विभिन्न प्रकार की स्थितियों का अध्ययन व्यवहार में किस प्रकार से काम करते हैं को समझेंगे। लागतों में अन्तर कई प्रकार से हो सकता है, जैसे कि आगत कीमतों में परिवर्तन के कारण, तकनीक में परिवर्तन के कारण या सरकारी नीति में परिवर्तन के कारण। इन सब का सन्तुलन कीमत व मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ सकता है उसे हम इस अध्याय में देखेंगे तथा दूसरे अध्याय में देशों के संगठन (OPEC) से संबंधित प्रक्रियाओं को देखेंगे।

इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि सन्तुलन कीमत तथा मात्रा परल इन विभिन्न परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ता है।

लागतों में परिवर्तनः पूर्ण प्रतियोगिता के बाजार में फर्म कीमत को स्वीकार करने वाली होती है। एक फर्म सन्तुलन उत्पादन का निर्णय सीमान्त लागत के आधार पर करती है और सीमान्त लागत के द्वारा ही पूरे उद्योग की पूर्ति का भी निर्धारण होता है। इसीलिये लागतों में परिवर्तन पूर्ति में परिवर्तन के द्वारा सन्तुलन कीमत तथा उत्पादन को प्रभावित करता है। एक उद्योग का पूर्ति वक्र सभी फर्मों की AVC के ऊपर स्थिति MC वक्रों का जोड़ होता है। इसलिये लागत के बढ़ने पर पूर्ति वक्र उपर की तरफ तथा लागतों में कमी के कारण पूर्ति वक्र नीचे की तरफ सरक जाता है। जब पूर्ति वक्र ऊपर को जाता है तो उसी कीमत पर कम पूर्ति वक्र नीचे की तरफ जाता है तो इसका मतलब है उसी कीमत पर अधिक पूर्ति का होना।

लागतों में परिवर्तन कई कारणों से हो सकता है जैसे कि–

(1) कच्चेमाल की कीमतों में परिवर्तन,

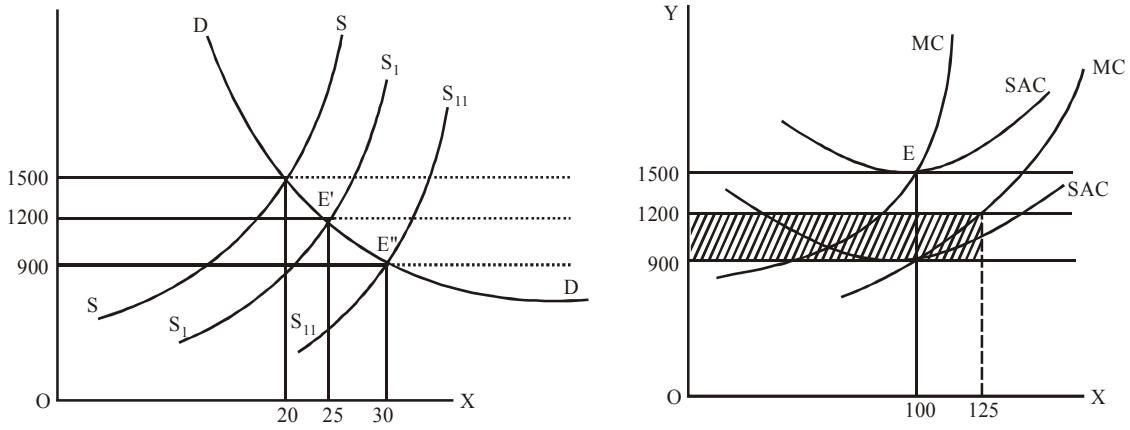
(2) तकनीक में परिवर्तन

(3) सरकार की कर नीति में परिवर्तन

(1) कच्चेमाल की कीमतों में परिवर्तनः

अल्पकाल में परिवर्तित लागतों में कमी के कारण कीमतें कम हो जाती है हालांकि कीमतों की यह कमी सीमान्त लागत की तुलना में कम गिरती है। लागतों में इस कमी का लाभ उपभोक्ताओं की कम कीमत के रूप में तथा उत्पादकों को अधिक लाभ के रूप में प्राप्त होता है। हालांकि दीर्घकाल में नई फर्मों के आने के कारण यह लाभ समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति को हम इन चित्रों के द्वारा दिखा सकते हैं।

चित्र



यहाँ 'A' चित्र उद्योग को दिखा रहा है तथा 'B' चित्र फर्म को दिखा रहा है। इस उद्योग में 200 फर्म कार्यरत है। इस इस्पात उद्योग में सभी फर्म सामान्य लाभ प्राप्त कर रही हैं जिस के कारण E बिन्दु पर सन्तुलन है जहाँ 1500 रू. प्रतिटन की कीमत पर 20 हजार टन इस्पात बनता है क्योंकि 200 फर्म हैं इसलिये 1500 रु. 100 टन इस्पात, औसतन प्रत्येक फर्म उत्पादित कर रही है। अब अगर कच्चे लोहे की कीमत कम हो जाती है तो MC वक्र MC^1 तथा SAC वक्र SAC^1 के रूप में नीचे को सरक जाते हैं। इस कारण से उद्योग का पूर्ति वक्र नीचे को $S^1 S^1$ हो जायेगा तथा नया सन्तुलन बिन्दु E^1 हो जाता है जहाँ कीमत कम होकर 1200 तथा उद्योग का उत्पादन 25 हजार टन हो जाता है। हर फर्म का उत्पादन 100 से बढ़कर 125 टन हो जाता है। ऐसी स्थिति में हर फर्म को असामान्य लाभ छायादार क्षेत्र के बराबर प्राप्त होते हैं। इस असामान्य लाभ के कारण नई फर्म उद्योग में जाने लगेंगी और यह तब तक रहेगा जब तक की यह असामान्य लाभ सामाप्त नहीं हो जाता। अब उद्योग का नया पूर्ति वक्र $S^{11} S^{11}$ सन्तुलन बिन्दु E^{11} हो जायेगा जहाँ कीमत गिर कर 900 हो जायेगी। यहाँ प्रत्येक फर्म फिर 100 टन का उत्पादन करेगी। लेकिन अब उद्योग का उत्पादन 30 हजार टन हो जायेगा क्योंकि अब फर्मों की संख्या 200 से बढ़कर 300 हो गई है। इससे यह पता चलता है कि लागत के काम होने के कारण सामान्य लाभ से अलग स्थिति हो जाती है, जहाँ उपभोक्ताओं को कम कीमत तथा उत्पादकों को असामान्य लाभ प्राप्त होते हैं। लेकिन दीर्घकाल में उत्पादकों के असामान्य लाभ तो समाप्त हो जाते हैं लेकिन उपभोक्ताओं को कम कीमत और अधिक उत्पादन का लाभ मिलता रहता है। लागतों में वृद्धि के कारण इसके विपरीत की स्थिति होती है।

तकनीक में परिवर्तन (Changes in Technology)

तकनीक में परिवर्तन के कारण भी लागतों में परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के कारण न केवल लागत बदल जाती है बल्कि पुराने उत्पादन के ढंग या प्लांटस भी बदल जाते हैं। तकनीक में परिवर्तन दो प्रकार से हो सकता है, या तो एक बार ही तकनीक में परिवर्तन हो या तकनीक में निरन्तर परिवर्तन होता रहे। हम इन दोनों स्थितियों के प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

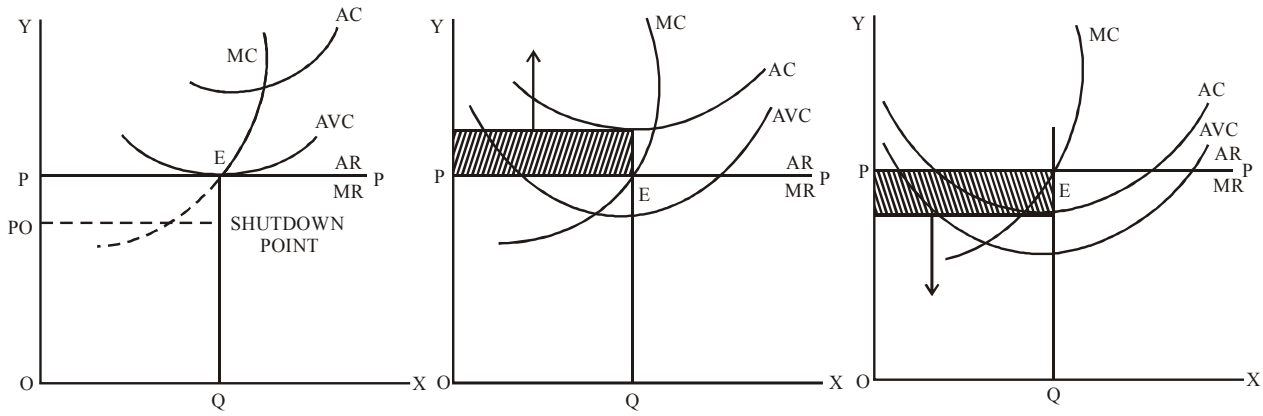
(क) एक बार तकनीकी परिवर्तन (One time technological change)

पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में फर्में सामान्य लाभ प्राप्त करती हैं। तकनीक में परिवर्तन के कारण नए प्लांट में नयी तकनीक लगेगी पुरानों में नहीं। इसलिये नई फर्मों में AC<AR। क्योंकि कीमत पुरानी फर्मों की AC के आधार पर तय की हुई है इसलिये पुरानी फर्मों को तो सामान्य लाभ मिलता रहेगा पर नई फर्मों को असामान्य लाभ प्राप्त होंगे। इसके कारण नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी। इसके कारण पूर्वी वक्र दायीं ओर खिसक जायेगा और बाजार कीमत कम हो जायेगी। इसलिये अब पुरानी फर्मों का AR < AVC रह जायेगा जिससे पुरानी फर्मों को उद्योग को छोड़ कर जाना होगा और फिर से सभी फर्मों को सामान्य लाभ प्राप्त होने लगेंगे।

(ख) निरन्तर होने वाले तकनीकी परिवर्तन (Continous Technical Change)

ऐसा होने पर नए प्लांटस आ जाने के कारण पुराने प्लांटस अप्रचलित हो जाने के कारण बन्द होने लगेंगे। जिससे उत्पादन लागत निरन्तर कम होती जायेंगी। यहाँ बाजार सबसे कुशल फर्म की न्यूनतम औसत लागत के अनुसार निर्धारित होगी। इस स्थिति में वह फर्में बन्द हो जायेंगी। इनका AVC कीमत या AR से अधिक है तथा वे फर्म उत्पादन करती रहेंगी जिनका AVC कीमत या AR से कम है। इस बात को हम चित्रों के द्वारा भी दिखा सकते है।

चित्र



पहले चित्र में E_1 सन्तुलन बिन्दु है जहाँ OP कीमत पर OQ_1 उत्पादन हो रहा है यहाँ AC> AR या हानि होगी पर AVC मिलने के कारण उत्पादन होगा। बन्द होने वाला बिन्दु भी है क्योंकि कीमत या AR के इससे नीचे जाते ही काम बन्द हो जायेगा जैसे OP_O पर क्योंकि तब AVC भी नहीं मिल पायेगा।

दूसरे में नया उन्नत प्लांट लगाया गया है। यहाँ OP कीमत पर OQ_2 उत्पादन किया जा रहा है। हालांकि इस कीमत पर हानि है क्योंकि $AC_2 > AR$ पर उत्पादन बन्द नहीं होगा क्योंकि $AVC_2 < AR$ तीसरे चित्र में AC_1 और $AVC_3 < AR$ से इसलिये असामान्य लाभ प्राप्त होंगे। बाद में नई फर्मों के आने के कारण जो तकनीकी रूप में कुशल होंगे उनकी कीमत औरगिर जायेंगी तथा उपभोक्ताओं को लाभ होगा।

कीमत व उत्पादन पर कर का प्रभाव (Effect of Taxes on Price & Output)

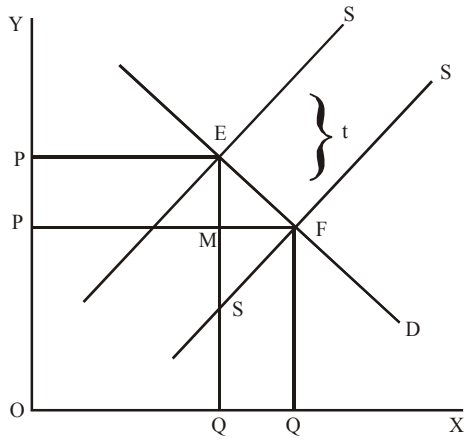
जब सरकार उत्पादन पर कर लगा देती है तो वह बाजार की परिस्थिति को प्रभावित करने का प्रयास करती है क्योंकि इससे कीमतें उत्पादन व साम्य को प्रभावित करते हैं हालांकि यह प्रभाव मांग व पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है। कर को कई प्रकार से लगाया जा सकता है जैसे किः–

1. प्रति इकाई कर (Per unit tan)
   (a) इकाई कर (Unit tax) तथा (b) मूल्यानुसार कर (Ad Valorem tax)
2. एक मुश्त कर (Lump sum tan)
3. लाभ पर कर (Tanes on Profit)

1. प्रति इकाई कर

(a) इकाई करः जब यह कर लगाया जाता है तो पूर्ति वक्र ऊपर को सरक जाता है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है E बिन्दु पर सन्तुलन होता है जहाँ OP कीमत पर OQ उत्पादन होता है। अगर सरकार 't' या E^1 MS के बराबर कर लगा देती है तो पूर्ति वक्र ऊपर को सरक कर S' हो जाता है और सन्तुलन E^1 पर हो जाता है जहाँ कीमत बढ़कर OP^1 हो जाती है तथा उत्पादन घटकर OQ^1 हो जाती है तथा उत्पादन घट कर OQ^1 हो जाता है। कर की पूरी मात्रा उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों में बंट जाती है। E^1M के बराबर कीमत वृद्धि के बराबर भार उपभोक्ता उठाते हैं तथा MS के बराबर उत्पादक भार उठाते हैं। क्योंकि उत्पादकों के लाभ कम हो गये हैं इसलिये दीर्घकाल में कुछ उद्योग को छोड़ जायेंगे तथा हानियाँ समाप्त हो जायेगी और कर का सारा भार उपभोक्ताओं को उठाना पड़ेगा।

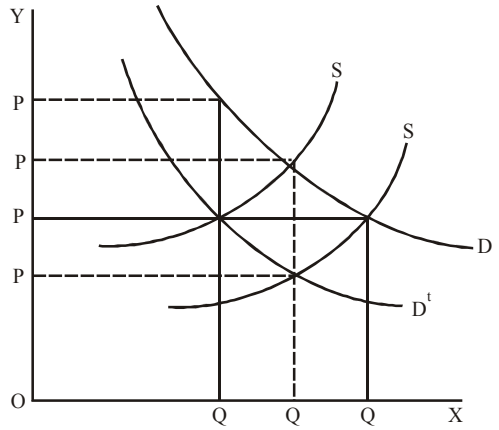
चित्र



(b) मूल्यानुसार करः जैसे कि बिक्री कर जो वस्तु की कीमत पर लगाये जाते है। D भाग वक्र कर लगने से पहले का है जहाँ OP_O कीमत पर OQ_O उत्पादन किया जा रहा है। कीमत पर कर लगने से सरकार को एक निश्चित भाग मिलता है। D^1 हमें यह बताता है कि कर लगने के बाद वस्तु की मांग क्या होगी। अब उत्पादकों को OP_1 कीमत पर OQ_1 का उत्पादन करना है। लेकिन यह मात्रा उपभोक्ताओं को $OP_1{}^1$ पर मिलती है क्योंकि $P_1P_1{}^1$ के बराबर उपभोक्ताओं को कर चुकाना पड़ता है। कर लगने से पहले OP_O निम्नतम औसत लागत भी होती है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में आर्थिक लाभ शून्य के बराबर होते हैं लेकिन कर लगने के बाद

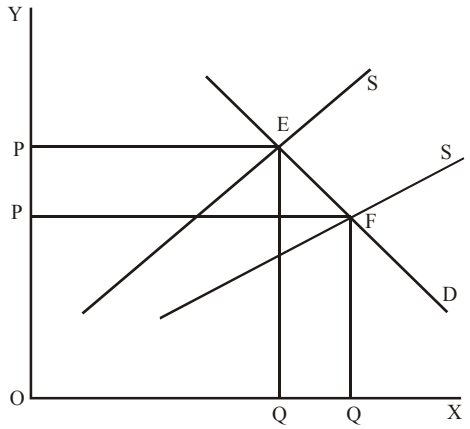
कीमत इस औसत लागत से कम हो जाती है। इसका मतलब है कुछ फर्मों को हानि उठानी पड़ेगा और वह उद्योग छोड़ देंगी। इससे पूर्ति वक्र ऊपर को S^1 हो जाता है तथा कीमत फिर OP_O हो जाती है। यहाँ पर फर्म फिर शून्य अतिरिक्त लाभ प्राप्त करती है। इनका उत्पादन तो OQ_O है पर उद्योग का उत्पादन गिर कर OQ_2 हो जाता है क्योंकि कुछ फर्मों के छोड़कर चले जाने के कारण उद्योग में फर्मों की संख्या कम हो गई है। यहाँ कीमत में केवल कर के बराबर ही वृद्धि हुई है।

चित्र



2. एक मुश्त करः यह स्थिर लागतों जैसे होते हैं। यह निश्चित मात्रा में देने पड़ते हैं यदि उत्पादन या बिक्री जितनी मर्जी हो कर से पहले 'E' सन्तुलन के कारण OP_O कीमत पर OQ_O उत्पादन हो रहा है। एक मुश्त कर के लगने से औसत लागत पर तो प्रभाव पड़ता है सीमान्त लागत पर नहीं और क्योंकि सभी फर्मों की सीमान्त लागत जोड़ उद्योग की पूर्ति होता है। इसलिये यह कर अल्पकाल में पूर्ति वक्र को प्रभावित नहीं करता या यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में कीमत, फर्म का उत्पादन तथा उद्योग के उत्पादन में कोई बदलाव नहीं पाता। इन कारणों से कर लगने से कुछ फर्मों को हानि होती है और वे उद्योग को छोड़कर चली जाती हैं। जिससे पूर्ति वक्र ऊपर S^E के रूप में हो जाता है। इस कारण कीमतें बढ़ती है तथा उत्पादन घटता है, अब कीमत OP_1 हो जाती है यह न्यूनतम औसत लागत के बराबर है। उत्पादन इसलिये कम होकर OQ_1 हो जाता है क्योंकि उद्योग में फर्मों की संख्या कम हो गई है।

चित्र



3. लाभ पर करः लाभ हमेशा सब साधनों को उनकी कीमत देने के बाद बचा हुआ प्रतिफल है इसलिये इस पर कर सब आर्थिक क्रियाओं को करने के बाद लगता है तभी तो इसका लागत ढांचे से कोई मतलब नहीं होता और इस प्रकार का कर न तो सन्तुलन कीमत, न ही सन्तुलन उत्पादन की मात्रा और न ही साधनों के वितरण को प्रभावित करता है। लेकिन कर कानून यह कहते हैं लाभ 'पूंजी की अवसर लागत' तथा जोखिम उठाने का प्रतिफल होता है और यह दोनों ही लागत का भाग है और यह कारण से पूर्ण प्रतियोगी उद्योग भी लाभ कर देने का हकदार है और तब हम कह सकते हैं कि यह कर सन्तुलन कीमत उत्पादन की मात्रा तथा साधनों के

वितरण को प्रभावित करती है। पूंजी प्रधान श्रम प्रधान उद्योगों की तुलना में अधिक कर देते हैं इससे उत्पादन के साधनों का वितरण प्रभावित हो सकता है। नये उत्पादक पूंजी के स्थान पर श्रम को अधिक महत्त्व देंगे।

OPEC :
(OPEC: A Case Stury of a Cartel)

तेल निर्यातक देशों का संगठन (Organisation of Patroleum Exporting Countries) या OPEC 1960 में 5 देशों द्वारा स्थापित किया गया था। उस समय इनका उद्देश्य थाः

(a) सदस्य देशों की तेल नीतियों में समन्वय स्थापित करना।

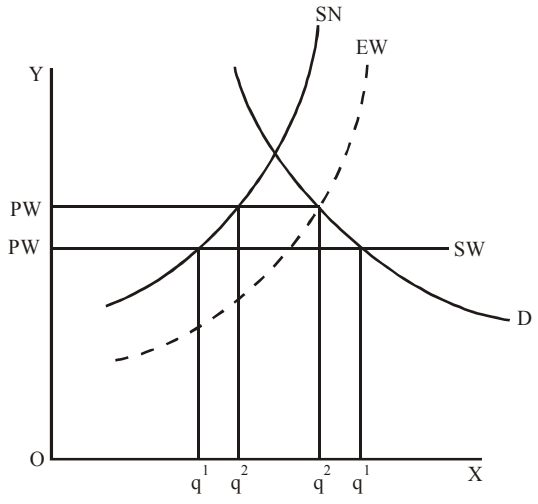
(b) कीमतों में स्थिरता बनाए रखना जिससे आर्थिक उतार-चढ़ावों से बचा जा सके।

1973 में इनकी सदस्य संख्या 13 हो गई जो विश्व के 70% से 80% कच्चे तेल पर नियंत्रण करते थे, तथा 87% का निर्यात करते थे। तेल की मांग बेलोचदार होती है। इसे तो देशों को खरीदना ही पड़ता है। OPEC लगभग एकाधिकारी है। गैर OPEC देश की पूर्ति को बढ़ा नहीं पाये हैं। इस संगठन के कारण तेल की कीमत में लगभग 400% की वृद्धि हो गई है। इस प्रकार के संगठन, लाभ प्राप्त करने के लिये, कई शक्तियों द्वारा बनाये गये थे जैसे यूरोप के किसान, ब्राजी के कौफी बनाने वाले, कई शहरों के टैक्सी ड्राइवर इत्यादि। यह सब संगठन पूर्ण प्रतियोगिता की तरफ कीमत ग्रहण करने वाले ही नहीं थे बल्कि कीमत और उत्पादन को प्रभावित करने वाले बन गये थे। इस प्रकार के संगठन मुख्य रूप में यह देखते हैं कि उत्पादन को नियंत्रित किया जाये। सदस्यों द्वारा अगर संगठन का कोई सदस्य नियमों को न मान कर अपने ही निर्णय चलाना चाहे तो उसे लाभ होगा पर अगर सभी सदस्य अपनी चलाना चाहे तो सभी को नुकसान होगा।

इस बात को चित्र के द्वारा इस प्रकार के दिखाया जा सकता है यहाँ Sw विश्वपूर्ति वक्र है और OPw पर OPEC देश विश्व की तेल की मांग को पूरा कर सकते हैं SN गैर OPEC देशों का पूर्ति वक्र है। यहाँ मांग वक्र को दिखाता है। संसार में Pw कीमत पर OQ_O तेल का उत्पादन होगा जिसमें से oq^1 गैर OPEC देशों द्वारा तथा q^1q^0/OPEC देशों द्वारा बनाया जाता है। OPEC देशों ने अपने आप पूर्ति वक्र को प्रभावित करने के लिये नया पूर्ति वक्र S^1w कर दिया जिसके कारण तेल की कीमतें बढ़कर P^1w हो गयीं जिससे गैर OPEC देशों का उत्पादन बढ़कर OQ^2 हो गया तथा OPEC का उत्पादन q^2q^3 हो गया। OPEC की कुल आय बढ़ गयी क्योंकि उत्पादन के कम होने पर भी कीमतें काफी बढ़ गई थीं। पर गैर OPEC के लाभ काफी बढ़ गये थे। धीरे-धीरे OPEC देशों का महत्त्व कम होने लगा है तथा गैर OPEC देशों का महत्त्व बढ़ने लगा है। 1980 से OPEC पर दबाव बढ़ने लगा जिससे उनकी शक्ति को नियंत्रित किया जाने लगा। इस दबाव के कई कारण थे जैसे कि–

1. विश्व आपूर्ति में वृद्धि - तेल व्यापार में बढ़ती कीमतों के कारण गैर OPEC देशों में तेल का उत्पादन बढ़ने लगा। इससे बढ़ती कीमतों को रोकने के लिये OPEC को तेल उत्पादन को नियंत्रित करना पड़ा।

चित्र



2. समय के साथ-साथ तेल की मांग लोचपूर्णा होने लगी।
3. महंगे तेल से बचने के लिये शक्ति के नये स्रोत खोजे जाने लगे।
4. OPEC देशों के लाभ कम होने के कारण सब सदस्यों ने नियमों को तोड़ना चालू किया जिससे सबका नुकसान होने लगा।

इन सब बातों के कारण OPEC की सार्थकता का अवलोकन किया जा सकता है।

1. अगर वस्तु की मांग लोचहीन है तो उत्पादन की मात्रा को कम रखना चाहिये।
2. समय बीतने पर बाजार शक्ति को बनाये रखना कठिन होता है।
3. अल्पकाल व दीर्घकाल के लाभों में चुनाव करना पड़ता है।
4. दीर्घकाल में देशों के द्वारा उत्पादन पर नियंत्रण बनाये रखना कठिन होता है।

स्वामी-एजेंट सिद्धान्त (Principal Agent Theory)

यह सिद्धांत मुख्य रूप में इस बात को देखने का प्रयास करता है कि किसी भी इकाई का स्वामित्व व प्रबन्ध अलग-अगल हाथों में होने के कारण कुछ समस्याएँ पैदा हो सकती है। स्वामी जो मालिक है या काम करवाना चाहता है और एजेंट जिसे काम करने के लिये रखा जाता है के सम्बन्धों को समझने का प्रयास इस सिद्धांत द्वारा किया जाता है। अगर घर की सफाई के लिये किसी एजेंट या कर्त्ता को रखा जाये और आप कुछ दिन के लिये घर के बाहर चले जाये तो यह जानना आसान नहीं होगा कि एजेंट ने काम किया या नही। काम का अवलोकन करने के लिये अगर किसी से देखने को कहा जाता है तो लागत बढ़ जाती है तथा लाभ कम हो जायेंगे। इस बात को संयुक्त पूंजी कम्पनी के माध्यम से भी देख सकते हैं। शेयरधारियों तथा प्रबन्धकों में यहीमतभेद होता है। प्रबन्धक मैनेजर्स को लगाते हैं। शेयरधारी तो स्वामी होते हैं तथा मैनेजर एजेंट होता है। जहाँ शेयरधारी लाभ को अधिकतम करना चाहेंगे ताकि उनके लाभांश (dividend) अधिक हो सकें जबकि मैनेजर का उद्देश्य संगठन को आकार के बढ़ाना होता है जिससे कमचारियों के वेतन और कल्याण बढ़ाया जा सके।

आधुनिक निगमों को अगर देखें तो आज के प्रबन्धक लाभ अधिकतम करने के स्थान पर विकास या फैलाव अधिकतम करना चाहते हैं। बामोल और आर.टी.मौरिस नामक, अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में कहा था कि धर्म की सफलता उसके 'विकास की दर' तथा 'विकास की संभावना' के द्वारा मापी जाती है। प्रबन्धक यही चाहते हैं कि विकास अधिकतम हो तथा फर्म का आकार, उत्पादन तथा बिक्री को बढ़ाया जा सके। एजेंटों के ऐसा सोचने से लाभ कम हो जाते हैं। अगर स्वामी खुद ही एजेंट का काम करें तभी यह लाभ बढ़ सकते हैं। अन्यथा एजेंटों के काम का निरीक्षण नहीं किया जा सकता। एजेंटों के निहित स्वार्थ भी होते हैं, लेकिन बिल्कुल खराब काम या लगातार लाभों का कम होना सम्भव नहीं है क्योंकि तब एजेंटों को नौकरी से निकाला जा सकता है।

गैर-अधिकतमीकरण सिद्धांत (Non-Maximising Theories)

लाभ अधिकतम करना केवल एजेंटों के कारण ही नहीं कई और कारणों से भी हो सकता है। बिक्री को अधिकतम करने के कारण भी जरूरी नहीं है लाभ अधिकतम हो सकें। कई दफा ऐसा भी होता है कि लागत को न्यूनतम रखना सम्भव नहीं होता तब भी लाभ अधिकतम नहीं हो पायेंगे ऐसा भी होता है कि उत्पादकों को न्यूनतम लागत का पता ही न चलता हो या नई तकनीक की लागत अथवा आगतों संयोगों को बदलने की लागत काफी अधिक हो। उत्पादक नई तकनीक का प्रयोग इसलिये भी टाल देते हैं कि क्योंकि इनको चलाने में श्रमिक लागत काफी अधिक होगी या नये कच्चे माल भी महंगे होते हैं। कई दफा ऐसा भी होता है कि सीमान्त लागत सिद्धांत को अपनाने से अल्पकाल में हानि होती है इसलिये यह सोचा जाता है कि औसत लागत तो मिल जाये। चाहे ऐसा करने पर अतिरिक्त लाभ नहीं मिलते पर उत्पादन लागत तो मिल जाती है। कई दफा लाभ अधिक न भी हो पर वस्तुएँ उत्तम बनें जिससे धर्म का विकास हो इसलिये लाभ के स्थान पर नव परिवर्तन पर जोर दिया जाता है। हर्बर्ट साइमन ने तो कहा था कि लाभ अधिकतम करने के स्थान पर संतोषजनक व्यापक निष्पादन (Satisfactory) को अपनाना चाहिये। उनके अनुसार लाभ को अधिकतम करने के स्थान पर यह जरूरी है कि लाभ की एक संतोषजनक दर, बाजार का एक निश्चित स्तर या बिक्री का एक निश्चित स्तर प्राप्त किया जा सके। वास्तव में जब इस प्रकार का स्तर प्राप्त हो जाता है। फिर और आगे बढ़ने का प्रयास बंद कर दिया जाता है। आमतौर पर धर्म महत्त्वाकांक्षी स्तर से कम पर ही करके संतुष्ट रहते हैं। इसे हम लाभ का अधिकतम करना तो नहीं लेकिन लाभ का व्यवहारात्मक स्तर प्राप्त करना कह सकते हैं। यह सिद्धान्त अधिक वास्तविक तो लगता है पर अस्पष्ट है क्योंकि इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती। संतोषजनक स्तर का निर्धारण करना भी सीमा नहीं है।

राज्य या सरकार नामक का अस्तित्व सदियों पुराना है। समय तथा सभ्यता के परिवर्तन के साथ ही इसके स्वरूप तथा कार्य में भी काफी परिवर्तन हुए हैं। कालान्तर में इस संस्था का एक ऐसा कार्य है जिसे स्थायी माना जा सकता है और वह है 'हिंसा का एकाधिकार'। सरकारे हिंसा के एकाधिकार का प्रयोग अपने विभिन्न अंगों जैसे सैन्य शक्ति पुलिस तथा न्यायिक व्यवस्था की सहायता से करती रही है। यदि सरकार इन अधिकारों का प्रयोग निरंकुश तरीके से करती है तो इसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं। अतः एक सभ्य व विकासशील समाज की स्थापना व विकास हेतु इन हिंसक अधिकारों के ऊपर अंकुश तथा संतुलन कायम करने की आवश्यकता होती है।

सरकार के पास हिंसा एकाधिकार न होना कितना महत्त्वपूर्ण है इसका अंदाजा हमें तब होता है जब हम उन देशों की ओर देखते हैं जहाँ पर इसका अभाव है उदारहण के लिए सोमालिया, 1920 में चीन, कोलंबिया तथा रूस। ये ऐसे कुछ राष्ट्र हैं जहाँ पर हिंसा का अधिकार एकल केंद्रित नहीं था बल्कि ये शक्तियाँ कई लोगों के हाथों में बिखरी हुई थी। परिणामस्वरूप इन लोगों के आर्थिक व सामाजिक जीवन उथल-पुथल से भरे रहे। हिंसा की शक्ति यदि अनियंत्रित व असंतुलित होती है तो वह भी दीर्घकाल में उस राष्ट्र के लिए प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न करती है। जैसे संयुक्त संघ में स्टालिन, यूगान्डा में इदी अमीन, नाइजीरिया में सन्नी अबाया, तथा कम्बोडिया में पोट पोल का तानाशाही शासन।

जिस राष्ट्र की सरकार अपने हिंसा के एकाधिकार का प्रयोग नियंत्रित व संतुलित तरीके से करती है वहाँ के नागरिक अपने दैनिक आर्थिक व सामाजिक क्रिया कलापों को उत्तम तरीके से निष्पादित कर सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सरकार एक ऐसी संस्था है जिसे वहाँ के नागरिक हिंसा का एकाधिकार स्वेच्छा से देश में कानून व व्यवस्था की स्थापना करने के बदले सौंपते हैं। सरकार को वहाँ के नागरिकों द्वारा जो शक्तियाँ प्रदत्त हैं उसके बदले वहाँ के नागरिक, कानून व्यवस्था, अमन व चैन चाहते हैं। इसी व्यवस्था से सम्बन्धित है सम्पत्ति की सुरक्षा व सम्पत्ति का अधिकार सम्पत्ति का अधिकार प्रदत्त होने पर नागरिक अपने परिश्रम के फल के ऊपर अपना दावा स्थापित कर सकते हैं। सम्पत्ति के अधिकार की स्थापना के द्वारा देश की कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थाओं जैसे संयुक्त पूंजी कम्पनी, बैंक, बीमा कम्पनी तथा शेयर बाजार के अधिकारों तथा दायित्वों को परिभाषित तथा कार्यान्वित किया जाता है।

सरकार के कार्यों तथा शक्ति के महत्त्व को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्थिम ने भी कहा थाकि किसी भी सार्वभौम् सरकार के दो महत्त्वपूर्ण कार्य हैं– पहला अपने राष्ट्र को बाहरी आक्रमण तथा हिंसा से बचाना तथा दूसरा देश के अंदर कानून वजटिल अर्थव्यवस्था में भी सरकार के ये सामान्य कार्य आसान नहीं है और जहाँ की सरकारें ये कार्य ठीक से निष्पादित नहीं कर पाती वहाँ पर आर्थिक विकास की दर कभी तीव्र नहीं हो सकती है।

बाजार की कुशलता – किसी अर्थव्यवस्था में यदि कानून व्यवस्था तथा सम्पत्ति अधिकार की आदर्श स्थिति व्याप्त होती है तो वहाँ पर बिना किसी विशेष सरकारी सहायता के भी स्वतंत्र बाजार कुशलता से कार्य कर सकता है। स्वतंत्र बजार किसी अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण व प्रभावशाली संस्था है। उपभोक्ताओं की रुचि तथा उत्पादकों के उत्पादन लागत विभिन्न वस्तुओं के मूल्य संकेत उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के बाजार व्यवस्था में लाखों आर्थिक प्रतिनिधि अपने-अपने हितों की पूर्ति के लिए स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। बाजार के कीमत तंत्र इन विभिन्न आर्थिक प्रतिनिधियों के बीच इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करते हैं कि अर्थव्यवस्था के संसाधनों का विभिन्न प्रयोगों में आवंटन स्वतः ही हो जाता है। स्वतंत्र बाजार के कीमत तंत्र विभिन्न आर्थिक प्रतिनिधियों के बीच आय के वितरण को भी निर्धारित करने में सहायक होते हैं। स्वतंत्र बाजार पर आधारित अर्थव्यवस्था में फर्मों के बीच अधिक आगत तथा लाभ अर्जन के लिए प्रतिस्पर्धा होती है जिससे उपभोक्ताओं को गुणवक्तावाली वस्तु एवं सेवायें न्यूनतम मूल्य पर उपलब्ध होती है। फर्मों के बीच की यह प्रतियोगिता तकनीकी विकास को भी प्रोत्साहित करती है जिससे आम लोगों के जीवन स्तर में गुणात्मक सुधार आता है।

बाजार कैसे कार्य करता है– बाजार के कुशल कार्य सम्पादन के निम्नलिखित आधार हैः

(क) बेहतर सूचना– बाजार के द्वारा निर्धारित विभिन्न वस्तु एवं सेवाओं के मूल्य बाजार की वर्तमान तथा संभावित परिस्थितियों के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान करती हैं।

(ख) लचीलापन– किसी भी अन्य विकल्प की तुलना में स्वतंत्र बाजार अधिक लचीला होता है क्योंकि इस व्यवस्था में इसके विभिन्न आर्थिक एजेंन्टों को बाजार में हुए परिवर्तन के अनुसार अपनी स्थिति परिवर्तित तथा व्यवस्थित करने की अधिक स्वतंत्रता होती है।

(ग) बेहतर अनुकुलता– बाजार अर्थव्यवस्था में परिस्थिति (मांग एवं पूर्ति) में परिवर्तन के फलस्वरूप कीमत में परिवर्तन होते हैं। बाजार में होने वाले किसी भी परिवर्तन के प्रति इसके एजेन्ट ज्यादा सचेत व द्रुत होते हैं जबकि कोटा, आवंटन तथा रामनिंग के रूप में सरकार द्वारा उठाये गये कदम धीमी गति से कार्य करते हैं।

(घ) शक्ति का विकेन्द्रीकरण– अन्य प्रकार के अर्थव्यवस्था की तुलना में बाजार आधारित अर्थव्यवस्था में प्रत्येक प्रतिनिधि को फैसले लेने का अधिकार प्राप्त होता है। यहाँ पर निर्णय लेने सम्बन्धी शक्ति का पूर्ण विकेन्द्रीयकरण पाया जाता है। दूसरी ओर जहाँ भी संसाधनों के आवंटन कार्य केन्द्रीकृत होता है वहाँ पर भ्रष्टाचार घूसखोरी जैसी बुराईयों का जन्म होता है। परन्तु जहाँ भी बाजार संसाधनों का आवंट कुशलता तथा न्योयोचित ढंग से नहीं कर पाते वहाँ पर सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है।

बाजार आधारित अर्थव्ययवस्था में बड़े फर्म तथा मजदूर संघ काफी शक्ति सम्पन्न होते हैं। परन्तु दूसरे बड़े फर्मों के प्रवेश तथा नये उत्पादन के बाजार में आने से इनकी शक्तियों पर अंकुश लगता है।

पूर्ण प्रतियोगिती की कुशलता– आमतौर पर यह माना जाता है कि बाजार आधारित अर्थव्यवस्था दूसरे विकल्पों की तुलना में ज्यादा कुशलता से कार्य करती है। किन्तु इस विषय वस्तु को जब पेशेवर अर्थशास्त्री जब अपने बारीक नजर से देखते हैं तो पाते हैं कि बाजार आधारित अर्थव्यवस्था में भी यदि बाजार पूर्ण-प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करता है तो संतुलन की अवस्था में संसाधनों का आवंटन सर्वोत्तम व कुशलतम होता है। इस अवस्था को परेटों का सर्वोत्तम अवस्था कहा जाता है। (Pareto Optimality) जिसका नामकरण प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विलफ्रेडो परेटों के नाम पर हुआ है।

पाठ-9 में हम लोागें ने देखा कि प्रतियोगिता कुशल होता है क्योंकि यहाँ पर उपभोक्ता तथा उत्पादक केअधिशेष का योग अधिकतम होता है। पाठ-10 में हमने देखा कि एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन का स्तर आदर्श से कम होता है। इस खण्ड में पूर्ण प्रतियोगिता के कुशलता सम्बन्धी हम वैकल्पिक प्रमाण प्रस्तुत करेंगे। किन्तु इसके पूर्व हम कुशलता के अर्थ को और गहराई से से समझने का प्रयास करेंगे।

उत्पादन कुशलता– उत्पादन कुशलता वह अवस्था है जब संसाधनों के पुनर्वितरण के द्वारा किसी वस्तु के उत्पादन की मात्रा को तब तक नहीं बढ़ाया जा सकता है जब तक कि किसी अन्य वस्तु की मात्रा में कमी न की जाये।

उत्पादन कुशलता के दो पहलू हैं– पहला फर्म के अन्दर संसाधनों का आवंटन तथा दूसरा एक उद्योग के अन्दर विभिन्न फर्मों के बीच संसाधनों आवंटन। पहली शर्त के अनुसार एक फर्म तब कुशल मानी जाती है। जब वह उत्पादन की एक दी हुई मात्रा न्यूनतम लागत पर उत्पादित करे। यदि फर्म का उत्पादन लागत न्यूनतम से ज्यादा है तो लाभ से कमी होगी और वह फर्म कुशल नहीं होगा।

दूसरी शर्त के अनुसार फर्मों का उत्पादन का सीमांत लागत (MC) समान होनी चाहिये। इसके परिणामस्वरूप जो बात सुनिश्चित होती है वह यह कि उद्योग अन्तर्गत सभी फर्मों के लागत का योग न्यूनतम होता है।

आवंटन कुशलता– आवंटन कुशलता का सम्बन्ध सभी वस्तु एवं सेवाओं के उत्पादन के लिए संसाधनों के आवंटन से है। दूसरे शब्दों में आवंटन कुशलता का अर्थ उत्पादन **संभावना** वक्र के उपर विभिन्न वैकल्पिक बिन्दुओं से हैं। उदाहरण के लिए चित्र 1.1 में बिन्दु a और b के बीच चयन यह दर्शाता है कि किसी वस्तु की अधिक मात्रा उत्पादित करने के लिए दूसरी वस्तु की मात्रा में कमी करनी होगी।

आवंटन कुशलता का अर्थ है कि किसी व्यक्ति की कल्याण में वृद्धि तब तक नहीं की जा सकती जब तक की दूसरे व्यक्ति के कल्याण में कमी नहीं की जाती है। प्रश्न उठता है कि इस आवंटन की कुशलता की कैसे प्राप्त किया जाता है?

अर्थव्यवस्था में संसाधनों का आवंटन तब कुशल होता है जब प्रत्येक वस्तु का सीमांत उत्पादन लागत उसके बाजार कीमत के समान हो जाये।

इस उत्तर के तर्क को समझने के लिए हमें कीमत तथा सीमांत लागत के महत्त्व को समझना होगा। किसी भी वस्तु की कीमत उस वस्तु के उपयोगिता मूल्य को दर्शाता है। एक उपभोक्ता किसी वस्तु को दिये गये कीमत पर उतनी मात्रा क्रय करता है, जहाँ पर अंकित इकाई का मूल्य उसकी बाजार कीमत के बराबर हो जाता है। जब भी उपभोक्ता वस्तु के मूल्य से ज्यादा कीमत अदा करता है तो इससे उपभोक्ता अधिशेष उत्पन्न होती है। परंतु जब वस्तु की कीत उसके उपयोगिता मूल्य के बराबर होती है तो उपभोक्ता अधिशेष शून्य होगी। दूसरी ओर सीमांत लागत किसी वस्तु के अंतिम इकाई को उत्पादित करने पर आने वाली लागत है। अतः जब वस्तु की सीमांत लागत और कीमत बराबर होते हैं (P=MC) तो इसका अर्थ है कि इस स्तर पर वस्तु की उपयागिता मूल्य तथा वस्तु के उत्पादन में लगे संसाधनों की लागत बराबर होगी। यदि पूरी अर्थव्यवस्था पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करती है और उत्पादन के सभी

क्षेत्रो में P=MC तो संसाधनों के पुनअविंटन द्वारा उपभोक्ता अधिशेष को बढ़ाना बिल्कुल भी संभव नहीं है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोग बाजार आवंटन के दृष्टिकोण से कुशल होती है क्योंकि इस अवस्था में उपभोक्ता तथा उत्पादक अधिशेष का योग अधिकतम होता है।

बाजार कैसे असफल होते हैं– बाजार की असफलता का आशय उस अवस्था से है जब यह संसाधनों का आवंटन कुशल तरीके से करने में असमर्थ/असफल रहता है। पाठ-11 में हमने देखा कि अधिकतर उत्पादन कार्यों में फर्म अपने उत्पाद की कीमतों पर कुछ नियंत्रण रखती है क्योंकि उनके वस्तुओं की मांग वक्र की की ढाल नकारात्मक होती है न कि पूर्ण लोचदार मांग वक्र। जब फर्म की मांग वक्र की ढाल नकारात्मक होती है तो P>MC तथा अर्थव्यवस्था आवंटन कुशलता से वंचित रह जाता है। इस अवस्था को बाजार असफलता कहते हैं। ऐसी कई अवस्थाये होती हैं जब बाजार आवंअर कुशलता को प्राप्त करने में असफल रहते हैं। ये अवस्थायें निम्नलिखित हैं:

1. जहाँ पर अधिक क्षमता वाले फर्म धनात्मक कीमत निर्धारित करते हैं।
2. जहाँ पर संसाधन किसी के नहीं होते पर उसका उपयोग सभी लोग कर सकते हैं– जिसे आम संसाधन कहते हैं।
3. जहाँ पर वस्तुओं के उपयोग का अधिकार केवल उन्हीं तक सीमित नहीं रहता जो इसकी कीमत चुकाने को तैयार हों- इसे सार्वजनिक वस्तु कहते हैं।
4. जहाँ कुछ लोग बाजार में मोल-जोल का हिस्सा नहीं होते पर इसके परिणामों से प्रभावित होते हैं–इसे बाह्य प्रभाव कहते हैं।
5. जहाँ पर बाजार के लेन देन में एक पक्ष को इस लेन देने के प्रभाव की जानकारी दूसरे पक्ष की तुलना में ज्यादा रहती है– इस अवस्था को असमरूप जानकारी कहते हैं।
6. जहाँ पर आवश्यकता के अनुरूप बाजार विद्यमान नहीं रहते।
7. जहाँ पर एकाधिकार शक्ति की वजह से P#MC बाजार असफलता के उपरोक्त अवस्थाओं में सरकार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य इन असफलताओं से निपटना भी हो जाता यद्यपि कि कानून-व्यवस्था को कायम रखना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

एकाधिकार तथा प्रतियोगिता के प्रति सार्वजनिक नीतियाँ:

बाजार की असफलता का सातवाँ कारण बाजार की शक्ति था। उत्पादकों/विक्रेताओं के समूह (Cartels) तथा अल्प एकाधिकारियों (Oligopolists) द्वारा कीमत निर्धारण के व्यवहार को सरकार तथा इसके अधिकारियों द्वारा हमेशा संदेह की नजर से देखा जाता है। इन्हें हम अप्रतियोगी व्यवहार के नाम से जानते हैं। अप्रतियोगी व्यवहार एकाधिकारी के अलावा अल्पएकाधिकारी द्वारा भी अपनाया जाता है। ऐसे यंत्र व नियम जो एकाधिकारी व्यवहार को हतोत्साहित तथा प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करने हेतु अपनाए जाते हैं वे प्रतियोगिता नीति कहलाते हैं। ये नीतियाँ बाजार की संरचना तथा व्यक्तिगत फर्मों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। प्रतियोगिता को प्रोत्साहित तथा एकाधिकार को हतोत्साहित ये तो बाजार की संरचना को प्रभावित कर या व्यक्तिगत फर्मों के व्यवहार को प्रभावित करके किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार कुछ आर्थिक नियम बनाती है जिसके तहत ही फर्म अपना व्यवसाय कर सकते हैं या वह वस्तुओं एवं सेवाओं का कीमत भी निर्धारित करती है जो कि फर्मों को वसूलने होते हैं। इननीतियों से सम्बन्धित तीन पहलुओं का अध्ययन हम करेंगे– प्राकृतिक एकाधिकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण, अल्पएकाधिकार पर प्रत्यक्ष नियंत्रण तथा प्रतियोगी स्थितियों का निर्माण। पहला प्रतियोगिती सम्बन्धी नीति का आवश्यक अंग है, दूसरा भूतकाल में ही महत्त्वपूर्ण था पर अब उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है, तथा तीसरा U.K. की प्रतियोगिती नीति का वर्तमान में मुख्य अंश है।

प्राकृतिक एकाधिकार पर प्रत्यक्ष नियंत्रण

प्राकृतिक एकाधिकार उस स्थिति में उत्पन्न होती है जब किसी उत्पाद की पर्याप्त मात्रा एक ही फर्म द्वारा न्यूनतम लागत पर उत्पादिक की जा सकती है और वहाँ पर किसी दूसरे फर्म को व्यवसाय करने की कोई गुंजाइश नहीं रहती है। ऐसी स्थिति में U.K. नीति-निर्माताओं ने छोटे-छोटे फमों की स्थापना को प्रोत्साहित नहीं किया है और न ही उन्होंने उस एकाधिकारी के उत्पादन की मात्रा को नियंत्रित कर, कीमत बढ़ाकर एकाधिकारी लाभ अर्जित करने का अवसर ही प्रदान किया है। ऐसी स्थिति में सरकार के पास एक विकल्प यह हो सकता है कि उद्योग राष्ट्रीयकृत कर दिया जाय। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि उस एकाधिकारी फर्म के व्यवहार को संचालित किया जाय। वर्ष 1980 तक U.K. नीतिनिर्धारिकों ने एकाधिकारी फर्मों के राष्ट्रीयकरण को प्राथमिकता दी है तथा दूसरे विकल्प को अपनाया गया। सरकार के द्वारा जो उपाय किये जाय यह निश्चित है कि इन उपायों से ऐसे उद्योगों के व्यवहार पर नियंत्रण होता है।

अल्पकालीन कीमत तथा उत्पादन– उद्योगों को उचित कीमत उत्पादन नीति को अपनाने के लिए सरकार को क्या नीति अपनानी चाहिए?

सीमांत लागत कीमत निर्धारणः कभी-कभी सरकार चाहती है कि उत्पाद का मूल्य अल्पकालीन सीमांत लागत के बराबर होना चाहिये। (P=SMC) ताकि उपभोक्ता तथा उत्पादकों के अधिशेष का योग अधिकतम हो सके। इसे आर्थिक सिद्धांत में इसे कुशल उत्पत्ति कहते हैं।

परन्तु सीमांत लागत कीमत निर्धारण में एक समस्या है कि प्राकृतिक एकाधिकारी के पास अभी भी कुछ पैमाने का प्रतिफल बचा हो और औसत लागत वक्र (ATC) के ह्रासमान अंश पर उत्पादन कर रहा हो ताकि MC<ATC और इस स्तर पर कीमत निर्धारण हानि को उत्पन्न करेगा।

औसत लागत कीमत निर्धारण– कभी-कभी प्राकृतिक एकाधिकारी उतना उत्पादन करती है ताकि उसका कुल लागत पूरा हो जाये और वह न तो लाभ न ही हानि अर्जन करता है। दूसरे शब्दों में AR = AC

अतिदीर्घकाल– प्राकृतिक एकाधिकारी एक दीर्घकालीन अवधारणा है। अतिदीर्घकाल में तकनीक में परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी आज का प्रतियोगी फर्म भविष्य में प्राकृतिक एकाधिकारी बन जाता है तथा एकाधिकारी फर्म प्रतियोगी फर्म बन जाते हैं। इसका एक ज्वलंत उदाहरण दूरसंचार उद्योग है। हाल में ही ध्वनि प्रेषण और हार्ड कौपी सूचना का काम प्राकृतिक एकाधिकार के अन्तर्गत तथा किन्तु तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप उपग्रह प्रेषण, डाक, इन्टरनेट तथा फैक्स मशीन आदि के आविष्कार ने इन कार्यो को काफी प्रतियोगो बना दिया है। अतः सरकारी नीतियों ने समयानुकूल इस प्रकार परिवर्तन किये जाने चाहिये ताकि बाजार के संरचना व तकनीकी परिवर्तन में उचित तालमेल स्थापित किया जा सके।

प्राकृतिक एकाधिकार का नियमन

यद्यपि U.K. में अधिकतर राष्ट्रीयकृत उद्योगों का निजिकरण हो चुका है परन्तु जो भी प्राकृतिक एकाधिकार बच गए हैं उनका नियमन सार्वजनिक नियमन प्राधिकार जैसे OFTEL (दूरसंचार) OFGAS (गैस) तथा OFWAT (जल) द्वारा किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में एक संदेह व्यक्त किया जा रहा है कि यदि उद्योगों का अत्यधिक नियमन किया गया और कीमत में काफी कमी कर दी जायेगी तो इससे लाभ कम होगा इससे तकनीकी क्षेत्र में निवेश पर प्रतिकूल असर पड़ सकता है। इस चिन्ता के प्रतिक्रिया स्वरूप यह प्रावधान किया गया है कि यदि फर्मों को यह महसूस होगा कि उनके उत्पादन की कीमत काफी कम निर्धारित की गयी है तो वे इसके विरूद्ध अपील कर सकते हैं। अल्पएकाधिकार पर (Oligopoly) प्रत्यक्ष नियंत्रण समय-समय पर सरकार ने अल्पएकाधिकारी फर्मों को नियंत्रित करने के लिए इस प्रकार के कदम उठाये हैं जिससे जनता के हितों का पालन हो सके। सरकार द्वारा इस प्रकार के हस्तक्षेप के भिन्न रूप हैं – U.K. में 1945 से 1980 तक कुल अल्पएकाधिकारी फर्मों का राष्ट्रीयकरण किया गया जैसे– वायुसेवा, रेलवे, स्टील तथा कोयला खनन। USA में ये उद्योग निजी हाथों में ही छोड़ दिये गये पर उनके व्यवसाय एवं व्यवहार का नियमन सरकार द्वारा नियुक्त बॉडी द्वारा किया गया जो कि उनके उत्पादन कीमत निर्धारण तथा प्रवेश को नियमित करते थे।

अनियमन तथा निजीकरणः बीसवीं सदी के पिछले दो दशकों में विकसित तथा विकासशील दोनों ही अर्थव्यवस्थाओं में औद्योगिक क्षेत्र पर सरकारी हस्तक्षेप तथा नियंत्रण को कम करने का एक आंदोलन सा चल पड़ा है। राष्ट्रीयकृत उद्योगों का निजीकरण हो रहा है तथा निजी क्षेत्र के उद्योगों के ऊपर नियंत्रण को भी कम किया जा रहा है।

कारणः

(*i*) नियमनकारी संस्थाएँ अक्सर प्रतियोगिता को बढ़ाने का बजाय घटाती थी।

(*ii*) राष्ट्रीयकृत उद्यमों का कुशलता, उत्पादकता, विकास तथा औद्योगिक सम्बन्धों के क्षेत्र में श्रेष्ठता का विश्वास मिलना सिद्ध हुआ।

(*iii*) यातायात लागत में गिरावट तथा सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी में क्रांति के कारण छोटे उद्योगों को अब अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है।

(*iv*) आवंटन अकुशलता होने के बावजूद अल्पएकाधिकारी व्यवस्था में ही बीसवीं सदी में आर्थिक विकास तीव्र हुआ है। अधिकतर अर्थशास्त्री मानते हैं कि जब तक सरकार विभिन्न अल्पएकाधिकारियों के बीच प्रतियोगिता को बढ़ाने व कायमरखने में सक्षम है तब तक इनको नियमित करने की आवश्यकता नहीं है। पूरे विश्व में इस विश्वास ने मजबूती प्राप्त की है कि स्वतंत्र बाजार में नीति फर्म सरकार की अपेक्षा ज्यादा उत्पादक और कुशल होती है। निजीकरण के प्रभाव काफी उत्साहजनक रहे

हैं। गैस, विद्युत तथा दूरसंचार उत्पादों के कीमत में भारी गिरावट आई है। कुछ फर्म निजी क्षेत्र में आकर विश्वस्तर की श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेती हैं जो सरकारी नियंत्रण में संभव नहीं था जैसे-BT, केबलएन्ड वायरलेस तथा ब्रिटिश एयरवेज। नीजिकरण की लहर यूरोपीय संघ के अन्य देशों में भी फैली है, जैसे 1996 डेउश टेलीकम का निजीकरण।

आलोचना– निजीकरण के समर्थक ऐसा मानते हैं कि दीर्घकाल में प्राकृतिक एकाधिकार का समापन हो जाता है तथा फर्मों का निजी स्वामित्व प्रौद्योगिक गतिशीलता को भी प्रोत्साहित करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि निजी उद्यमों को एकाधिकारी कीमत वसूलने से भी रोका जा सकता है। दूसरी ओर निजीकरण के विरोधी ऐसा मानते हैं कि निजी क्षेत्र के उद्यम तकनीकी रूप से ज्यादा विकसित नहीं हो सकते तथा वे ज्यादातर एकाधिकारी की भांति व्यवहार करते हैं। इस विवाद का कोई आसान हल नहीं है और फर्म का वास्तविक व्यवहार इस बात पर निर्भर करता है कि फर्म या तो निजी या सार्वजनिक क्षेत्र में का प्रबन्धित कैसा है तथा उन पर कितना और किस प्रकार का नियमन लागू किया जाता है।

निजीकरण से सम्बन्धित एक अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना निजीकरण के तरीके को लेकर है। एक एकल इकाई के रूप में किसी सार्वजनिक इकाई को विक्रय करने से सरकार को अधिकतम आय की प्राप्ति होती है पर भविष्य में इससे आवंटन की अकुशलता उत्पन्न होती है। यदि बड़े फर्म को छोटे हिस्सों में तोड़कर बेचा जायेगा तो इससे सरकार को थोड़ी आय कम होगी पर एकाधिकार के पनपने पर रोक लगेगा जो दीर्घकाल में आवंटन कुशलता को सुनिश्चित करेगा। निजीकरण के इस आलोचना को ध्यान में रखकर ही ब्रिटिश सरकार ने 1990 तथा 1991 में विद्युत उद्योग को जब निजीकरण किया तो इसे दो हिस्सों में विभाजित कर किया। इसी प्रकार की नीति रेलवे के निजीकरण के सम्बन्ध में भी अपनायी गयी।

फर्मों को प्रतियोगिता रत रखने हेतु हस्तक्षेप– विभिन्न फर्मों के बीच प्रतियोगिता को कायम रखने के लिए सरकार द्वारा जो न्यूनतमन हस्तक्षेप हो सकता है वह है फर्मों के अनावश्यक विलय को रोकना तथा फर्मों के अनावश्यक उस सहयोग को रोकना जो वस्तु की कीमत को बढ़ाते हों।

वर्ष 1990 तक ब्रिटेन में औद्योगिक केन्द्रीकरण बहुत बढ़ गया था। इसके प्रमुख कारण थे बड़े फमों का छोटी फर्मों के कीमत पर विकसित होना विभिन्न फर्मों का आपस में विलय। परन्तु वैश्वीकरण के फलस्वरूप इस प्रकार के घरेलु केन्द्रीकरण का प्रतियोगिता के स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। यद्यपि पूरे विश्व में यातायात लागत में कमी W.T.O. के कार्यक्रम के तहत आयात शुल्क में कमी के कारण एक घरेलु बाजार में एकाधिकारी फर्म को भी विश्वस्तर पर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है, फिर भी कुछ हद तक सरकारी हस्तक्षेप को आवश्यक समझा जा रहा है।

अनसुलझे प्रश्नः अति दीर्घकाल में बाजार संरचना

एकाधिकार तथा एकाधिकारी व्यवहार के विरूद्ध जो भी तर्क है वे स्थिर तकनीक के संदर्भ में हैं। परन्तु दीर्घकाल में दो कारणों से तकनीक में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, पहला-पुराने उत्पाद को सस्ते दर पर उत्पादित करने के तरीके का खोज तथा दूसरा नए उत्पाद का अन्वेषण। प्रश्न है कि क्या बाजार की संरचना अति दीर्घकाल में नवप्रर्वतन की दर को प्रभावित करती है?

नव प्रवर्त्तन के उत्प्रेरक– नवप्रवर्त्तन के कारण उत्पाद के लागत में जब कमी आती है तो इससे दोनों प्रकार के बाजार एकाधिकारी तथा पूर्ण प्रतियोगिता को लाभ होता है। यदि एकाधिकारी अपने लागत को कम करने में सफल होता है तोइसके (ललार्जन) की संभावना अल्पकाल व दीर्घकाल दोनों बनी रहती है क्योंकि एकाधिकारी बाजार संरचना में नए फर्म के प्रवेश पर अंकुश रहता है। इस प्रकार फर्म चाहे एकाधिकारी हो अथवा अल्पएकाधिकारी हो यदि प्रवेश पर रोक हो तो इन्हें अपने उत्पाद लागत को हटाने का उत्प्रेरण हमेशा रहता है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करने वाले फर्म को भी लागत कम कर लाभार्जन की उत्प्रेरणा रहती है पर यह केवल अल्पकाल तक विद्यमान रहती है क्योंकि दीर्घकाल नए फर्म के प्रवेश के कारण असामान्य लाभ का बंटवारा हो जाता है और दीर्घकाल पूर्ण प्रतियोगी फर्म केवल सामान्य लाभ ही अर्जन कर पाते हैं। अतः लागत कम करके लाभार्जन हेतु उत्प्रेरणा एक पूर्ण तथा प्रतियोगी फर्म के लिए केवल अल्पकाल में ही रहेगी।

शोध और विकास हेतु फंडः अल्पएकाधिकारी फर्म एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म की तुलना में ज्यादा लाभार्जन कर सकते हैं, अतः उनके पास शोध व विकास हेतु ज्यादा फंड उपलब्ध होते हैं दूसरी ओर पूर्ण तथा प्रतियोगी फर्म केवल सामान्य कमा सकने की स्थिति

में होते हैं अतः शोध व विकास के ऊपर वे व्यय करने की स्थिति में नहीं होते। यही कारण है कि कृषि क्षेत्र में किसान शोध एवं विकास के लिए कुछ विशेष नहीं कर पाये हैं। कृषि क्षेत्र में काम आने वाले जो भी औजार व यंत्र का अन्वेषण व विकास हुआ है वे अल्पएकाधिकारी फर्म, विश्वविद्यालय तथा सरकारी सहायता प्राप्त संस्थानों की देन है।

एकाधिकारी तथा अल्पएकाधिकारी (Monopoly and Oligopoly) के पक्ष में शुम्पीटर को दलील

शुम्पीटर के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता की बजाय एकाधिकारी व अल्पाधिकारी बाजार विकास के लिए ज्यादा उचित है। सभी फर्म लाभ की प्रत्याशा से कार्य करते हैं जिसके लिए वे नव प्रवर्त्तन में लगातार सलग्न रहते हैं। नवप्रवर्त्तक के लिए निवेश व जोखिम उठाने की आवश्यकता होती है जिसके लिए एकाधिकार एवं अल्पएकाधिकार सबसे ज्यादा उचित बाजार-संरचना है। नवप्रवर्त्तन के लिए बाजार की शक्ति आवश्यक है जो केवल एकाधिकार व अल्पएकाधिकार के अन्तर्गत ही पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बाजार शक्ति की उपस्थिति में जो आवंटन की अकुशलता विद्यमान रहती है नव नवप्रवर्त्तन तथा तीव्र विकास के लिए पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत आवंटन कुशलता की तुलना में ज्यादा यथेष्ठ है। शुम्पीटर की परिकल्पना को सामान्य दीर्घकालीन सिद्धांत से पड़ताल करना कठिन है क्योंकि दीर्घकाल में तकनीक को स्थिर माना जाता है।

प्रतियोगिता नीति का भविष्य– यद्यपि आज कल सरकार का न उद्योगों के ऊपर ज्यादा स्वामित्व रहा है और न ही फर्मों के ऊपर उनका कोई नियंत्रण रहा है फिर भी उद्योग जगत के उपलब्धियों के प्रति वे उदासीन रवैया नहीं अपना सकते। जब तक फर्मों का व्यवहार अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली के विरूद्ध होगा सरकार का उनपर नियंत्रण आवश्यक व उचित है। अतः शुम्पीटर के जो प्रबल समर्थक भी हैं वे मानते हैं कि जन-सामान्य के हितों की रक्षा तब ज्यादा होती है जब अल्पएकाधिकारी फर्मों की आपस में प्रतियोगिता होती है ना कि उनका आपस में सहयोग व गुप्त मंत्रणा।

I

मांग तथा पूर्ति विश्लेषण

1. परिचय

किसी अर्थव्यवस्था का कुल उत्पाद विभिन्न उत्पादनों साधनों- अर्थात् भूमि, श्रम, पूंजी तथा उद्यम – के संयुक्त प्रवास का परिणाम होता है। अंततः यह कुल उत्पाद उन उत्पादन साधनों के बीच, मजदूरी, लगान, ब्याज और लाभ के रूप में वितरित हो जाता है जिन्होंने इनके उत्पादन में योगदान दिया था। वितरण सिद्धांत का उद्देश्य उन नियमों की व्याख्या करना है जिनके अनुसार यह वितरण होता है। कुल उत्पाद का वितरण इस बात पर निर्भर करता है कि बाजार में विभिन्न उत्पादन साधनों की कीमतें कैसे निर्धारित होती है। अतः उत्पादन साधनों की कीमत निर्धारण प्रक्रिया ही वितरण सिद्धांत की विषय वस्तु है।

साधनों की कीमत निर्धारण प्रक्रिया ही वितरण सिद्धांत की विषय वस्तु है।

उत्पादन साधनों के बीच राष्ट्रीय आय के वितरण के दो पहलू हैं: (1) विभिन्न साधनों की प्रति इकाई कीमत का निर्धारण और (2) कुल राष्ट्रीय आय का विभिन्न साधनों में विभाजन अर्थात् – राष्ट्रीय आय में विभिन्न साधनों का निरपेक्ष तथा सापेक्ष भाग। पहला प्रश्न तो मूलतः व्यष्टिगत अर्थशास्त्र से जुड़ा हुआ है। जिसका संबंध एक फर्म या उद्योग के स्तर पर संतुलन निर्धारण से है। दूसरा प्रश्न पूरी अर्थ-व्यवस्था के स्तर पर साधनों के बीच राष्ट्रीय आय के वितरण से संबंद्ध है, अतः समष्टिगत अर्थशास्त्र का एक भाग है। इस प्रकार वितरण का एक समष्टिगत सिद्धांत भी है और व्यष्टिगत भी। वर्तमान पाठ में हम वितरण के व्यष्टिगत सिद्धांत अर्थात् साधन-कीमतों के निर्धारण पर ही विचार करेंगे।

जिस प्रकार एक वस्तु की कीमत उनकी माँग तथा पूर्ति को व्यक्तियों की अंतःक्रिया से निर्धारित होती है, ठीक उसी प्रकार किसी उत्पादन साधन की कीमत भी उसकी मांग तथा प्रति की शक्तियों की अंतःक्रिया से निर्धारित होती है। इसलिए वितरण का सिद्धांत कीमत निर्धारण सिद्धांत (जिसका विवेचन पिछले पाठ में किया जा चुका है) का ही एक विशेष स्थिति में प्रयोग है। परन्तु उत्पादन साधनों की मांग तथा पूर्ति की कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं जिन्हें किसी साधन विशेष के कीमत-निर्धारण के संदर्भ में ध्यान में रखना आवश्यक है। यही बात उत्पादन साधनों की कीमत निर्धारण के एक अप्रय सिद्धांत के अस्तित्व को औचित्य प्रदान करती है। अब हम उत्पादन साधनों की मांग तथा पूर्ति का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

साधन कीमतें मांग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं।

I

उत्पादन साधनों की मांग

1. एक उत्पादन साधन की मांग की प्रकृति

कोई उत्पादक किसी उत्पादन साधन की क्यों मांग करता है? एक उपादन साधन की मांग प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष या व्युत्पन्न मांग होती है। एक उपभोग वस्तु की मांग इस अर्थ में प्रत्यक्ष होती है कि वह किसी मानवीय आवश्यकता की सीधे तुष्टि करती है। इस अर्थ में एक उत्पादन साधन की मांग प्रत्यक्ष मांग नहीं होती। किसी उत्पादन साधन की मांग इसलिए होती है कि वह किसी वस्तु के उत्पादन में योगदान दे सकता है जिसकी उपभोक्ता मांग करते हैं। उदाहरण के लिए, एक किसान भूमि के प्रयोग के लिए केवल इसलिए लगान अदा करता है क्योंकि भूमि किसी वस्तु, मान लीजिए गेहूं, के उत्पादन में सहायक होती है जिसकी उपभोक्ता मांग करते हैं। इसी प्रकार, वह बीज, खाद आदि खरीदता है क्योंकि ये ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होते हैं जिनकी उपभोक्ता मांग करते हैं।

किसी साधन की मांग उन वस्तुओं की मांग से व्युत्पन्न होती है जिनके उत्पादन में वह साधन सहायक होता है।

जब कोई उत्पादक किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई अन्य साधनों की एक नियत मात्रा के साथ नियोजित करता है, तो उसे कुछ अतिरिक्त (भौतिक) उत्पाद प्राप्त होता है। किसी साधन की मांग करते समय उत्पादक की दिलचस्पी उस अतिरिक्त भौतिक उत्पादन में उतनी नहीं होती जितनी कि उस अतिरिक्त आय में जो अतिरिक्त (भौतिक) उत्पाद के कारण उसे प्राप्त होगी। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि उत्पादक एक साधन की मांग इसलिए करता है क्योंकि वह साधन अंततः उसकी आय में योगदान करता है। इसलिए वह कीमत जो एक उत्पादक किसी साधन इकाई के लिए देने को तैयार होगा, वह उस वृद्धि पर निर्भर करेगी जो उस साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के परिणामस्वरूप उसकी कुल आय में होती है। वह अतिरिक्त आय जो किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण एक उत्पादक को प्राप्त होती है, तकनीकी भाषा में सीमांत आय उत्पादक (Marginal Revenue Product) कहलाती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि भूमि के एक दिए हुए टुकड़े पर 10 श्रमिकों की सहायता से एक भूस्वामी का कुल उत्पादन 100 क्विंटल गेहूं होता है जो बाजार में 20,000 रुपये का बिकता है। यह भी मान लीजिए कि जब भूस्वामी भूमि के उसी टुकड़े पर 10 की बजाय 11 श्रमिक लगाता है, तो उसकी कुल उत्पादन 110 क्विंटल गेहूं होता है जो बाजार में 22,000 का बिकता है। स्पष्ट है कि एक अतिरिक्त श्रमिक (अर्थात् 10 की बजाय 11) लगाने से उत्पादक की कुल आय 20,000 रु. की बजाय 22,000 रु. हो जाती है अर्थात् उसकी कुल आय में 2,000 रु. की वृद्धि होती है। अतः 2,000 रू. अतिरिक्त आय ही श्रमिक का सीमांत अब उत्पाद (सी.आ.उ.–MRP) है। किसी साधन की मांग करते समय उत्पादक का ध्यान इसी मात्रा अर्थात् MRP पर केन्द्रित होता है। अतः साधनों की मांग उन वस्तुओं की मांग से उत्पन्न होती है। जिनके उत्पादन में से सहायक होते हैं।

2. सीमांत उत्पाद की विभिन्न अवधारणाएँ

सीमांत उत्पाद (Marginal Product) की अवधारणा तीन भिन्न अर्थों में प्रयोग की जाती है। प्रथम, इस अवधारणा का प्रयोग कुल उत्पादन में हुई उस वृद्धि को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जो कुछ साधनों की एक निश्चित मात्रा के साथ किसी परिवर्ती साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण होती है। तकनीकी भाषा में यह अतिरिक्त उत्पादन सीमांत भौतिक उत्पाद (Marginal Physical Product) कहलाता है। उदाहरण के लिए, यदि भूमि के एक टुकड़े पर 10 की बजाय 11 श्रमिक लगाने से कुल (भौतिक) उत्पाद 220 क्विंटल गेहूं हो जाता है, तो ग्यारहवें श्रमिक का MPP (सीमांत भौतिक उत्पाद) 20 क्विंटल गेहूं होगा। अतः एक साधन का MPP कुल भौतिक उत्पाद में हुई वह वृद्धि होती है जो अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रखते हुए उस साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण होती है।

साधन की एक अतिरिक्त इकाई के कारण कुल भौतिक उत्पाद में हुई वृद्धि सीमांत भौतिक उत्पाद कहलाता है।

दूसरे, सीमांत उत्पाद (MP) की अवधारणा का प्रयोग आय उत्पत्ति के अर्थों में भी किया जाता है। शेष सभी साधनों की मात्रा स्थिर रखते हुए, किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण उत्पादक की कुल आय में हुई वृद्धि उस साधन का सीमांत आय उत्पाद (MRP) कहलाती है। उपरोक्त उदाहरण के अनुसार, जब किसान दिए हुए भूमि के टुकड़े पर 10 की बजाय 11 श्रमिक लगाता है तो कुल भौतिक उत्पाद 200 क्विंटल की बजाय 220 क्विंटल गेहूं होता है। यदि 200 क्विंटल की बजाय 220 क्विंटल

गेहूं बाजार में बेचने से उत्पादक की कुल आय 40,000 रुपये की बजाय 42,000 रुपये होती है तो ग्यारहवें श्रमिक का सीमांत आय उत्पाद (MRP) 2,000 रुपये होगा।

साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण कुल आय में हुई वृद्धि सी.आ. उत्पाद कहलाता है।

यह स्पष्ट है कि किसी साधन का सीमांत आय उत्पाद (MRP) दो बातों पर निर्भर करेगाः (1) उत्पादित वस्तु की अतिरिक्त मात्रा तथा (2) वस्तु की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई का उत्पादक की कुल आय में योगदान। किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियेजन के कारण प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) कहलाता है और उत्पाद की एक अतिरिक्त इहकाई का कुल आय में योगदान सीमांत आय (MR) कहलाता है। इस प्रकार सीमांत आय उत्पाद (MRP) = सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) × सीमांत आय (MR)।

तीसरे, सीमांत उत्पाद की अवधारणा का प्रयोग एक साधन के सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) के बाजार मूल्य के अर्थ में भी किया जाता है। उपरोक्त उदाहरण के अनुसार, ग्यारहवें श्रमिक का सीमांत भौतिक उत्पाद (MPP) 20 क्विंटल गेहूं है। यदि गेहूं की चालू बाजार कीमत 200रु. प्रति क्विंटल है तो अतिरिक्त उत्पाद का बाजार मूल्य 4,000 रुपये होगा। इस उदाहरण के अनुससार ग्यारहवें श्रमिक के सीमांत भौतिक उत्पाद का मूल्य (Value of Marginal Product–VMP) 4,000 रुपये होगा। सीमांत उत्पाद का मूल्य सीमांत भौतिक उत्पाद तथा वस्तु की बाजार कीमत का गुणनफल होता है। फर्म के सिद्धांत के संदर्भ में पहले ही यह बताया जा चुका है कि वस्तु की कीमत तथा उत्पादक की औसत आय दोनों एक ही हैं। अतः

VMP = MPP × AR

अर्थात् सीमांत उत्पाद का मूल्य = सी.भौ. उत्पाद × औसत आय (अर्थात् वस्तु की कीमत)

सी.भौ. उत्पाद का बाजार मूल्य, सी उत्पाद का मूल्य कहलाता है।

3. सीमांत आय उत्पाद (MRP) तथा सीमांत उत्पाद के मूल्य (VMP) में सम्बन्ध

MRP = MPP × MR जबकि VMP = MPP × AR

MPP दोनों अवधारणाओं में सम्मिलित है। जैसाकि छठे पाठ-समूह में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है, MPP उत्पादन की केवल तकनीकी परिस्थितियों पर निर्भर करता है जबकि MR तथा AR उन बाजार परिस्थतियों पर निर्भर करते हैं जिनमें फर्म अपने उत्पाद को बेचती है। यदि फर्म अपने उत्पाद को एक पूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार में बेचती है तो उसकामांग वक्र पूर्णतया लोचदार होगा और उसकी औसत आय (AR) तथा सीमांत आय (MR) समान होंगी। इसलिए वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थित में साधन का MRP (=MPP × MR) तथा VMP (MPP × AR) दोनों समान होंगे क्योंकि फर्म की AR तथा MRसमान है। परन्तु यदि फर्म अपना उत्पाद अपूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार में बेचती है, तो साधन के MRP तथा VMP समान नहीं होंगे। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में MR बाजार कीमत अर्थात् AR से सदा कम होंगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिती की स्थिति में MRP (MPP × MR) आवश्यक रूप से VMP = (MPP × AR) से कम होगा क्योंकि इस स्थिति में MR सदा AR से कम रहेंगी। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की हालत में ही साधन के MRP तथा VMP समान होंगे तथा अपूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार की स्थिति में MRP आवश्यक रूप में VMP में कम रहेगा।

वस्तु बाजार में पूर्ण प्रति-योगिता की स्थिति में सी.आय उत्पाद, सी. उत्पाद के मूल्य के बराबर होता है।

वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में सी.आ. उत्पाद, सी उत्पाद के मूल्य से कम होता है।

इस प्रकार,

(1) पूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार की स्थिति मेंः

MRP (MPP × MR) = VMP (MPP × AR) क्योंकि MR = AR

(2) अपूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार की स्थिति मेंः

MRP (MPP × MR) < VMP (–MPP × AR) क्योंकि MR<AR

पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार में सी. आ. उत्पाद तथा सी. उत्पाद का मूल्य-उदाहरण।

उपरोक्त निष्कर्ष को एक साधारण उदाहरण की सहायता से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक किसान भूमि के लिए एक टुकड़े पर जब 20 की बजाय 21 श्रमिक लगता है, तो कुछ भौतिक उत्पादन 200 क्विंटल की बजाय 220 क्विंटल

चावल होता है। इस उदाहरण के अनुसार इक्कीसवें श्रमिक का MPP 20 क्विंटल चावल है। मान लीजिए कि किसान अपना उत्पाद एक पूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार में बेचता है और चावल की कीमत तब भी 100रु. प्रति क्विंटल ही रहती है, जबकि वह पहले से अधिक उत्पाद बाजार में बेचता है। इस स्थिति में इक्कीसवें श्रमिक का MRP अर्थात् उत्पादक की कुल आय में वृद्धि (= 220×100– 200 × 100) = 20 × 100= 2000 रु. होगा। इस उदाहरण में, VMP (MPP × AR) भी 2000 रु. (20 × 100) ही होगा। अब यह कल्पना कीजिए कि किसान अपने उत्पाद को एक अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में बेचता है जिसके कारण जब वह 200 क्विंटल की बजाय 220 क्विंटल चावल बाजार में बेचता है तो कीमत 100रु. की बजाय 98रु. प्रति क्विंटल हो जाती है। इस स्थिति में इक्कीसवें श्रमिक का MRP 1560रु. (अर्थात् 220 × 98 – 200 × 100 = 1560) होगी और VMP (MPP × AR)20 × 98 =1960 रू होगा। इस स्थिति में MPP क्यों VMP से कम हैं? कारण स्पष्ट है। जब अधिक उत्पाद बेचने से चावल की कीमत 10 रू. से 98रू. प्रति क्विंटल रह जाती है, तो कीमत में यह कमी (अर्थात् 2रू. प्रति क्विंटल) न केवल अतिरिक्त उत्पाद (अर्थात् MPP = 20) लागू होती है; अपितु पुराने उत्पाद (अर्थात् 200) पर भी जो पहले 98 रुपये की बजाय 100रु. प्रति क्विंटल पर बाजार में बिकता था। इस प्रकार जहां एक ओर अतिरिक्त उत्पाद (MPP) की बिक्री से उत्पादक को अतिरिक्त आय (=20 × 98 = 1960) रुपये प्राप्त होती है, दूसरी ओर कीमत में 2 रुपये प्रति क्विंटल कमी होने के कारण उसे 200 क्विंटल पर 2 रुपये प्रति क्विंटल पहले से कम आय प्राप्त होती है। इस स्थिति में MRP अर्थात् उत्पादक की कुल आय में वृद्धि 1960 – 400 = 1560 रुपये के बराबर होगी। अतः एक सामान्य सूत्र के रूप में हम कह सकते हैं कि वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में साधन का MRP उसके VMP से उतना ही कम होगा। जितनी कि कीमत में कमी के कारण पहले उत्पाद से प्राप्त कुल आय में कमी होती है। प्रस्तुत उदाहरण के अनुसार जब बाजार में 200 क्विंटल की बजाय 220 क्विंटल चावल बेचने के कारण कीमत 2 रुपये प्रति क्विंटल गिरती है, तो उत्पादक के पहले उत्पाद (अर्थात् 200 क्विंटल) से भी 400 रुपये कम आय प्राप्त होती है। इसलिए इक्कीसवें श्रमिक का MRPउसके VMP(=98 × 20 = 1960) से 400 रूपये कम होगा।

4. सीमांत आय उत्पाद (MRP) वक्र की आकृति

किसी साधन की मांग उसके MRP से व्युत्पन्न होती है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यह MPP तथा MR पर निर्भर करता है। इसलिए MRP की प्रकृति साधन की नियोजित मात्रा में परिवर्तन के साथ उसके घटकों अर्थात्MPP तथा MR की प्रवृतियों पर निर्भर करेगी। दी हुई परिस्थितियों के अंतर्गत MPP की प्रवृत्तियों पर निर्भर करेगी। दी हुई परिस्थतियों के अंतर्गतMPP की प्रवृत्ति ह्रासमान प्रतिफल नियम (या परिवर्तनशील अनुपातों का नियम) की प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होती है। इस नियम के अनुसार,जब कुछ साधनों की एक निश्चित मात्रा के साथ एक परिवर्ती साधन की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है, तो एक बिन्दु के पश्चात् साधन का MPP घटना आरम्भ हो जाता है। इस नियम को हम एक साधारण गणितीय उदाहरण की सहायता से समझाते हैं। कल्पना कीजिए कि एक किसान भूमि के एक दिए हुए टुकड़े पर अधिकाधिक श्रमिक लगा रहा है। दी हुई भूमि तथा उपकरणों के साथ अधिकाधिक श्रमिक लगाने से प्राप्त कुल, औसत तथा सीमान्त भौतिक उत्पाद के कल्पित आंकड़े नीचे तालिका 8.1 में दिए गए हैं।

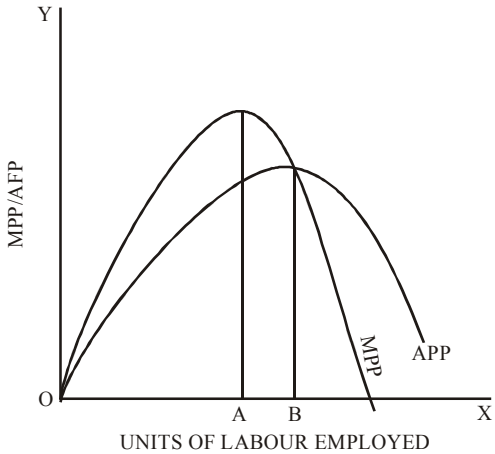
ह्रासमान सीमान्त उत्पादिता निम्न से कारण सी.ओ उत्पाद एक बिन्दु के पश्चात् घटना आरम्भ हो जाता है।

तालिका 8.1

श्रमिकों की संख्या	कुल भौतिक उत्पाद	औसत भौतिक उत्पाद	सीमान्त भौतिक उत्पाद
1	15	15	15
2	36	18	21
3	60	20	24
4	92	23	32
5	120	24	28
6	144	24	24
7	161	23	17
8	176	22	15
9	189	21	13
10	189	19	0
11	176	16	(–) 13

उपरोक्त तालिका के आंकड़ों से स्पष्ट है कि औसत तथा सीमान्त भौतिक उत्पाद दोनों ही एक बिन्दु तक बढ़ते हैं और फिर गिरना आरम्भ कर देते हैं। सीमांत भौतिक उत्पाद औसत भौतिक उत्पाद की अपेक्षा अधिक तेजी से गिरना है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पांचवें श्रमिक के नियोजन के साथ MPP गिरना आरम्भ कर देता है। यही घटनाक्रम नीचे रेखाचित्र 8.1 की सहायता से दिखाया गया है:

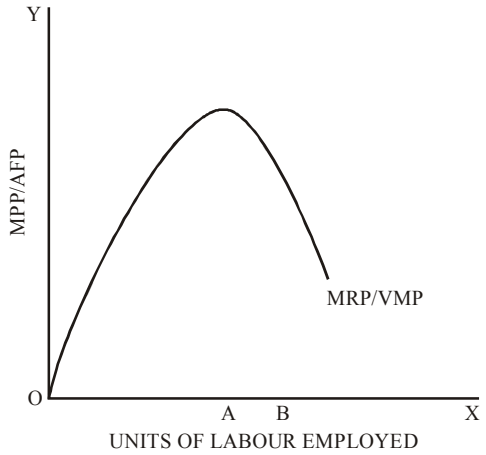
रेखाचित्र 8.1



रेखाचित्र 8.1 में MPP वक्र OA इकाइयों के नियोजन स्तर तक ऊपर को उठता है और उसके पश्चात् लगातार नीचे गिरता जाता है। APP वक्र (औसत भौतिक उत्पाद वक्र) OB इकाइयों के नियोजन स्तर तक ऊपर को उठता है और फिर नीचे गिरना आरम्भ कर देता है। APP तथा MPP के बीच वही सम्बन्ध है जो औसत और सीमांत लागत के बीच है तथा जिसका वर्णन पिछले पाठ समूह में किया जा चुका है।

MPP वक्र को MRP वक्र में परिवर्तित करने के लिए हमें यह जानने की आवश्यकता है कि साधन के प्रत्येक नियोजन स्तर से सम्बद्ध MPP का कुल आय में क्या योगदान है। हम यह बात फिर दोहराते हैं कि MPP पूर्णतया उत्पादन की तकनीकी स्थितियों पर निर्भर करता है, जबकि इससे प्राप्त होने वाली आय वस्तु बाजार की स्थितियों पर निर्भर करती है जिनमें फर्म अपना उत्पाद बेचती है। यदि फर्म अपना उत्पाद एक पूर्ण प्रतियोगी बाजार में बेचती है तो उसकी MR तथा AR समान होंगी। इस स्थिति में, साधन के प्रत्येक नियोजन स्तर से सम्बद्ध MPP को दी हुई बाजार कीमत से गुणा करके साधन के MPP वक्र MRP को वक्र में परिवर्तित किया जा सकता है। नीचे रेखाचित्र 8.2 में रेखाचित्र 8.1 के MPP वक्र के अनुरूप MRP वक्र दिखाया गया है।

रेखाचित्र 8.2



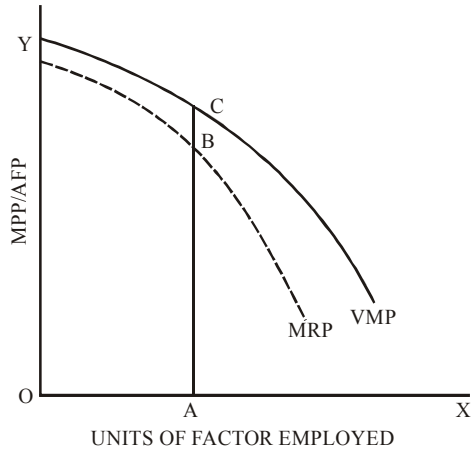
इसी कारण सी.आ. उत्पाद भी एक बिंदु के पश्चात् घटना आरम्भ हो जाता है।

यह बात ध्यान देने की है कि MRP वक्र को भी MPP वक्र की तरह दाई ओर नीचे को गिरता है। MRP वक्र की इस आकृति का कारण परिवर्ती साधन की ह्रासमान सीमांत उपयोगिता है। यह भी याद रखिए कि इस विशेष स्थिति में MRP वक्र साधन का VMP वक्र भी है।

जैसाकि पहले वर्णन किया जा चुका है, यदि फर्म को अपना उत्पाद एक अपूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार में बेचना पड़ता है, तो यह अधिक उत्पाद कीमत कम करके ही बेच सकेगी जिसके कारण उसकी MR कीमत अर्थात् AR से कम होगी। इसके दो परिणाम होते हैं। प्रथम, क्योंकि फर्म अधिक उत्पाद पहले से कम कीमत पर बेच पाती है, इसलिए VMP वक्र (जो कि दिए हुए MPP वक्र से साधन के प्रत्येक नियोजन स्तर से सम्बद्ध MPP को प्रचलित बाजार कीमत से गुणा करके प्राप्त किया जाता है) MPP वक्र से अधिक तेजी से नीचे गिरेगा। दूसरे, क्योंकि MR, वस्तु की कीमत यानी AR से कम होगी, इसलिए MRP वक्र VMP वक्र से नीचे रहेगा और उसकी अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे गिरेगा। नीचे रेखाचित्र 8.3 में अपूर्ण प्रतियोगी वस्तु बाजार की स्थिति में एक उत्पादन साधन के VMP तथा MRP वक्र दिखाए गए है।

नीचे तालिका 8.2 में कुछ कल्पित आंकड़ों की सहायता से VMP तथा MRP के बीच अन्तर को और अधिक स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र 8.3



तालिका 8.2

साधन की इकाइयाँ	कुल भौ. उत्पाद	(MPP) सीमांत भौतिक	वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता				वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता			
			कीमत	कुल आय	सी.आ.	सी.उ.	कीमत	कुल आय	सी.आ	सी.उ.का.मू.
			AR	TR	MRP	VMP	AR	TR	MRP	VMP
1	15	15	100	1500	1500	1500	100	1500	1500	1500
2	36	21	100	3600	2100	2100	99	3564	2064	2079
3	60	24	100	6000	2400	2400	98	5880	2316	2352
4	92	32	100	9200	3200	3200	97	8924	3044	3104
5	120	28	100	12000	2800	2800	96	11520	2596	2688
6	144	24	100	14400	2400	2400	95	13680	2160	2280
7	161	17	100	16100	1700	1700	94	15134	1454	1592
8	176	15	100	17600	1500	1500	93	16368	1234	1395
9	189	13	100	18900	1300	1300	92	17388	1020	1196
10	197	8	100	19700	800	800	91	17927	539	728

व्याख्यात्मक नोटः

1. MPP (सीमांत भौ. उत्पाद) = दो उत्तरोत्तर कुल भौ. उत्पादों का अन्तर।
2. TR (कुल आय) = कुल भौ. उत्पाद × AR (वस्तु की कीमत)।
3. MRP (सीमांत आय उत्पाद का) = दो उत्तरोत्तर कल आयों की अन्तर।
4. VMP (सीमांत उत्पाद का मूल्य) = MPP × AR (वस्तु की कीमत)।

तालिका 8.2 में निम्नलिखित बातों पर ध्यान दें:

(1) कुल भौतिक उत्पाद तथा सीमांत भौतिक उत्पाद के आंकड़े दोनों बाजार स्थितियों के लिए वही है क्योंकि वे केवल उत्पादन की तकनीकी शर्तों पर निर्भर करते हैं।

(2) वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में MRP तथा VMP के आंकड़ें समान हैं।

(3) वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में MRP हर बिन्दु पर VMP से कम है।

5. किसी उत्पादन साधन के लिए एक फर्म की मांग

जैसे यह सच है कि एक अधिकतम लाभ के उद्देश्य वाली फर्म, चाहे वह अपना उत्पाद पूर्ण प्रतियोगी बाजार, अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में या फिर एकाधिकारी बाजार में बेचती है, उस बिन्दु पर उत्पाद करेगी जहां उसकी सीमांत लागत उसकी सीमांत आय के बराबर होती है, ठीक उसी प्रकार यह भी सच है कि फर्म एक परिवर्ती साधन की उतनी ही इकाइयां नियोजित करेगी जिससे कि साधन की सीमांत लागत उसके MRP के समान हो जाए। इस प्रकार एक परिवर्ती साधन की खरीद में फर्म तभी संतुलन में होगी जबकि साधन की सीमांत लागत उसकी MRP के बराबर हो।

अतः संतुलन की शर्त हैः

MFC (Marginal Factor Cost) = MRP ...(1)

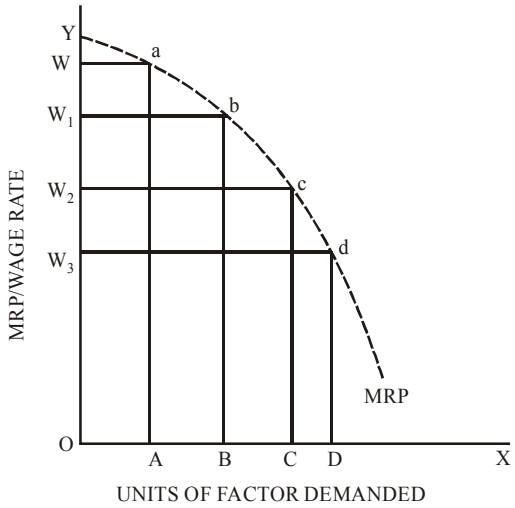
साधन की सीमांत लागत = उसके सीमांत आय उत्पाद

एक एक पूर्णतया सामान्य संतुलन शर्त है कि जिसका सभी बाजार स्थितियों में पूरा होना आवश्यक है। यदि हम यह भी मान लें कि फर्म बाजार कीमत को प्रभावित किए बिना साधन की जितनी मात्रा चाहे खरीद सकती है (अर्थात् साधन बाजार पूर्ण प्रतियोगी है,) तो साधन की बाजार कीमत (अर्थात् AFC) ही उसकी सीमांत लागत (अर्थात् MFC) भी होगी। इसलिए उन फर्मों के लिए जो पूर्ण प्रतियोगी बाजार में साधन खरीदती है, उपरोक्त संतुलन शर्त (1) को इस प्रकार भी लिखा जा सकता हैः

AFC = MRP ...(2)

साधन बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में भी था।

रेखाचित्र 8.4



संतुलन की यह शर्त साधन के MRP वक्र से फर्म का साधन के लिए मांग वक्र व्युत्पन्न करने में हमारी सहायता करती है। साधन का MRP वक्र, अन्य साधनों की एक नियत मात्रा के साथ इस साधन की विभिन्न नियोजित यात्राओं से सम्बद्ध MRP को

दिखाता है। किसी साधन के लिए एक फर्म का मांग वक्र यह दिखाता है कि साधन की विभिन्न कीमतों पर फर्म साधन की कितनी-कितनी मात्राएँ खरीदने को तैयार होगी। इसलिए जब एक फर्म पूर्ण प्रतियोगी बाजार में साधन खरीदती है(अर्थात् MFC = AFC) , तो साधन का MRP वक्र फर्म का मांग वक्र बन जाता है जैसा कि नीचे रेखाचित्र 8.4 में दिखाया गया है।

उत्पाद वक्र ही एक फर्म का साधन के लिए मांग वक्र होता है।

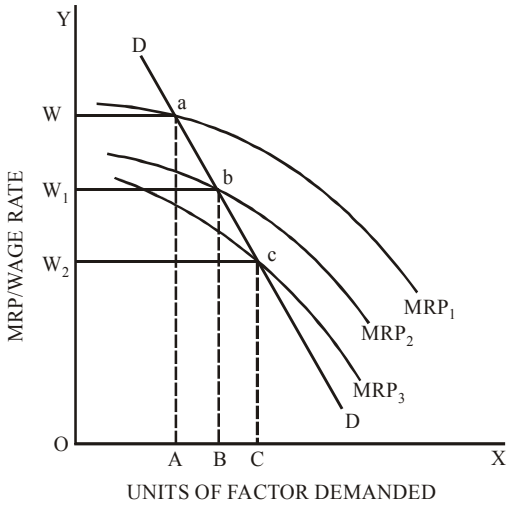
उत्पाद दिए गए रेखाचित्र में साधन की OA मात्रा बिन्दु a पर MRP का साधन की कीमत से समानीकरण करती है। इसलिए OW कीमत पर फर्म साधन की OA मात्रा खरीदने को तैयार होगी। साधन की OB मात्रा बिन्दु b पर MRP का कीमत OW_1, से समानीकरण करती है। अतः OW_1 कीमत पर फर्म साधन की OB मात्रा खरीदने को तैयार होगी। इसी प्रकार OW_2 कीमत पर फर्म साधन को OC मात्रा खरीदने को तैयार होगी। परन्तु यहां हमें यह बात नोट करनी चाहिए कि साधन का MRP वक्र तभी फर्म का मांग वक्र होगा जबकि साधन की कीमत तथा वस्तु की कीमत दोनों ही फर्म के लिए दिए हुए तथ्य हों।

6. एक उत्पादन साधन के लिए बाजार मांग वक्र

उपरोक्त रेखाचित्र में साधन का MRP वक्र इस मान्यता के अन्तर्गत फर्म का मांग वक्र है कि साधन की कीमत में परिवर्तन का, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, उत्पादित वस्तु की कीमत और उसके परिणामस्वरूप साधन के MRP वक्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह मान्यता तभी ठीक हो सकती है जबकि साधन की कीमत में परिवर्तन के बावजूद अन्य सभी फर्मे साधन विशेष के नियोजन स्तर में (अर्थात् अपने उत्पादन स्तर में) कोई परिवर्तन न करें। परन्तु यह एक यथार्थवादी मान्यता नहीं है। किसी साधन की कीमत गिरने की स्थिति में यह आशा की जाती है कि उद्योग में सभी फर्में इस (अपेक्षाकृत सस्ते) साधन की अधिकाधिक मात्राओं का नियोजन करेंगी। इसके फलस्वरूप वस्तु का कुल उत्पादन पड़ेगा और उसकी बाजार कीमत गिरेगी। वस्तु की कीमत में कमी फर्मों के MRP वक्रों को नीचे गिराएगी। साधन की नई कीमत के संदर्भ में फर्म साधन की खरीद नए MRP वक्र (जो कि वस्तु की गिरी हुई कीमत पर आध ाारित है) के अनुरूप नियंत्रित करेंगे। अतः साधन की कीमत में होने वाली प्रत्येक कमी (साधन के नियोजन स्तर, कुल उत्पादन स्तर और इसके परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत पर प्रभाव के माध्यम से) एक नए, पहले से नीचे MRP वक्र (जो कि वस्तु की गिरी हुई कीमत पर आधारित है) के अनुरूप नियंत्रित करेंगे। अतः साधन की कीमत में होने वाली प्रत्येक कमी (साधन के नियोजन स्तर, कुछ उत्पादन स्तर और इसके परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत पर प्रभाव के माध्यम से) एक नए, पहले से नीचे MRP वक्र को जन्म देती है जिस पर साधन की प्रचलित कीमत के अनुरूप एक संतुलन बिंदु होगा। साधन की कीमत में परिवर्तन के प्रति फर्मों की प्रतिक्रिया का समावेश करने पर जो विभिन्न MRP वक्रों पर स्थित संतुलन बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा होगी वही साधन के लिए फर्म का मांग वक्र होगी। ऐसा ही एक मांग वक्र नीचे रेखा चित्र 8.5 में खींचा गया है।

किसी साधन के बाजार मांग वक्र में साधन की कीमत में परिवर्तन के प्रति सभी फर्मों की प्रतिक्रिया सम्मिलित होती है।

रेखाचित्र 8.5



ऊपर दिए रेखाचित्र में, OW साधन कीमत के साथ फर्म बिन्दु a पर संतुलन प्राप्त करती है और साधन की OA मात्रा खरीदती है। अब मान लीजिए कि साधन की कीमत OW से गिरकर OW_1 हो आती है। साधन की कीमत में कमी के कारण उद्योग में सभी फर्में इस अपेक्षाकृत सस्ते साधन की अधिक मात्राओं का नियोजन करती हैं, जिसके फलस्वरूप उद्योग का कुल उत्पादन बढ़ता है और वस्तु की कीमत गिर जाती है। वस्तु की कीमत में कमी के कारण सभी फर्मों के MRP वक्र बाई ओर नीचे गिर जाता है। मान लीजिए इन प्रभावों के कारण रेखाचित्र 8.5 में MRP_1 वक्र गिर कर MRPs वक्र का स्थान ले लेता है। MRP_2 वक्र तथा OW_2 साधन कीमत के साथ फर्म का संतुलन बिंदु b पर स्थापित होती है। इसी प्रकार जब साधन की कीमत और गिरकर OW_2 हो जाती है, तो MRP_2 वक्र स्थानांतरित होकर MRP_3 का स्थान ले लेता है जिस पर फर्म बिंदु c पर संतुलन प्राप्त करती है। इस प्रकार साधन की कीमत में कमी के परिणामस्वरूप MRP वक्र बाई ओर नीचे को खिसकता जाता है तथा हर नई साधन कीमत के अनुरूप एक नया संतुलन बिन्दु प्राप्त होता है। साधन कीमत में परिवर्तन के प्रति फर्मों की प्रतिक्रिया का समावेश करने पर a, b, c, d, जैसे संतुलन बिन्दुओं को मिलाने वाली जो रेखा DD बढ़ती है, वही साधन विधि के लिए फर्म का मांग वक्र है। प्रयोग में सभी फर्मों के व्यक्तिगत मांग वक्रों का पाश्वर्तः जोड़ करने में हमें उस साधन का बाजार मांग वक्र प्राप्त होता है। फर्म के व्यक्तिगत मांग वक्र की तरह ही साधन का बाजार मांग भी दाई ओर नीचे को गिरता है।

7. अपूर्ण प्रतियोगी साधन बाजार की स्थिति में साधन के लिए फर्म का बाजार मांग वक्र

यह बात हम पहले विस्तारपूर्वक समझा चुके हैं कि सभी बाजार स्थितियों में MRP तथा MFC की समानता ही एक परिवर्ती साधन की खरीब में फर्म का संतुलन निर्धारित करती है। परन्तु किसी साधन के लिए फर्म का मांग वक्र जो साधन की विभिन्न कीमतों पर फर्म द्वारा मांगी गई साधन की विभिन्न मात्राओं को व्यक्त करता है, इस मान्यता पर आधारित है कि MFC तथा AFC समान है जिसके कारण MFC तथा MRP की समानता साथ-साथ AFC (अर्थात् साधन की कीमत) तथा MRP की समानता भी स्थापित करती है। इसका निहितार्थ यह है कि फर्म पूर्ण प्रतियोगी बाजार में साधन खरीदती है जिसके कारण वह साधन की जितनी मात्रा चाहे, कीमत को तनिक भी प्रभावित किए बिना, खरीद सकती है तथा उनके लिए साधन की MFC और AFC (साधन की कीमत) दोनों समान हैं। हमने पिछले उपखण्ड में व्यक्तिगत फर्म का मांग वक्र तथा बाजार मांग वक्र इसी मान्यता के आधार पर खींचे थे। परंतु यदि कोई फर्म अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में साधन खरीदती है तो वह साधन की अधिकाधिक मात्राएँ केवल उत्तरोत्तर ऊँची कीमतों पर ही खरीद पाती है। इस स्थिति में साधन की MFC उसकी AFC से निश्चय ही अधिक होती है। जब एक फर्म के लिए किसी साधन की MFC उसकी AFC से अधिक होती है, तो ऐसी फर्म AFC का MRP से समानीकरण नहीं कर सकती क्योंकि ऐसा करने से साधन की प्रत्येक इकाई पर MFC तथा AFC के अन्तर के बराबर हानि होती है जिसके परिणामस्वरूप उसका कुल लाभ अधिकतम से कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में MRP वक्र को पारम्परिक अर्थ में फर्म का मांग वक्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह साधन की विभिन्न कीमतों पर फर्म की साधन के लिए मांग को व्यक्त नहीं करता। हां एक भिन्न अर्थ में इसे फर्म का मांग वक्र कहा जाता है जिसकी व्याख्या हम बाद में करेंगे।

उपखण्ड 2

साधनों की पूर्ति

1. सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए साधनों की पूर्ति

आर्थिक खर्च में प्रत्येक साधन की पूर्ति लोचदार होती है।

साधारणतः ऐसा लगता है कि किसी अर्थव्यवस्था में साधनों की मात्रा स्थिर है। उदाहरण के लिए श्रमिकों की संख्या की भी एक अधिकतम सीमा है। एसी तरह किसी अर्थव्यवस्था में उपलब्ध कोयला, तेल, तांबा, कच्चा, लोहा आदि की मात्राओंकी भी एक अधिकतम सीमा है। लेकिन व्यवहार में हम इस सीमा तक कभी पहुँचते नहीं। अक्सर बहुत बड़ी मात्रा में साधन प्रयुक्त पड़े रह जाते हैं। कुछ साधनों की खोज ही नहीं होती। किसी साधन की कमी हो जाने पर उसकी कीमत बढ़ जाती है। इससे साधनों की खोज को प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही जो साधन पहले महंगे होने के कारण प्रयोग मे नहीं लोय जाते थे, उन्हें विकसित करके प्रयोग में लाया जाता है। अतः किसी अर्थव्यवस्था में सामान्यतः साधनों की पूर्ति बहुत हद तक कीमत के साथ परिवर्तित होती है। इस भूमिका के साथ हम प्रत्येक साधन की पूर्ति के विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख करेंगे।

2. भूमि की पूर्ति

जितने भी उत्पादन साधन प्रकृति-प्रदत्त होते हैं, अर्थशास्त्र में उन्हें भूमि में शामिल किया जाता है। यह सही है कि संसार में प्रत्येक साधन की मात्रा स्थिर है, लेकिन पूरी मात्रा का उपयोग हम कभी नहीं कर पाते। हम पहले भी कह चुके हैं कि प्रत्येक साधन की बहुत बड़ी मात्रा प्रायः अप्रयुक्त रह जाती है और कीमत बढ़ने पर उस साधन की खोज होती है, उसे विकसित किया जाता है। अतः किसी विशेष प्राकृतिक साधन की पूर्ति उसकी कीमत के अनुसार घटती बढ़ती है। भूमि से आय बढ़ने पर उसकी उत्पाद शक्ति बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है। उत्पादन-शक्ति सिंचाई, उर्वरक, जल-निकासी आदि के द्वारा बढ़ाई जाती है। इससे कृषि-योग भूमि की पूर्ति काफी बढ़ जाती है। इसके विपरीत अगर भूमि से आय कम होती है तो उसकी उत्पादन शक्ति का दोहन करके उसे थोड़े ही समय में खत्म होने के लिए छोड़ दिया जाता है। किन्तु परम्परागत रूप में, किसी अर्थव्यव्यस्था में भूमि (सभी प्रकृति-प्रदत्त साधन) की पूर्ति पूर्णतः बेलोच मानी जाती है।

3. श्रम की पूर्ति

श्रम (या प्रयास) की पूर्ति से हमारा अभिप्राय है काम के घंटों की वह संख्या जिसके लिए जनसंख्या काम करने को तैयार है। प्रयास की पूर्ति निम्न लिखित तत्वों पर निर्भर करती हैः

(1) जनसंख्या का आकार– श्रम की कुल पूर्ति की अधिकतम सीमा जन संख्या से निर्धारित होती है। हालांकि कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि बुरे समय की अपेक्षा अच्छे समय में जन्म दर व अप्रवास दर ऊँची होती है। किन्तु यह संदेहास्पद है। विशेषकर विकसित अर्थव्यवस्थाओं में, कि आर्थिक तत्व जनसंख्या वृद्धि के निर्धारण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते है। जनसंख्या वृद्धि और श्रमिकों के पारिश्रमिक के बीच निश्चित सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। जनसंख्या में परिवर्तनों के कारणों की व्याख्या अभी तक बहुत हद तक नहीं हो पाई है। अतः वर्तमान विश्लेषण के लिए हम जनसंख्या का आकार स्थिर मान लेते हैं।

(2) काम करने को इच्छुक जनसंख्या का अनुपात– श्रम-बाजार में प्रवेश करने वाले लोगों का अनुपात बहुत हद तक मजदूरी-दर में परिवर्तन के साथ-साथ बदलता है। सामान्यता मजदूरी-दर में वृद्धि होने पर काम करने को इच्छुक जनसंख्या का अनुपात बढ़ता है। मजदूरी दर ऊंची हो तो स्त्रियाँ, वृद्ध तथा बच्चे भी श्रम-शक्ति में शामिल होने का प्रेरित हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर, द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि ली जा सकती है जब मजदूरी की दर में काफी वृद्धि हुई थी। इस अवधि में श्रम-शक्ति में विवाहित स्त्रियों तथा अधिक उम्र के व्यक्तियों का अनुपात बहुत बड़ गया था। मजदूरी-दर के अलावा श्रम-बाजार में प्रवेश करने वाले लोगों का अनुपात जनसंख्या की आयु संरचना, सामाजिक संस्थाएँ, रीति-रिवाज और अर्थव्यवस्था में श्रम का वितरण आदि तत्त्वों पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, श्रम-बाजार में महिलाओं, खास कर विवाहित महिलाओं, का प्रवेश कुछ हद तक रीति-रिवाज और अवसरों पर निर्भर करता है। एक ही अर्थव्यवस्था में, रीति-रिवाज और अवसर, समय और स्थान के साथ-साथ अलग अलग हो सकते हैं। समाज में सम्पत्ति का अधिक समान वितरण अर्थव्यवस्था में श्रम के संभरण को बढ़ाता है क्योंकि अधिक समान वितरण के कारण अनार्जित आय पर पलने वाले ऐसे लोगों की संख्या कम हो जाती है जिन्हें काम करने की आवश्यकता नहीं होती, अतः अधिक लोग काम करते हैं।

मजदूरी दर में वृद्धि होने पर मजदूर अवकाश के स्थान पर काम का प्रतिस्थापन करते हैं।

(3) प्रत्येक श्रमिक के काम के घण्टे– एक श्रमिक अपना श्रम बेचकर मजदूरी में रूप में मुद्रा प्राप्त करता है। इस मुद्रा से वह अपने उपभोग के लिए वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदता है। इस तरह श्रमिक वस्तुओं के लिए अपने अवकाश का सौदा करता है। अवकाश त्याग कर (अर्थात् काम करके) वह मुद्रा तथा मुद्रा के माध्यम से वस्तुएँ प्राप्त करता है। मजदूरी दर में वृद्धि का अर्थ है वस्तुओं तथा अवकाश की सापेक्ष कीमत में परिवर्तन। वस्तुओं की तुलना में अवकाश महंगा हो जाता है क्योंकि अवकाश के प्रत्येक घण्टे के लिए वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा का त्याग करना पड़ता है। इसी बात में ऐसे भी कहा जा सकता है कि अवकाश की तुलना में वस्तुएँ सस्ती हो जाती है, क्योंकि अब प्रत्येक काम के घण्टे के एवज में पहले से अधिक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। उपभोक्ता की मांग के सिद्धान्त के संदर्भ में हमने यह देखा था कि जब दो वस्तुओं की सापेक्ष कीमत में परिवर्तन होता है तो उपभोक्ता महंगी वस्तु के स्थान पर सस्ती वस्तु का प्रतिस्थापन करता है। मजदूरी दर में परिवर्तन पर भी यही तर्क लागू होता है। मजदूरी दर में वृद्धि के कारण अवकाश की तुलना में वस्तुएँ सस्ती हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप श्रमिक अवकाश के स्थान पर वस्तुओं का प्रतिस्थापन करता है। वह अपने अवकाश में कमी करके अधिक वस्तुएँ प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त होता है। यह प्रवृत्ति मजदूरी दर में परिवर्तन का 'प्रतिस्थापन प्रभाव'' कहलाती है। मजदूरी दर में वृद्धि के प्रतिस्थापन प्रभाव के फलस्वरूप श्रम पूर्ति के दो प्रकार से बढ़ने की प्रवृत्ति

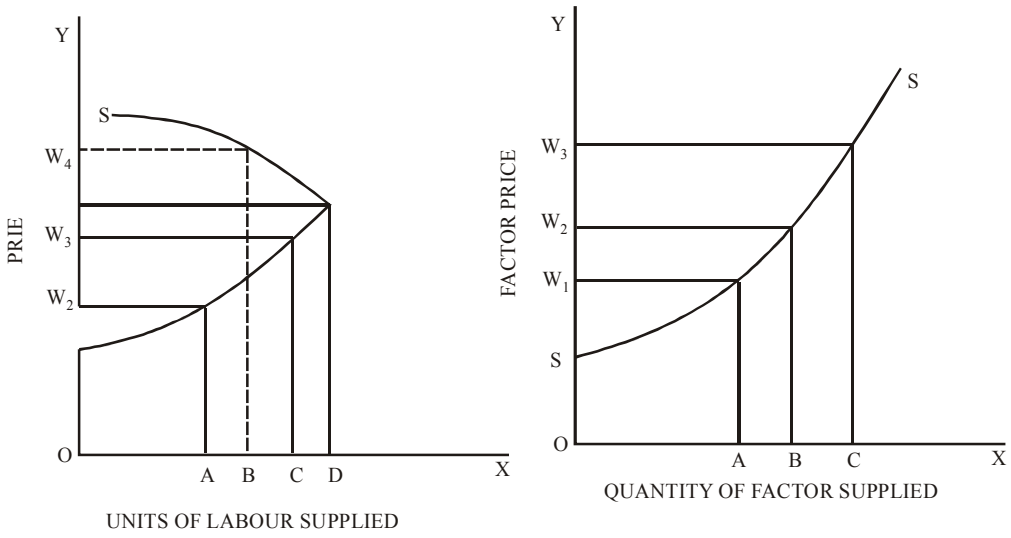
होगी। एक तो उनमें से कुछ लोग जो पहले कम मजदूरी पर काम करने को तैयार नहीं थे, अब काम करना चाहेंगे क्योंकि वस्तुओं के त्याग के रूप में अवकाश अब पहले से महंगा हो गया है। दूसरे, इसी कारण से वे लोग जो पहले भी काम करते थे, अब अपने अवकाश में कमी करके प्रतिदिन या प्रति सप्ताह पहले से अधिक घण्टे काम करना चाहेंगे। इस प्रकार, इन दो कारणों से श्रम पूर्ति में विस्तार की प्रवृत्ति होगी।

प्रतिस्थापन प्रभाव दो प्रकार से काम करता है।

आय-प्रभाव श्रमिकों को काम के घण्टे कम करने के लिए प्रेरित करना है।

प्रतिस्थापन प्रभाव के अलावा, मजदूरी दर में वृद्धि 'आय-प्रभाव' को भी जन्म देती है। मजदूरी दर में वृद्धिके बाद यदि एक श्रमिक उतने ही घण्टे काम करता रहे जितने कि वह पहले करता था, तब भी वह पहले से अधिक धनी हो जाता है। अधिक धनी होने के कारण श्रमिक सभी सामान्य वस्तुओं, जिनमें अवकाश भी शामिल है, की पहले से अधिक मात्रा की मांग करेगा। अपनी वास्तविक आय में वृद्धि का एक भाग वह अवकाश खरीदने में लगाएगा– अपने काम के घण्टों में कमी करके। अतः मजदूरी दर मेंवृद्धि का आय-प्रभाव श्रमिक को प्रतिदिन या प्रति सप्ताह काम के घण्टों में कमी करने के लिए प्रेरित करेगा। इस प्रकार मजदूरी दर में वृद्धि का प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय-प्रभाव विपरीत दिशाओं में प्रवृत्त होते हैं; प्रतिस्थापन प्रभाव की प्रवृत्ति काम के घण्टों में वृद्धि करने की तथा आय प्रभाव की प्रवृत्ति काम के घण्टों में कमी करने को होती है। इसलिए मजदूरी दर में वृद्धि का श्रम-पूर्ति पर शुद्ध प्रभाव इन दो विपरीत प्रवृत्तियों की सापेक्ष शक्ति पर निर्भर करेगा। यदि प्रतिस्थापन प्रभाव आय प्रभाव से अधिक शक्तिशाली है, तो मजदूरी की दर बढ़ने पर श्रमिक पहले से अधिक घण्टे काम करेंगे। परन्तु किसी बिन्दु के पश्चात्, यदि आप प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक शक्तिशाली हो जाता है, तो मजदूरी दर में वृद्धि के फलस्वरूप श्रमिक पहले से कम घण्टे काम कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में श्रम का पूर्ति वक्र पीछे की ओर उठता हुआ होगा जैसे कि नीचे चित्र 8.6 A में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 8.6



चित्र A में जब मजदूरों की दर OW_1 से बढ़कर OW_2 और फिर OW_2 हो जाती है, तो श्रम-पूर्ति में OA से OC से OD तक विस्तार होता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि W_2 मजदूरों तक प्रतिस्थापन प्रभाव आय प्रभाव से अधिक शक्तिशाली रहता है। जिसके परिणामस्वरूप मजदूरी दर में वृद्धि के कारण श्रम-पूर्ति में विस्तार होता है।

परन्तु जब मजदूरी दर W_2 से आगे बढ़ती है, तो आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक शक्तिशाली हो जाता है जिसके फलस्वरूप श्रम पूर्ति वक्र बाई ओर झुकना आरम्भ कर देता है। उपरोक्त चित्र में जब मजदूरी दर W_2 से और बढ़कर W_4 हो जाती है, तो श्रम-पूर्ति में विस्तार होने की बजाय OD से OB संकुचन हो जाता है।

श्रम-पूर्ति के उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि पीछे की ओर उठता हुआ श्रम-पूर्ति वक्र एक प्रबल सम्भावना तो प्रस्तुत करता है परन्तु एक प्रकारात्मक स्थित नहीं माना जा सकता। पीछे की ओर उठते हुए श्रम-पूर्ति वक्र के पक्ष में कोई निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिए हम यह मानकर चलते हैं कि श्रम-पूर्ति वक्र दायीं ओर ऊपर को उठता हुआ होगा जैसाकि ऊपर चित्र 8.6 B में दिखाया गया है।

4. पूंजी की पूर्ति

पूंजी मानव-निर्मित उत्पादन साधन है और ब्याज इसकी कीमत है एक देश की पूंजी में मशीनें, प्लांट, साज-सज्जा, इमारतें आदि वस्तुएँ शामिल होती है इन्हें पूंजी-स्टाक कहा जाता है। वर्ष के दौरान उत्पादन प्रक्रिया से वर्तमान पूंजी-स्टाक का एक भाग घिस-पिट जाता है और पूँजी-स्टाक में उतनी कभी आ जाती है, दूसरी ओर, हर वर्ष नई मशीनों, इमारतों, प्लांट, साज-सज्जा आदि का निर्माण भी किया जाता है। इनका एक भाग घिसे-पिटे पूँजी-स्टाक के प्रतिस्थापना में काम जाता है और शेष पूँजी स्टाक में शुद्ध वृद्धि करता है। चक्रीय उतार-चढ़ावों को छोड़कर सभी आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में पूंजी की पूर्ति समय के साथ-साथ बढ़ती रही है।

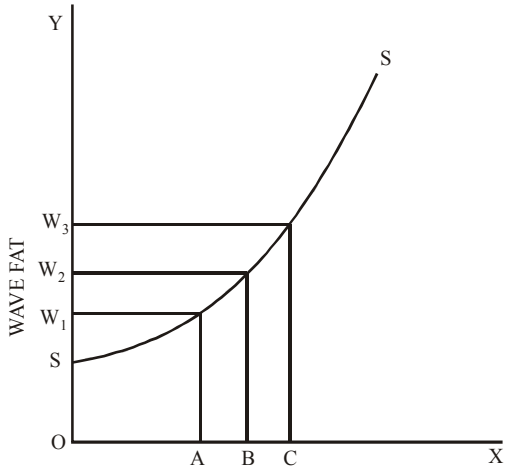
5. प्रयोग विशेष (उद्योग) के दृष्टिकोण से साधनों की पूर्ति

सामान्यतः उत्पादन के विभिन्न साधनों के वैकल्पिक प्रयोग होते हैं। केवल कुछ साधन ही किसी प्रयोग-विशेष के लिए विशिष्ट होते हैं और ऐसा भी केवल अल्पकाल में ही होता है। भूमि का एक टुकड़ा कई प्रकार की फसलें लगाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसी प्रकार एक श्रमिक की फैक्टरी में कपड़ा बुनने या सड़क बनाने या नहर खोदने या किसी फार्म पर विभिन्न फसलें उगाने के काम में लगाया जा सकता है। इसलिए उत्पादन-साधनों का विभिन्न उद्योगों तथा विभिन्न फर्मों के बीच उपयुक्त ढंग से आबंटन करना पड़ता है।

सभी अर्थव्यवस्थाओं में पूँजी की पूर्ति समय के सालों-साल बढ़ती रही है।

साधनों के स्वामी उन क्षेत्रों में अपने साधनों का इस्तेमाल करना चाहते हैं जहां उन्हें अधिकतम आय प्राप्त हो। यह ठीक है कि मौटिक लाभ के अलावा वे अन्य लाभों को भी ध्यान में रखते हैं जब तक एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में अन्तरण से कुछ भी लाभ प्राप्त हो सकता है, विभिन्न प्रयोगों के बीच साधनों का अन्तरण होता रहता है। जब एक साधन की कीमत किसी प्रयोग-विशेष में अन्य प्रयोगों की अपेक्षा बढ़ जाती है, तो साधन स्वामी उन प्रयोग विशेष में साधन की अधिक मात्रा की पूर्तिकरते हैं। दूसरी ओर, कम कीमत वाले प्रयोग में एक साधन की पूर्ति कम कर दी जाती है। इसका यह अर्थ निकलता है कि जिस प्रयोग में एक साधन की कीमत (अन्य प्रयोगों के मुकाबले में) जितना अधिक होगी, उतनी ही अधिक साधन-विशेष की पूर्ति उस उद्योग के लिए होगी। यह प्रवृत्ति दायीं ओर ऊपर को उठते हुए पूर्ति वक्र को जन्म देती है जैसाकि नीचे रेखाचित्र 8.7 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 8.7



ऊपर दिए गए रेखाचित्र में वक्र SS एक उत्पादन-साधन का किसी उद्योग विशेष के लिए पूर्ति वक्र है। वक्र SS दायीं ओर ऊपर को उठता है। जिसका अर्थ है कि एक उद्योग में साधन विशेष को जितनी अधिक कीमत दी जाती है, उतनी ही अधिक उस उद्योग के लिए साधन की पूर्ति होती है। उदाहरणतः जब इस उद्योग में साधन की कीमत OW_1 होती है, तो पूर्ति केवल OA के बराबर होती है। साधन की कीमत के बढ़कर OW_2 हो जाने पर साधन की पूर्ति भी बढ़ कर OB हो जाती है। इसी प्रकार जब साधन की कीमत OW_2 हो जाती है, तो पूर्ति की मात्रा भी बढ़कर OC के बराबर हो जाती है।

जैसा कि हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं, पूरी अर्थव्यवस्था के लिए किसी भी साधन की पूर्ति सामान्यतः पूर्णतया बेलोच नहीं होती, अपितु कुछ हद तक लोचदार अवश्य होती है। किसी साधन-विशेष की पूर्ति पूरी अर्थव्यवस्था के लिए बेलोच होने पर भी (जैसा

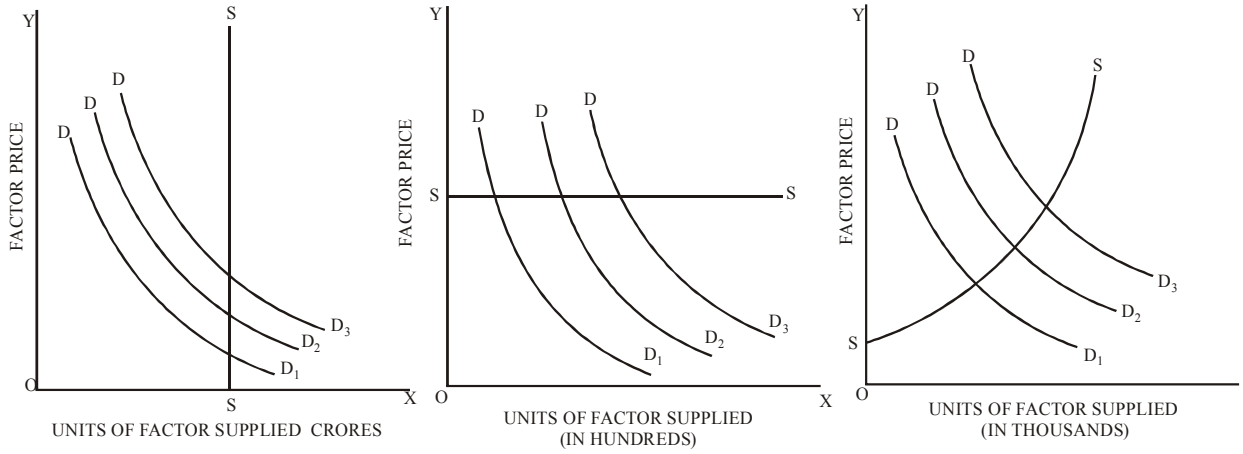
कि भूमि की पूर्ति के संबंध में परम्परागत अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी) किसी उद्योग विशेष के लिए लोचदार होती है क्योंकि दूसरे उद्योगों की मुकाबले में कुछ अधिक कीमत देकर वहां से साधन की कुछ इकाइयाँ अपनी ओर आकर्षित करना प्रायः सम्भव होता है। अतः किसी साधन की एक उद्योग के लिए पूर्ति, पूरी अर्थव्यवस्था के लिए उसकी पूर्ति से सामान्यतः अधिक लोचदार होगी।

6. एक फर्म के लिए किसी साधन की पूर्ति

साधन-बाजार में एक फर्म साधन सारे या केवल कुछ गिने-चुने क्रेताओं में से एक हो सकती है। यदि फर्म अनेक क्रेताओं में से एक है, तो उसकी खरीद साधन की बाजार पूर्ति का एक अत्यल्प भाग होगा। परिणामस्वरूप चालू बाजार-कीमत पर फर्म साधन की जितनी मात्रा चाहे, खरीद सकेगी। दूसरे शब्दों में, ऐसी फर्म के लिए, उस साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होगी। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है, तो फर्म के लिए साधन की बाजार कीमत (अर्थात औसत लागत) और उसकी सीमान्त लागत, दोनों ही बराबर होती है। दूसरी ओर, यदि फर्म साधन के कुछ गिने चुने बड़े क्रेताओं में से एक है, तो उसकी खरीद साधन की कुल पूर्ति का एक बड़ा भाग होगी जिसके परिणामस्वरूप फर्म द्वारा साधन की पहले से अधिक मात्रा खरीदे जाने पर, साधन की बाजार-कीमत बढ़ जाएगी। अतः ऐसी स्थिति में फर्म साधन की अधिक मात्रा पहले से ऊँची कीमत पर ही खरीद पाएगी। इस दशा में फर्म के लिए साधन की पूर्ति वक्र दायीं ओर ऊपर को उठता हुआ होगा।

जब किसी साधन का पूर्ति वक्र दायीं ओर ऊपर को उठता हुआ होता है, तो उसकी सीमान्त लागत बाजार-कीमत (औसत लागत AFC) से अधिक होती है और इस कारण साधन का सीमान्त लागत वक्र उसके पूर्ति वक्र (कीमत या औसत लागत वक्र) के ऊपर होता है।

रेखाचित्र 8.8



उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि पूरी अर्थव्यवस्था के लिए दीर्घकाल में सभी साधनों की पूर्ति उनकी कीमतों के प्रति संवेदनशील (अर्थात् लोचदार) होती है। अल्पकाल में, एक साधन का पूर्ति वक्र लम्बवत (अर्थात् पूर्णतया बेलोच) से लेकर क्षितीजीय (पूर्णतया लोचदार) हो सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि पूर्ति के साथ साधन के किस प्रकार के मांग वक्र का मेल हुआ है: एक छोटी सी फर्म का, किसी बड़ी फर्म या उद्योग का या पूरी अर्थव्यवस्था का मांग वक्र। एक साधन विशेष के पूर्ति वक्र की विभिन्न सम्भव आकृतियों नीचे रेखाचित्र 8.8 में स्पष्ट की गई हैं। यह स्पष्ट है कि यदि किसी साधन की पूर्ति पूरी अर्थव्यवस्था के लिए यदि पूर्णतया बेलोच भी है (जैसा रेखाचित्र A में दिखाया गया है), फिर भी किसी एक प्रयोग (उद्योग) के लिए पूर्ति अधिक लोचदार होगी (जैसाकि चित्र B में दिखाया गया है) और एक छोटी फर्म के लिए पूर्णतया लोचदार होगी (जैसाकि चित्र C में दिखाया गया है।)

निष्कर्ष

1. संभवतः अति अल्पावधि के सिवाय, आर्थिक दृष्टि से अर्थव्यवस्था के लिए साधनों की पूर्ति कभी पूर्णतया बेलोच नहीं होती।
2. पूरी अर्थव्यवस्था के मुकाबले में किसी उद्योग-विशेष के लिए किसी साधन की पूर्ति अपेक्षतया अधिक लोंचदार होती है।
3. एक छोटी फर्म (साधन के अनेक क्रेताओं में से एक) के लिए किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार मानी जा सकती है।

I
I

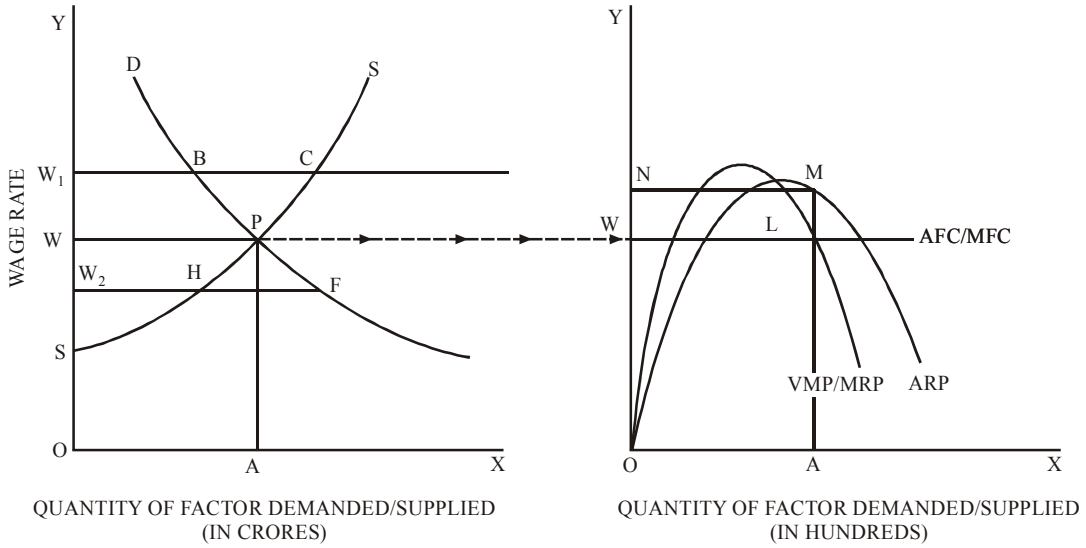
भूमिका

विश्लेषण के आवश्यक उपकरणों-अर्थात् साधनों की माँग तथा पूर्ति वक्र की व्याख्या के पश्चात् अब हम विभिन्न बाजार परिस्थितियों में साधन-कीमतों के निर्धारण की प्रक्रिया का अध्ययन करने की स्थिति में है। साधन-कीमत निर्धारण का सिद्धान्त एक सामान्य सिद्धान्त है जो सभी उत्पादन-साधनों की लागू होता है। नीचे हम इसकी एक विशेष स्थिति के रूप में मजदूरी निर्धारण का अध्ययन करेंगे। यदि किसी की दिलचस्पी पूंजी में है तो उसे साधन-कीमत को ब्याज के रूप में लेना चाहिए, यदिकोई भूमि में दिलचस्पी रखता है, तो उसे साधन-कीमत को लगान समझना चाहिए इत्यादि।

1. पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मेंः

जब साधन बाजार तथा वस्तु बाजार दोनों में ही पूर्ण प्रतियोगिता होती है, तो मजदूरी की दर श्रम की बाजार माँग तथा बाजार पूर्ति की शक्तियों की अन्तःक्रिया द्वारा निर्धारित होती है जैसा कि नीचे रेखाचित्र 1.1 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 1.1



साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में एक फर्म कीमत स्वीकारक होती है।

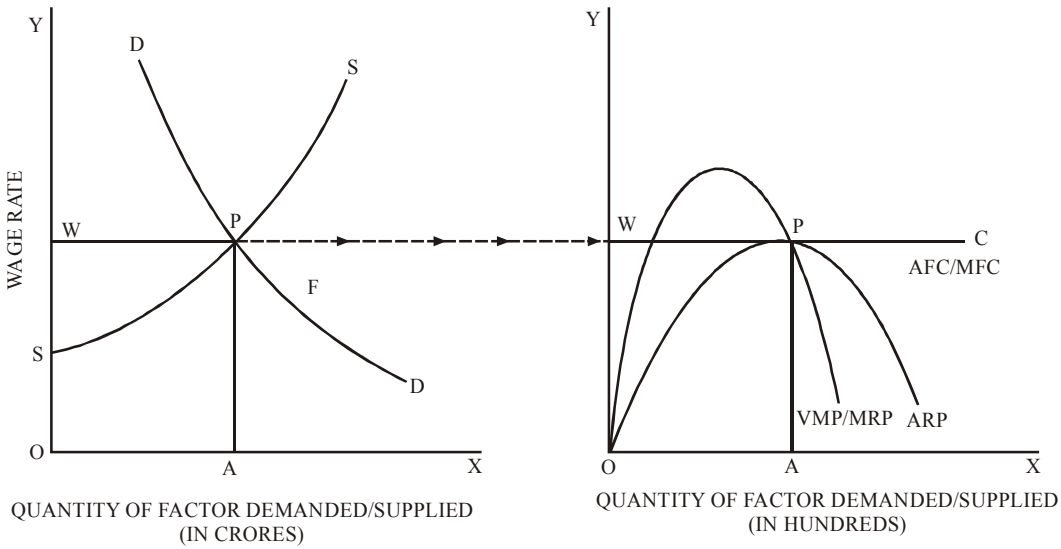
ऊपर चित्र A में श्रम के बाजार माँग तथा पूर्ति वक्र बिन्दु P पर एक दूसरे को काटते हैं और इस प्रकार मजदूरी की सन्तुलन दर AP (=OW) निर्धारित होती है। इस मजदूरी पर श्रम की माँग तथा पूर्ति दोनों OA के बराबर हैं। OW से अधिक मजदूरी दर पर श्रम की पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो जाती है। उदाहरणतः ऊपर चित्र A में मजदूरी की OW_1 दर पर श्रम की पूर्ति उसकी माँग से BC के बराबर अधिक है। पूर्ति का माँग पर यह आधिक्य मजदूरी की दर पर नीचे की ओर दबाव डालता है। दूसरी ओर यदि मजदूरी की वास्तविक दर उसकी सन्तुलन दर से कम है, तो सब की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है। उदाहरण के लिए, OW_2 मजदूरी-दर पर श्रम की माँग उसकी पूर्ति से HF के बराबर अधिक होती है। पूर्ति पर माँग का यह आधिक्य मजदूरी-दर को ऊपर खींचता है तथा उसको सन्तुल दर की ओर ले जाता है। इस प्रकार दोनों स्थितियों में मजदूरी दर की प्रवृत्ति अपने सन्तुलन स्तर की ओर जाने की होती है जहाँ कि श्रम की पूर्ति तथा माँग परस्पर बराबर होते हैं।

ऊपर रेखाचित्र B एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म, जिसके लिए मजदूरी की दर तथा वस्तु की कीमत दोनों दिए हुए तथ्य हैं, की सन्तुलन-स्थिति का चित्रण करता है। दी हुई मजदूरी दर पर (जो कि श्रम की बाजार माँग तथा पूर्ति की शक्तियों की अन्तःक्रिया द्वारा निर्धारित होती है जैसा कि चित्र A में दिखाया गया है), एक फर्म केवल यह निर्णय करती है कि श्रम की कितनी मात्रा का नियोजन करके जिसमें श्रम का MRP दी हुई मजदूरी दर के बराबर हो जाए। इस विशेष स्थिति में MRP तथा VMP समान होने के कारण

(जैसा कि वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होने पर होता है) मजदूरी दर MRP तथा VMP_1 दोनों के बराबर होती है। इस प्रकार वस्तु-बाजार तथा साधन-बाजार, दोनों में ही पूर्ण प्रतियोगिता होने की स्थिति में, मजदूरी की दर श्रम की बाजार-माँग तथा बाजार-पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है और इस प्रकार निर्धारित मजदूरी दर पर फर्म की उस मात्रा का नियोजन करती है जो कि श्रम के MRP (तथा VMP भी) का दी हुई मजदूरी दर के साथ समानीकरण करती है।

MRP तथा दी हुई मजदूरी दर (या कोई भी साधन-कीमत) की समानता की सन्तुलन-शर्त अल्पकाल में अधिकतम लाभ की शर्त है। उदाहरण के लिए ऊपर चित्र B में दी हुई मजदूरी दर पर फर्म श्रम की OA मात्रा का नियोजन करती है जो MRP का बिन्दु L पर दी हुई मजदूरी दर के साथ समानीकरण करती है। परन्तु सन्तुलन की इस स्थिति में, ARP मजदूरी दर से LM के समान अधिक होता है, अतः फर्म आयत WLMN के क्षेत्रफल के बराबर असाधारण लाभ कमाती है। एक ऐसे उद्योग में जहाँ फर्मों के प्रवेश तथा निकास पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, दीर्घकाल में असाधारण लाभ कमाने की प्रत्याशा निश्चय ही नई फर्मों को उद्योग में आने के लिए प्रेरित करेगी। नई फर्मों के उद्योग में प्रवेश का परिणाम होगाः (1) साधन की माँग में वृद्धि तथा (2) वस्तु के कुल उत्पादन में वृद्धि। साधन की माँग वृद्धि के कारण उसकी बाजार-कीमत की प्रवृत्ति बढ़ने की होगी और वस्तु के उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप वस्तु की कीमत की प्रवृत्ति नीचे गिरने की होगी। वस्तु की कीमत में गिरावट के कारण MRP वक्र (अर्थात् साधन का माँग वक्र) बायीं ओर नीचे को गिरेगा। इस प्रकार नई फर्मों के उद्योग में प्रवेश के फलस्वरूप साधन-कीमत की बढ़ने की प्रवृत्ति होगी और फर्मों के साधन-माँग वक्रों (अतः साधन के बाजार माँग वक्र) की नीचे गिरने की प्रवृत्ति होगी। नई फर्मों के प्रवेश, साधन कीमत मेंवृद्धि तथा फर्मों के MRP वक्रों में गिरावट की यह कारण-कार्य श्रृंखला तब तक जारी रहेगी जब तक उद्योग में असाधारण लाभ (चाहे उसकी मात्रा कुछ ही हो) का अस्तित्व रहेगा। इस प्रक्रिया का अन्त तभी होगा जब प्रत्येक फर्म के लिए साधन कीमत MRP के समान होने के साथ ARP के भी समान हो जाएगी तथा उद्योग में कोई भी फर्म असाधारण लाभ नहीं कमाएगी। इसलिए, पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति में साधन की कीमत न केवल MRP के बल्कि ARP के भी बराबर होगी। यह स्पष्ट है कि यदि ARP तथा MRP वक्र सामान्य आकृति के हों, तो ARP तथा MRP केवल एक ही बिन्दु पर परस्पर बराबर होते हैं और वह है ARP वक्र का उच्चतम बिन्दु। अतः पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सन्तुलन स्थिति में, साधन कीमत वक्र (अर्थात् औसत लागत) ARP वक्र के उच्चतम बिन्दु पर उसे स्पर्श करेगा जैसा कि नीचे रेखाचित्र 1.2 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 1.2

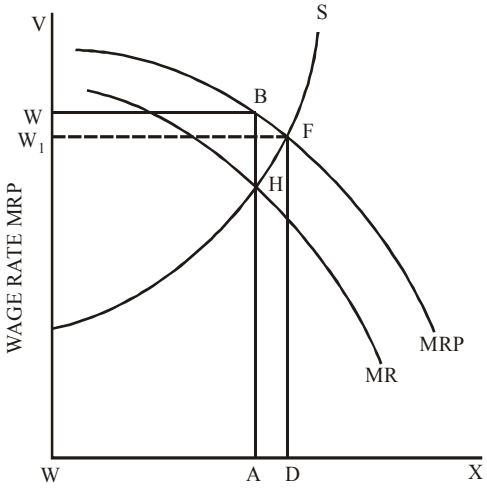


ऊपर रेखाचित्र 1.2 B फर्म तथा उद्योग के दीर्घकालीन सन्तुलन का चित्रण किया गया है। फर्म अपने दीर्घकालीन संतुलन में है क्योंकि वर्तमान स्थिति में वह केवल साधारण लाभ (अर्थात् प्रबन्ध की सामान्य आय) कमा रही है, न उससे अधिक और न ही कम। उद्योग भी अपने दीर्घकालीन संतुलन में है क्योंकि उद्योग में असाधारण लाभ या हानि न होने के कारण नई फर्मों के प्रवेश करने या पुराने फर्मों के उद्योग को छोड़ने की कोई प्रवृत्ति नहीं है। प्रतियोगिता के माध्यम से उद्योग में असाधारण लाभ लुप्त होने में कितना समय लगता है, यह अर्थव्यवस्था में घर्षण की मात्रा तथा उद्योग में प्रवेश की कठिनाई पर निर्भर करेगा।

उपरोक्त विवेचन से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि दीर्घकालीन प्रतियोगी संतुलन में साधन कीमतें ARP तथा MRP दोनों के बराबर होती है, जबकि अल्पकालीन संतुलन में ARP से अधिक या कम हो सकती है। यह ध्यान रखने योग्य है कि समय की अवधि चाहे कोई भी हो, सन्तुलन की स्थिति में साधन-कीमतें सम्बद्ध MRP के सदा बराबर होंगी। जब साधन-कीमतें ARP के बराबर होती हैं, वस्तुओं की कीमतें उनकी औसत लागत के बराबर होती है तथा कुल आय के बराबर होती है। इस प्रकार सामान्य लाभ (या प्रबन्ध की आय) के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता। प्रबन्धक का कार्य उद्यमी के कार्य से भिन्न होता है। शुद्ध लाभ जो कि सभी संविदात्मक अदायगियों (जिनमें प्रबन्ध की सामान्य आय भी शामिल है) के बाद एक अधिशेष के रूप में बनता है उद्यम का पुरस्कार होता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दीर्घकालीन प्रतियोगी सन्तुलन में ''शुद्ध लाभ'' शून्य के बराबर होता है या दूसरे शब्दों में कहें तो उद्यमी कार्य अनावश्यक हो जाता है। जब हम इस पाठ के अन्तिम विभाग में ''शुद्ध लाभ'' की प्रकृति तथा कारणों का विश्लेषण करेंगे, तो इस विषय में और गहराई में जाएगे।

2. जब विक्रेता एक (एकाधिकारी) तथा क्रेता बहुत-से हों

रेखाचित्र 1.3



मान लीजिए कि एक मजदूर संगठन जिसका विशेष प्रकार के श्रम की पूर्ति पर पूरा नियंत्रण है और इस श्रम-विशेष के क्रेता बहुत से है। संगठन के लिए श्रम का पूर्ति वक्र (जो कि दायीं ओर ऊपर को उठता हुआ माना गया है) श्रम की विभिन्न मात्राओं की सीमांत लागत का सूचक है। श्रम का बाजार माँग वक्र पूर्ववर्णित कारणों से दायीं ओर नीचे को गिरता है। श्रम का बाजार माँग वक्र यह दर्शाता है कि विभिन्न कीमतों (अर्थात् मजदूरी-दरों) पर श्रम की कितनी मात्रा बाजार में बेची जा सकती है। मजदूर संगठन एकाधिकारी की स्थिति में है। इस संगठन के लिए श्रम का बाजार माँग वक्र (MRP वक्र) इसकी औसत आय का सूचक है। संगठन यह जानता है कि श्रम की अधिक मात्रा बाजार में मजदूरी दर को गिराकर ही बेची जा सकती है। परिणामस्वरूप, श्रम की बेची गई प्रत्येक अतिरिक्त इकाई का उनकी कुल आय में योगदान (अर्थात्-सीमान्त आय) मजदूरी दर से कम होगा। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि जब संगठन श्रम की 30 इकाइयों की बजाय 51 इकाइयाँ बेचता है, तो बाजार में मजदूरी की दर 100 रुपये से गिरकर 99 रुपये हो जाती है। इस उदाहरण के अनुसार श्रम की एक अतिरिक्त इकाई (अर्थात् 51वीं इकाई) से प्राप्त सीमान्त आय केवल 49 रुपये $(= 99 \times 51 - 100 \times 50)$ होगी जो कि मजदूरी पर (99 रु.) से कम है। ऐसा इसलिए होता है कि संगठन को न केवल श्रम की अतिरिक्त इकाई को ही कम मजदूरी दर पर बेचना पड़ता है, अपितु श्रम की पहली 50 इकाइयों पर भी एक रुपया प्रति इकाई कम प्राप्त होता है जिन्हें अब 100 रु. की बजाय 99 रु. प्रति इकाई बेचना पड़ता है। यह जानते हुए कि बेची गई प्रत्येक इकाई की सीमान्त आय मजदूरी दर (अर्थात् औसत आय) से कम होगी, संगठन श्रम की पूर्ति को इस ढंग से नियंत्रित करेगा कि श्रम की अन्तिम इकाई की सीमांत आय उसकी सीमांत लागत के बराबर हो। श्रम का पूर्ति वक्र संगठन के लिए श्रम की सीमांत लागत का सूचक है। इसलिए संगठन श्रम की सीमांत लागत का समानीकरण मजदूरी दर (MRP वक्र द्वारा दर्शित) से नहीं, बल्कि सीमांत आय (जिसे श्रम माँग वक्र का सीमान्त वक्र प्रस्तुत करता है) से करेगा। नीचे रेखाचित्र 1.3 में ध्यानपूर्वक देखिए सन्तुलन बिन्दु H पर होता

है जहाँ पर श्रम पूर्ति (अथवा सीमान्त लागत) वक्र सीमान्त आय वक्र को काटता है, न कि बिन्दु F पर जहाँ कि पूर्ति वक्र श्रम के माँग वक्र (अर्थात् MRP वक्र) को काटता है। इस स्थिति में मजदूरी की दर AB के बराबर होती है जो कि श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में होने वाली दर (अर्थात् DF) से अधिक होगी। दूसरी ओर, वर्तमान स्थिति में श्रम का नियोजन स्तर (= OA) प्रतियोगी नियोजन स्तर (OD) से कम होगा।

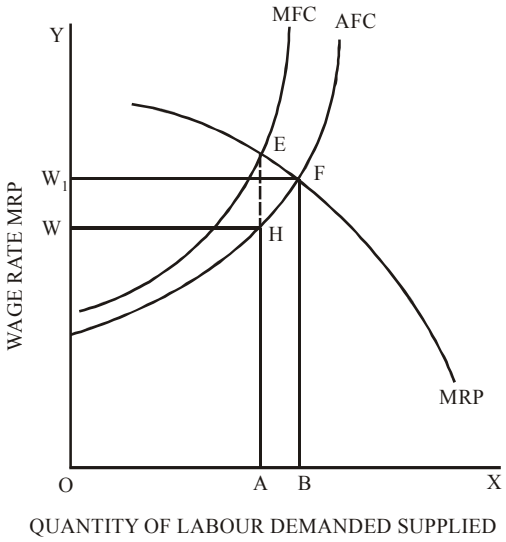
निष्कर्ष– श्रम बाजार में एकाधिकार होने के परिणामस्वरूप, मजदूरी दर प्रतियोगी मजदूरी दर से अधिक होती है, (AB > DF) और श्रम का नियोजन-स्तर प्रतयोगी नियोजन-स्तर से कम होता है। (OA < OD)।

3. एक क्रेता तथा अनेक विक्रेता

यह स्थिति तब उत्पन्न हो सकती है जब किसी शहर या क्षेत्र में श्रम का नियोजक एक ही हो और श्रम विक्रेता (अर्थात्-श्रमिक) अनेक व असंगठित हों। श्रम पूर्ति वक्र नियोजक के लिए श्रम की विभिन्न मात्राओं की औसत लागत (AFC) दर्शाता है। दायीं ओर ऊपर को उठता हुआ श्रम-पूर्ति वक्र इस बात का सूचक है कि श्रम की अधिकाधिक मात्रा उत्तरोत्तर ऊँची मजदूरी दर पर ही खरीदी जा सकती है। बाजार में श्रम का एकमात्र क्रेता होने के कारण नियोजक यह जानता है कि जब वह श्रम की एक अतिरिक्त इकाई का नियोजन करता है, तो मजदूरी दर बढ़ जाती है और इसके परिणामस्वरूप उसके कुल मजदूरी बिल में होने वाली वृद्धि (अर्थात् श्रम की MFC) मजदूरी दर (अर्थात् AFC) से अधिक होगी। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि जब नियोजक (एक क्रेताधिकारी) श्रम की 50 की बजाय 51 इकाइयाँ खरीदता है तो मजदूरी की दर 100 रु. से बढ़कर 101 हो जाती है। इस स्थिति में श्रम की एक अतिरिक्त इकाई की सीमान्त लागत (MFC) 151 रुपये (= 100 × 51 – 100 × 50) होगी, न कि 101 रु.। इसलिए एक क्रेताधिकारी MRP के साथ MFC का समानीकरण करता है, न कि AFC का । अन्य शब्दों में एक क्रेताधिकारी का संतुलन MFC तथा MRP वक्रों के कटान बिन्दु पर निर्धारित होता है न कि AFC तथा MRP वक्रों के कटान बिन्दु पर। इस स्थिति में संतुलन का चित्रण नीचे रेखाचित्र 1.4 में किया गया है।

नीचे दिये एक रेखाचित्र में MFC वक्र (जो कि AFC वक्र का सीमान्त वक्र है) तथा MRP वक्र (यानि श्रम माँग वक्र) का बिन्दु E पर कटान एक-क्रेताधिकारी का संतुलन निर्धारित करता है। बिन्दु E पर, स्पष्ट है, MFC तथा MRP परस्पर समान हैं। सन्तुलन की स्थिति में एक क्रेताधिकारी श्रम की OA मात्रा OW मजदूरी दर पर खरीदता है। प्रतियोगी मजदूरी दर (OW_1) तथा प्रतियोगी नियोजन-स्तर (=OB) का निर्धारण श्रम माँग वक्र (MRP वक्र) तथा AFC वक्र के कटान बिन्दु F पर होता है। अतः साधन बाजार में एक क्रेताधिकारी परिस्थितियों के परिणामस्वरूप मजदूरी दर तथा श्रम-नियोजन दोनों उन स्तरों से नीचे गिर जाते हैं जो पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में होते हैं। साधन-बाजार में एकाधिकार की स्थिति के साथ तुलना करने पर आपको वह स्पष्ट हो जाएगा कि साधन-बाजार में अपूर्ण-प्रतियोगिता तथा वस्तु-बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता दोनों के कारण श्रम-नियोजन-स्तर प्रतियोगी स्तर से नीचे गिरता है, परन्तु एक-क्रेताधिकार जबकि मजदूरी दर को प्रतियोगी मजदूरी दर से नीचे गिरता है, एकाधिकार उसे ऊँचा उठाता है।

रेखाचित्र 1.4

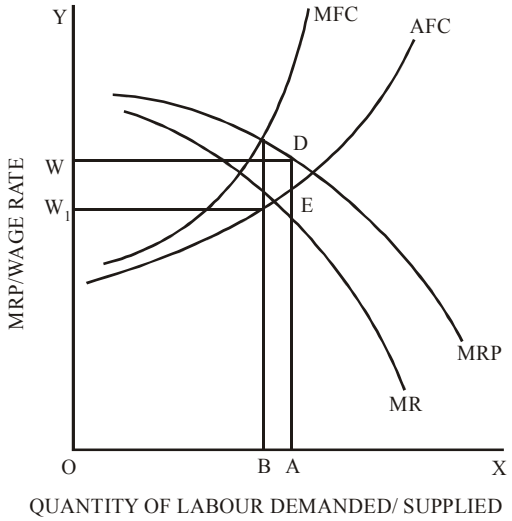


एक क्रेताधिकार में साधन की कीमत सी. आय-उत्पाद तथा सी.उत्पाद के मूल्य दोनों से ही कम होती है।

4. जब एक क्रेता तथा एक विक्रेता हों (द्विपक्षीय एकाधिकार):

इस स्थिति में, एकाधिकारी (जैसे कोई श्रम संगठन जिसका किसी विशेष प्रकार के श्रम की पूर्ति पर नियंत्रण हो) एक क्रेताधिकारी (जैसे कोई क्रेता जो उस प्रकार के श्रम का किसी क्षेत्र में एकमात्र नियोजक हो) को श्रम बेचता है। एकाधिकारी यह जानता है कि श्रम का माँग वक्र (अर्थात् MRP वक्र) नीचे की ओर गिरता हुआ जिसके परिणामस्वरूप श्रम की एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त सीमा व आय (MR) सदा मजदूरी की दर से कम होती है। इसलिए यह श्रम की पूर्ति को इस प्रकार नियन्त्रित करेगा कि श्रम की सीमांत लागत (जिसका सूचक AFC वक्र है) उसकी सीमांत आय (जिसका सूचक श्रम माँग वक्र का सीमांत वक्र है) के बराबर हो। इसलिए AFC तथा MR वक्रों का कटान एकाधिकारी का संतुलन निर्धारित करता है। दूसरी ओर, एक क्रेताधिकारी यह जानता है कि श्रम पूर्ति वक्र (अर्थात् AFC वक्र) ऊपर उठता हुआ होने के कारण, उसके लिए श्रम की सीमांत लागत (MFC) मजदूरी दर (AFC) से अधिक होगी। इस कारण एक क्रेताधिकारी का सन्तुलन MFC तथा MRP की समानता के बिन्दु पर निर्धारित होता है। यह दोनों स्थितियाँ नीचे रेखाचित्र 1.5 में दिखाई गई है।

रेखाचित्र 1.5



ऊपर रेखाचित्र 1.5 में AFC वक्र एकाधिकारी के लिए श्रम की विभिन्न मात्राओं की सीमान्त लागत का सूचक है और श्रम माँग वक्र उन विभिन्न कीमतों का सूचक है जिन पर बाजार में श्रम की विभिन्न मात्राएँ बेची जा सकती है। MR वक्र (जो कि MRP वक्र अर्थात् श्रम माँग वक्र का सीमान्त वक्र है) श्रम की विभिन्न मात्राओं के बेचने से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय का सूचक है। इसलिए AFC तथा MR वक्रों का बिन्दु E पर कटान एकाधिकारी का सन्तुलन निर्धारित करता है। OW मजदूरी दर पर वह श्रम की OA मात्रा बेचना चाहेगा। दूसरी ओर, एकक्रेताधिकारी अपने सन्तुलन के लिए MFC तथा MRP का समानीकरण करेगा। एकक्रेताधिकारी के लिए MFC तथा MRP का समानीकरण करेगा। एकक्रेताधिकारी के लिए MFC वक्र AFC वक्र के ऊपर होता है। इसलिए MFC तथा MRP वक्रों का बिन्दु D पर कटान उसका सन्तुलन निर्धारित करता है। सन्तुलन की स्थिति में वह OW_1 मजदूरी दर पर श्रम की OB मात्रा खरीदना चाहेगा। इस प्रकार, जबकि एकाधिकारी OW मजदूरी **कीमत कीमत अनिवार्य होती है।** दर पर श्रम की OA मात्रा बेचना चाहेगा, एक क्रेताधिकारी अपने सन्तुलन के लिए OW_1 मजदूरी दर पर श्रम की OB मात्रा खरीदना चाहेगा। अतः इस स्थिति में मजदूरी दर अनिवार्य है। यदि दोनों पक्ष इतने हठी हैं कि दोनों में से कोई भी अपने हित के विरुद्ध एक पैसे के लिए नहीं झुकना चाहता, तो श्रम की न कोई मात्रा बेची जाएगी, न खरीदी जाएगी। परन्तु ऐसीस्थिति की वास्तविक सम्भावना नहीं है। इसके विपरीत, यह आशा की जा सकती है कि दोनों पक्ष अपनी सौदा-शक्तियों के अनुसार सौदा करेंगे और वास्तविक मजदूरी दोनों छोरों के बीच कहीं तय होगी।

1. सिद्धान्त का कथन

विभिन्न बाजार-परिस्थितियों में साधन-कीमत निर्धारण प्रक्रिया के अध्ययन के पश्चात् अब हम वितरण के सीमान्त उत्पादिता सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण करने की स्थिति में है। इस सिद्धान्त का सूत्रीकरण सबसे पहले कोलम्बिया विश्वविद्यालय के विख्यात अर्थशास्त्री जे.बी. क्लार्क ने किया था। उसका उद्देश्य सभी साधनों के कीमत-निर्धारण के लिए एक सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करना था। परन्तु वास्तव में यह सिद्धान्त साधनों के केवल माँग पक्ष से ही सम्बद्ध है और उनके पूर्ति पक्ष की उपेक्षा करता है। मूलतः यह एक व्यष्टिगत सिद्धान्त है जो एक व्यक्तिगत फर्म के स्तर पर सन्तुलन निर्धारण से सम्बद्ध है। इसकी मुख्य उक्ति यह है: उत्पादन-साधनों को उनके सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर पुरस्कार प्राप्त होते हैं।

सी. उत्पादिकता सिद्धान्त के अनुसार साधनों को उनके सी.उ. के मूल्य के बराबर पुरस्कार प्राप्त होते हैं।

किसी साधन को जो कीमत मिलती है, वह नियोजक के दृष्टिकोण से उस साधन को प्रयोग करने की औसत लागत होती है। एक साधन के सीमान्त उत्पाद का मूल्य (VMP) उसके सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) तथा वस्तु की बाजार-कीमत (AR) का गुणनफल होता है। इसलिए सीमान्त उत्पादिता सिद्धान्त की मुख्य उक्ति कि ''उत्पादन-साधनों को उसके सीमांत उत्पाद के मूल्य के बराबर पुरस्कार मिलते हैं'' को हम निम्नलिखत समीकरण के माध्यम से प्रस्तुत कर सकते हैं:

$$AFC = VMP\ (MPP \times AR)$$

अर्थात् साधन की कीमत = सीमान्त उत्पाद का मूल्य (= सीमान्त भौतिक उत्पाद × वस्तु की कीमत)

किसी उत्पादन-साधन की माँग उस वस्तु की माँग से उत्पन्न होती है जिसके उत्पादन में वह साधन सहायक होता है। जब कोई फर्म किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई का नियोजन अन्य साधनों की एक नियत मात्रा के साथ करती है, तो फर्म को कुछ अतिरिक्त भौतिक उत्पाद प्राप्त होता है। फर्म की दिलचस्पी अतिरिक्त भौतिक उत्पाद में इतनी नहीं होती जितनी कि उस अतिरिक्त आय में जो इस भौतिक उत्पाद की बिक्री से प्राप्त होती है। किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण फर्म की कुल आय में होने वाली वृद्धि (MRP) (1) फर्म के कुल भौतिक उत्पाद में वृद्धि (MPP) तथा (2) उत्पाद की प्रत्येक इकाई का कुल आय में योगदान (MR) पर निर्भर करेगी।

अतः $MPR = MPP \times MR$

अर्थात सीमान्त आय उत्पाद = सीमान्त भौतिक उत्पाद × सीमान्त आय किसी भी साधन की माँग उसके MRP पर निर्भर करती है। साधन की अतिरिक्त इकाइयों का नियोजन करते समय नियोजक की दृष्टि इसी मात्रा पर केन्द्रित होती है।

जैसा कि पहले ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है, जब कोई फर्म कुछ साधनों की एक नियत मात्रा के साथ एक साधन की अधिकाधिक इकाइयों का नियोजन करती है, तो एक बिन्दु के पश्चात् ह्रासमान प्रतिफल नियम के सक्रिय हो जाने के कारण उस परिवर्ती साधन का सीमान्त भौतिक उत्पाद (MPP) घटना आरम्भ हो जाता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि किसी भी साधन का MP^P वक्र अन्ततः दायीं ओर नीचे को गिरता है। हम यह भी भली-भांति स्पष्ट कर चुके हैं कि दायीं ओर गिरते हुए MPP वक्र पर आधारित MRP वक्र भी इसी आकृति का होगा, चाहे कर्म प्रतियोगी वस्तु बाजार में ही अपना उत्पाद क्यों न बेचती हो। वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में MRP वक्र और भी तेजी से नीचे गिरेगा। वक्र MRP ही फर्म का उस साधन के लिए मांग वक्र होता है।

जबकि किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन से फर्म को कुछ अतिरिक्त आय (MRP) प्राप्त होती है दूसरी ओर यह अतिरिक्त इकाई फर्म की कुल लागत में भी कुछ वृद्धि करती है। साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के कारण फर्म की कुल लागत में हुई वृद्धि साधन की सीमान्त लागत (MFC) कहलाती है। मान लीजिए कि जब कोई फर्म एक साधन की 50 की बजाय 51 इकाइयों का नियोजन करती है, तो कुल लागत 2000 रु. की बजाय 2100 रु. हो जाता है। फर्म की कुल लागत में हुई यह वृद्धि (यानि 100 रु.) साधन की सीमान्त लागत होगी। साधन की एक अतिरिक्त इकाई का नियोजन करते समय, एक फर्म (जिसका उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना माना जाता है) सदा MRP की MFC से तुलना करेगी। जब तक MRP साधन की MFC से अधिक है फर्म साधन की अतिरिक्त इकाइयों का नियोजन करती जाएगी क्योंकि ऐसा करने से उसके कुल लाभ में वृद्धि होगी। दूसरी ओर यदि साधन की एक अतिरिक्त इकाई की MFC उसकी MRP से अधिक है, तो फर्म ऐसी इकाई का कभी नियोजन नहीं

करेगी क्योंकि ऐसा करने से फर्म को हानि होगी और फलस्वरूप उसके कुल लाभ में कमी होगी। इसलिए जब साधन की MFC उसकी MRP के बराबर होगी, तो फर्म और अधिक इकाइयों का नियोजन नहीं करेगी। अतः एक परिवर्ती साधन के नियोजन में MFC तथा MRC की समानता फर्म का सन्तुलन निर्धारित करती है। यह एक पूर्णतया सामान्य सन्तुलन शर्त है जिसका सभी बाजार परिस्थितियों में लाभ अधिकतम करने के लिए पूरा होना आवश्यक है।

एक फर्म को उत्पादन के लिए एक परिवर्ती साधन नहीं, अपितु बहुत से परिवर्ती साधनों का नियोजन करना पड़ता है। एक से अधिक परिवर्ती साधनों के नियोजन करने की स्थिति में फर्म के सन्तुलन की क्या शर्त होगी? चाहे कोई फर्म एक परिवर्ती साधन का नियोजन करे या एक से अधिक का, सन्तुलन की शर्त वही रहती है। इस स्थिति में भी प्रत्येक परिवर्ती साधन की MFC की उसकी MRP के साथ समानता फर्म के सन्तुलन का निर्धारण करेगी। उदाहरण के लिए, यदि एक फर्म के सामने 3 परिवर्ती साधनों – X, Y और Z के नियोजन की समस्या है, तो सन्तुलन के लिए आवश्यक होगा कि:

$$MFCx = MRPx$$
$$MFCy = MRPy$$
$$MFCz = MRPz$$

उपरोक्त सन्तुलन शर्त इस सरल तथ्य को व्यक्त करती है कि एक से अधिक परिवर्ती का धनों के नियोजन के मामलों में एक फर्म उस समय सन्तुलन में होगी जबकि विभिन्न साधनों की MFC उनकी MRP के अनुपात में हों। यदि हम विभिन्न साधनों की MRP को उनकी MFC से भाग दें, तो हमें $MRP_x/MFC_x = MRP_y/MFC_y = MRP_z/MEP_z$ जैसा समीकरण प्राप्त होता है।

MRPx/ MFCx जैसे अनुपात का क्या अर्थ है? यह अनुपात केवल साधन पर खर्च की गई मुद्रा की एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली MRP को व्यक्त करता है। MRP_x/MFC_x MRP_y, / MFC_y, MRP^z/ MFC^z आदि अनुपातों की समानता का अर्थ है कि तीनों साधनों पर खर्च की गई मुद्रा की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली MRP परस्पर समान है। इसलिए उपरोक्त सन्तुलन शर्त (अर्थात् विभिन्न साधनों के MRP तथा MFC के बीच अनुपात) को वैकल्पिक रूप में इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है।

उपरोक्त सन्तुलन शर्त का अर्थ है सभी साधनों पर खर्च की गई मुद्रा की एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली MRP की समानता।

फर्म सन्तुलन में तब होगी जब उसे मुद्रा की एक अतिरिक्त इकाई से समान MRP प्राप्त होगा, चाहे वह इकाई साधन X खर्च की जाए, साधन Y पर या Z पर। अतः एक से अधिक परिवर्ती साधन होने पर फर्म के सन्तुलन के लिए आवश्यक शर्त है कि

$$MRP_z : MRP_x : MRP_z = MFC_z : MFC^x : MFC_z$$

या $$\frac{MRP_x}{MFC_x} = \frac{MRP_y}{MFC_y} = \frac{MRP_z}{MFC_z}$$

उपरोक्त संतुलन शर्त एक पूर्णतया सामान्य शर्त है जिसका सभी बाजार परिस्थितियों में पूरा होना आवश्यक है।

2. सीमान्त उत्पादिकता सिद्धान्त का मूल्यांकन

एक विशेष ढाँचे के अन्तर्गत पारस्परिक सीमान्त उत्पादिकता सिद्धांत का यह कथन है कि साधनों को अपने सीमान्त भौतिक उत्पाद के मूल्य के बराबर कीमतें प्राप्त होती हैं। एक समीकरण के रूप में इस उक्ति को हमने इस प्रकार व्यक्त किया है:

AFC = VMP (= MPP × AR)

अर्थात् साधन की कीमत = उसके सीमांत उत्पाद का मूल्य (= सीमांत भौतिक उत्पाद × वस्तु की कीमत)

पिछले उपखण्ड में हमने देखा कि फर्म के संतुलन के लिए MFC तथा MRP की समानता एक आवश्यक शर्त है, बाजार-स्थिति चाहे जो भी हो। स्पष्ट है कि सीमांत उत्पादिता सिद्धांत की उक्ति (अर्थात AFC= VMP) तभी पूरी उतर सकती है जबकि संतुलन की आवश्यक शर्त (अर्थात MFC = MRP) भी साथ में पूरी हो। दूसरे शब्दों में, सीमांत उत्पादिता सिद्धांत का निष्कर्ष तभी पूरा उतर सकता है जबकि:

(1) MFC = MRP (MPP × MR)

(2) AFC = VMP (= MPP × AR)

वैकल्पिक ढंग से

MFC = AFC तथा

MRP = VMP

ऊपर खण्ड 1 में हमने देखा कि MRP तभी VMP के बराबर हो सकती है जबकि फर्म पूर्णतया प्रतियोगी वस्तु बाजार में अपना उत्पाद बेचती हो। वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में ही, उत्पादक की औसत आय (AR) उसकी सीमांत आय (MR) के बराबर होगी, अतः MRP तथा VMP समान होंगे क्योंकि दोनों का दूसरा तत्व (MPP) एक ही है। बहरहाल, यदि वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता न हो, तो साधन की MRP उसके VMP से कम रहेगा। इसलिए सीमांत उत्पादिता सिद्धांत के पूरा उतरने के लिए पहली आवश्यक शर्त हैः वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता का होना

वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में MRP = VMP

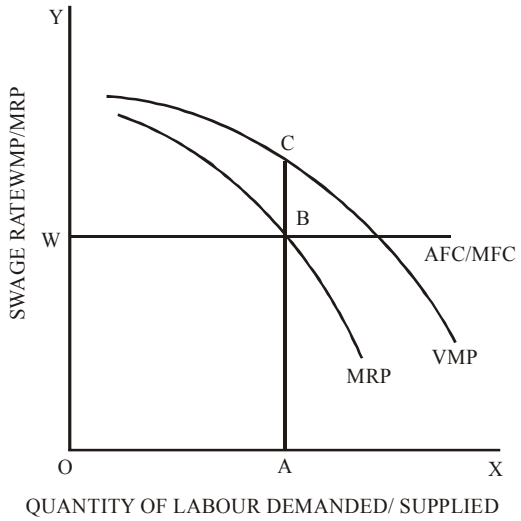
साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में MFC = AFC

दूसरा प्रश्न हैः

MFC किन परिस्थितियों में AFC के बराबर होगीः MFC तथा AFC की समानता का अर्थ है कि साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजक के कारण कुल लागत में होने वाली वृद्धि (अर्थात् MFC) साधन की कीमत (AFC) के बराबर होती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक साधन की बाजार-कीमत 100रु. प्रति इकाई है तथा फर्म इस बाजार कीमत को तनिक भी प्रभावित किए बिना साधन की कितनी भी मात्रा खरीद सकती है। अब मान लीजिए कि फर्म साधन की 50 इकाइयों की बजाय 51 इकाइयाँ खरीदने का निर्णय करती हैं। 51वीं इकाई की MFC कितनी होगी? स्पष्ट है कि 51वीं इकाई की MFC भी 100रु. होगी, (= 100 × 51 – 100 × 50) जो कि साधन की बाजार-कीमत (AFC) के बराबर है। ऐसा किन बाजार-परिस्थितियों में होता है? जैसा कि ऊपर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है, ऐसा तब होगा जबकि फर्म साधन की चालू बाजार कीमत को तनिक भी प्रभावित किए बिना साधन की जितनी मात्रा चाहे खरीद सके। यह तब संभव होता है जब बाजार में साधन के क्रेताओं की संख्या इतनी बड़ी हो कि एक फर्म की खरीद बाजार-पूर्ति का एक अत्यल्प भाग हो या दूसरे शब्दों में, जब साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो। अतः परिणाम यह निकलता है कि सीमांत उत्पादिता सिद्धान्त का निष्कर्ष कि साधनों को उनके सीमांत उत्पाद के मूल्य के बराबर कीमत मिलती है, केवल तब पूरा उतर सकता है जब साधन बाजार तथा वस्तु बाजार दोनों में पूर्ण प्रतियोगिता हो।

वस्तु बाजार या साधन बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता होने की स्थिति में क्या परिणाम निकलेगा, इसका अब अध्ययन करेंगे।

रेखाचित्र 1.6



वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में साधन कीमत VMP से कम होगी।

वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में आय का MRP उसके VMP से कम रहेगा। यदि साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है, तो भी साधन को उसके VMP से कम पुरस्कार प्राप्त होगा जैसा कि नीचे रेखाचित्र 8.14 से स्पष्ट है।

रेखाचित्र 8.14 में AFC/MFC वक्र बिन्दु B पर MRP वक्र को काटता है। बिन्दु B पर फर्म सन्तुलन में है। साधन की कीमत AB के बराबर हैं जो उसके VMP से कम है। यदि वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो, परन्तु साधन बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता

हो, तो फिर इसका साधन की कीमत पर क्या प्रभाव पड़ेगा? वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मेंसाधन के MRP तथा VMP परस्पर समान होंगे।

साधन बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ है कि फर्म बाजार-कीमत को प्रभावित किए बिना साधन की अधिक मात्रा नहीं खरीद सकती। दूसरे शब्दों में, फर्म का क्रय साधन की अधिक मात्रा नहीं खरीद सकती। दूसरे शब्दों में, फर्म का क्रय साधन की बाजार-पूर्ति का अत्यल्प भाग नहीं है और परिणामस्वरूप वह साधन की अधिक मात्रा उसकी बाजार कीमत को बढ़ा कर ही खरीद सकती है। इस स्थिति में, साधन की MFC की क्या प्रवृत्ति होगी? मान लीजिए एक फर्म जब किसी साधन की 60 इकाइयों की बजाय 51 इकाइयाँ खरीदती है, तो साधन की प्रति इकाई कीमत 100 रु. की बजाय 101 रु. हो जाती है। इस उदाहरण के अनुसार साधन की MFC 151रु. $(51 \times 101 - 50 \times 100)$ होगी जो कि साधन की बाजार-कीमत (101 रू.) से अधिक है। अतः साधन बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ है कि साधन की MFC उसकी कीमत यानी AFC से अधिक होगी। इसलिए इस स्थिति में साधन का पुरस्कार उसके VMP के बराबर नहीं हो सकता। इसे रेखाचित्र 8.15 में स्पष्ट किया गया है।

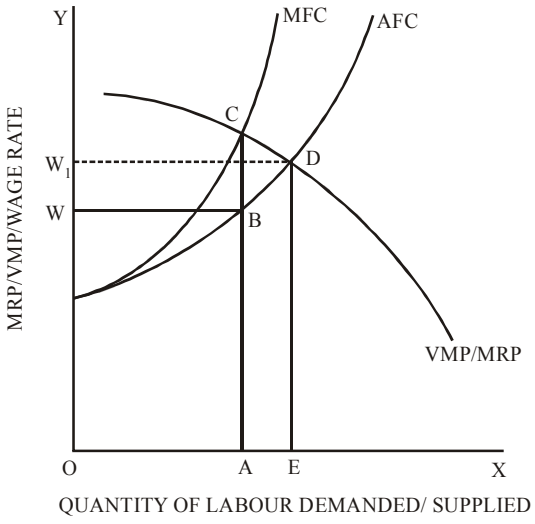
साधन बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में साधन कीमत VMP तथा MRP दोनों से कम होगी।

रेखाचित्र 8.15 में बिन्दु C पर MFC तथा MRP की समानता साधन-विशेष की खरीद में फर्म का सन्तुलन निर्धारित करती है। परन्तु साधन को AB के बराबर पुरस्कार मिलता है जो VMP तथा MRP दोनों से ही कम है। अतः साधन-बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में साधन को VMP से कम पुरस्कार मिलता है, भले ही वस्तु-बाजर में पूर्ण प्रतियोगिता हो।

3. निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि साधनों को उनके सीमांत-उत्पाद के मूल्य (VMP) के बराबर पुरस्कार तब मिल सकता है जब वस्तु बाजार तथा साधन बाजार दोनों में ही पूर्ण प्रतियोगिता हो। दोनों में से किसी भी बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में सीमांत उत्पादिता सिद्धांत पूरा नहीं उतरता।

रेखाचित्र 1.7



4. सीमांत उत्पादिता सिद्धांत की आलोचनात्मक समीक्षा

आलोचनात्मक समीक्षा के लिए उन मान्यताओं को जानना आवश्यक है जिन पर यह सिद्धांत आधारित है। ये मान्यताएँ निम्नलिखित हैं:

1. वस्तु-बाजार तथा साधन-बाजार दोनों में पूर्ण प्रतियोगिता है;
2. साधन अनुपात परिवर्तनीय है;
3. नियोजक को परिवर्ती साधनों में VMP, MRP आदि का पूर्ण ज्ञान है;
4. अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति है।

आलोचकों का तर्क यह है कि यह सिद्धांत दोनों बाजारों (वस्तु तथा साधन बाजार) में पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित

है जबकि वास्तविक संसार में अपूर्ण प्रतियोगिता होती हं, अपवाद नहीं। पूर्ण प्रतियोगिता तो केवल एक सैद्धांतिक संरचना है। इसलिए आलोचकों के अनुसार यह सिद्धांत अवास्तविक है। हम ऊपर विस्तारपूर्वक यह स्पष्ट कर चुके हैं कि केवल दोनों बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता होने पर ही यह सिद्धांत पूरा उतरता है, अन्यथा नहीं, इस आलोचना की शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि हम सीमांत उत्पादिता सिद्धांत को किस अर्थ में लेते हैं। यदि इस सिद्धांत को इस अर्थ में लें कि साधनों को उनके सीमांत भौतिक उत्पाद के मूल्य (VMP) के बराबर पुरस्कार मिलता है, तो फिर दोनों बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अनिवार्य है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, MFC तथा MRP की समानता एक पूर्णतया सामान्य संतुलन शर्त है जो सभी बाजार-स्थितियों में लागू होती है। इसलिए यदि हम सीमांत उत्पादिता सिद्धांत को इस अर्थ में समझते हैं कि MFC तथा MRP की समानता एक साधन के नियोजन में फर्म का सन्तुलन निर्धारित करती है, तो फिर किसी भी बाजार में प्रतियोगिता की मान्यता की आवश्यकता नहीं रह जाती।

अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में साधन कीमतें VMP के बराबर नही हो सकती।

दूसरे, साधन-अनुपातों की परिवर्तनीयता की भी आलोचना की गई है। यह कहा जाता है कि प्रायः विभिन्न साधनों को नियत अनुपातों में मिलाना पड़ता है। और ऐसी स्थिति में साधन के सीमांत भौतिक उत्पाद को मापना भी सम्भव नहीं होता। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए सभी साधनों को नियत अनुपातों में बढ़ाना पड़ता है। परन्तु यह इस सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत सटीक आलोचना नहीं है। यदि किन्हीं स्थितियों में साधन अनुपात पूर्णतया अपरिवर्तनीय है (जैसे एक ट्रेक्टर पर एक ड्राईवर, एक आरे के साथ एक बढ़ई आदि) तब भी श्रमिकों से प्रतिदिन या प्रति सप्ताह अधिक घंटे काम करवाकर दी हुई साज-सज्जा का अधिक सघन प्रयोग करना प्रायः सम्भव होता है। अतः अल्पकाल में भी साधन-अनुपात इस अर्थ में परिवर्तनीय होते हैं। दीर्घकाल में तो किसी वस्तु के उत्पादन के लिए वैकल्पिक उत्पादन विधियों का विकास भी किया जा सकता है। अतः किसी भी समयावधि में साधन अनुपात स्थिर नहीं माने जा सकते। नेतृत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यदि एक साधन का दूसरे साधन से लगातार प्रतिस्पर्धा करना संभव हो तो भी यह सिद्धांत लागू होता है। अन्तर केवल यह होगा कि साधन कीमतों में छोटे परिवर्तन शायद साधन-अनुपातों में परिवर्तन प्रेरित न कर सकें, उसी स्थिति में नियेाजक के लिए साधन-अनुपातों में परिवर्तन करना लाभदायक होगा। जब साधन-कीमतों में काफी बड़ा परिवर्तन हो।

साधन-अनुपातों की अपवर्तनीयता एक उचित आलोचना नहीं।

तीसरे, सीमांत उत्पादिता सिद्धांत के अनुसार MRP (तथा VMP) की साधन कीमत के साथ समानता फर्म का सन्तुलन निर्धारित करती है। यह आलोचना की जाती है कि उपरोक्त सन्तुलन शर्त निहितार्थ रूप से इस मान्यता पर आधारित है कि नियोजक को साधन की एक अतिरिक्त इकाई से भविष्य में प्राप्त होने वाली MRP या VMP का पूर्व ज्ञान है। यह बात ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी यह अनुमान नही लगा सकता कि भविष्य में क्या होगा। भौतिक उत्पाद प्रत्याशित उत्पाद से कम हो सकता है या फिर वस्तु की कीमत उसकी प्रत्याशित कीमत से भिन्न हो सकती है। यह आलोचना बहुत संगत नहीं है। सीमांत उत्पादिता सिद्धांत केवल यह दावा करता है कि एक फर्म का लाभ तभी अधिकतम होगा जब प्रत्येक साधन की कीमत उसके MRP तथा VMP के समान होगी। फर्म किसी साधन के VMP तथा MRP का कैसे पूर्वानुमान लगाती है, इस विषय में सीमांत उत्पादिता सिद्धांत कुछ नहीं कहता। पूर्वानुमान का प्रश्न एक अलग प्रश्न है जिसका अध्ययन हम इस सैट के अन्तिम खण्ड में करेंगे।

चौथे, यह कहा जाता है कि वस्तुओं के उत्पादन में आमतौर पर काफी समय लगता है। कई बार तो उत्पादन को प्रारम्भ करने तथा पूरा करके बाजार में बेचने के बीच महीनों, यहाँ तक वर्षों का समय बीत जाता है। इसलिए आलोचकों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि एक फर्म साधन को उसकी MRP या VMP का पूरा मूल्य पेशगी नहीं दे सकती, बल्कि उसका बट्टाकृत मूल्य ही देगी। यह आलोचना ठीक ही है और इस सीमा तक सिद्धांत में संशोधन की आवश्यकता है।

साधन कीमतें बट्टाकृत मूल्य होते हैं न कि पूरे मूल्य।

पाँचवे, सीमांत भौतिक उत्पाद की परिभाषा हम इस प्रकार करते हैंः किसी साधन की एक अतिरिक्त इकाई के नियोजन के फलस्वरूप (शेष सभी साधनों की मात्राएँ स्थिर रहते हुए) फर्म के कुल उत्पाद में हुई वृद्धि। MPP की यह परिभाषा यह आभास देती है कि अतिरिक्त उत्पाद केवल साधन की अतिरिक्त इकाई के कारण ही उत्पन्न होता है और इसमें दूसरे साधनों को कोई योगदान नहीं है। इस प्रकार सीमांत उत्पाद की अवधारणा साधन के अलग से उत्पादन में योगदान पर बल देती है। यह एक अवास्तविक बात मानी जाती है। वास्तव में उत्पादन विभिन्न साधनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम होता है तथा अतिरिक्त उत्पाद में अन्य साधनों के योगदान की उपेक्षा करके उसे एक साधन के साथ जोड़ना ठीक नहीं है। विभिन्न साधन एक दूसरे की प्रभावकारिता में वृद्धि करते हैं, अतः एक दूसरे के पूरक होते हैं। श्रम की उत्पादिता जितनी अपने प्रयास से बढ़ सकती है, उतनी ही अन्य साधनों की मात्रा में

वृद्धि के कारण जिनके साथ श्रमिक काम करता है– उन्नत पूँजीगत वस्तुओं के प्रयोग से या तकनीकी प्रगति आदि से । अतः MPP की अवधारणा के माध्यम से उत्पादन में एक साधन के अलग योगदान को नहीं मापा जा सकता।

यह सिद्धांत पूर्ति पक्ष की पूर्ण उपेक्षा करता है।

अन्त में, यह सिद्धांत मुख्य रूप से केवल इस बात से सम्बद्ध है कि साधनों की माँग कैसे निर्धारित होती है। इस बात की तो यह सिद्धांत सही-सही व्याख्या करता है कि कौन से तत्त्व साधनों की माँग निर्धारित करते हैं, परन्तु साधनों के पूर्ति पक्ष की यह पूरी तरह उपेक्षा करता है। सिद्धांत की यह भारी कमी है।

II

उपखण्ड I

अवधारणा

आर्थिक लगान साधन कीमत का वह भाग होता है जो उसकी अन्तरण आय के अतिरिक्त हो।

आम भाषा में लगान उस नियतकालिक अदायगी को कहा जाता है जो भूमि, इमारतों, साज-सज्जा, अन्य वस्तुओंआदि के इस्तेमाल के लिए की जाती है। उदाहरण के लिए, टैलीविजन, कारों, मकानों, दुकानों आदि के किराये (इस्तेमाल के एवज में, जबकि उन्हें खरीदा नहीं जाता) के रूप में की गई अदायगियों को आम भाषा में लगान कहा जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में लगान की अवधारणा का एक विशेष अर्थ है। अर्थशास्त्र में किसी साधन के वर्तमान प्रयोग से प्राप्त आय के उस भाग को लगान कहते हैं जो साधन को उस प्रयोग में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक आय से अधिक है। किसी साधन को उसके वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक आय वह है जो साधन दूसरे सर्वोत्तम वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकता है। जो आय साधन अपने दूसरे सर्वोत्तम वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकता है, उसे अर्थशास्त्र की तकनीकी भाषा में 'अन्तरण आय' कहा जाता है। **अतः साधन की वर्तमान आय का उसकी अन्तरण आय पर आधिक्य ही आर्थिक लगान कहलाता है।** इस परिभाषा के अनुसार यदि किसी साधन की अन्तरण आय शून्य है (अर्थात् उस साधन का कोई वैकल्पिक प्रयोग नहीं है), तो उसकी पूरा वर्तमान आय आर्थिक लगान होगी। उदाहरण के लिए, मान लीजिए एक अध्यापक के लिए दूसरा सर्वोत्तम वैकल्पिक रोजगार है एक क्लर्क के रूप में काम करना। यह भी मान लीजिए कि अध्यापन कार्य में वह 1000 रु. मासिक कमाता है जबकि क्लर्क के रूप में वह केवल 500 रु. मासिक कमा सकता है। अध्यापक के वर्तमान व्यवसाय के दृष्टिकोण से ,500 रु. अध्यापक की अन्तरण आय है और शेष 500 रु. उसका आर्थिक लगान। यदि अध्यापन कार्य में मासिक वेतन गिरकर 500 रु. से कम हो जाए, तो निश्चय ही वह अध्यापन छोड़कर क्लर्क कार्य प्रारम्भ कर देगा। अतः अध्यापक की वर्तमान आय का एक भाग उसकी अन्तरण आय (उसे अध्यापन में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक आय) है त्था दूसरा भाग आर्थिक लगान। हम एक उदाहरण लेते हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि कुछ स्थितियों के अन्तर्गत, किसी साधन की सारी वर्तमान आय आर्थिक लगान हो सकती है। मान लीजिए समुद्र तट पर भूमि का एक टुकड़ा है जो अपनी स्थिति के कारण एक होटल बनाने के काम में ही आ सकता है, और किसी प्रयोग में नही। यह भी मान लीजिए कि इस होटल का निर्माण करके इस प्लाट से 1000 रु. मासिक की शुद्ध आय (अन्य लागत को निकाल कर) प्राप्त हो सकती है। क्योंकि यह प्लाट किसी अन्य प्रयोग में नहीं लाया जा सकता, इसलिए इसकी अन्तरण आय शून्य के बराबर है और इसकी सारी वर्तमान आय आर्थिक लगान है। अतः लगान की आधुनिक अवधारणा के अनुसार लगान एक अतिरेक या अधिशेष है जो कोई साधन इकाई अपने वर्तमान प्रयोग में अपनी अन्तरण आय के ऊपर (अतिरिक्त) कमाती है। स्पष्ट यदि किसी साधन इकाई की अन्तरण आय शून्य के बराबर हो, तो उसकी सारी वर्तमान आय आर्थिक लगान होगी। दूसरी ओर, यदि किसी साधन की सारी आय उसे वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक है अर्थात् उसकी अन्तरण आय है, तो आर्थिक लगान शून्य होगा।

उपखण्ड 2

लगान की अवधारणा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

लगान की अवधारणा की एक विशेष पृष्ठभूमि है। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में, अनाज की ऊँची कीमत के विषय में एक वाद-विवाद उत्पन्न हुआ था। कुछ लोगों का विचार था कि अनाज की कीमत इसलिए ऊँची है क्योंकि भूमि-स्वामी किसानों से बहुत ऊँचा लगान लेते हैं। इन लोगों का तर्क था कि किसानों के लिए ऊँचे लगान का अर्थ है अनाज की ऊँची उत्पादन लागत। ऊँची उत्पादन लागत को पूरा करने के लिए किसानों को अनाज की कीमत बढ़ानी पड़ती है। **इसलिए, इन लोगों के अनुसार, अनाज की कीमत इसलिए ऊँची थी क्यांकि अनाज की उत्पादन लागत अधिक थी और उत्पादन-लागत इसलिए अधिक थी क्योंकि भूमि का लगान अधिक था।** अतः इस दृष्टिकोण के अनुसार, लगान को उत्पादन-लागत का एक भाग तथा अनाज की ऊँची कीमत का कारण माना गया था। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले भूस्वामियों पर नियन्त्रण रखने तथा किसी भी तरीके से उनसे उचित व्यवहार कराने की वकालत करते थे।

उपरोक्त दृष्टिकोण के विपरीत विख्यात, अर्थशास्त्री रिकार्डो का मत था कि भूमि का लगान इसलिए ऊँचा था क्यांकि अनाज की

कीमत ऊँची थी। रिकार्डो का तर्क था कि नेपोलियन के युद्धों तथा जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न अनाज की कमी के कारण अनाज की कीमत बढ़ गई थी। अनाज की कीमत में वृद्धि के कारण अनाज की उत्पादन अधिक लाभदायक हो गया था जिसके परिणामस्वरूप कृषि-भूमि के लिए किसानों में तीव्र स्पर्धा उत्पन्न हो गई थी तथा भूमि को लगान बढ़ गया था। इस मत के अनुसार, यदि अनाज की कीमत कम हो, तो अनाज का उत्पादन कम लाभदायक होगा, भूमि के लिए माँग कम होगी और परिणाम स्वरूप भूमि के प्रयोग के लिए दी जाने वाली कीमत (यानी लगान) भी कम होगी। इसलिए रिकार्डो ने अनाज के आयात पर कर हटाने की वकालत की ताकि बाहर से अनाज कम कीमत पर आयात किया जा सके। **अतः रिकार्डो के अनुसार, अनाज की कीमत इसलिए ऊँची नहीं थी क्योंकि भूमि का लगान ऊँचा था, बल्कि भूमि का लगान इसलिए ऊँचा था क्योंकि अनाज की कीमत ऊँची थी। स्पष्ट है कि इन दोनों दृष्टिकोणों में कार्य-कारण श्रृंखला एक दूसरे के विपरीत है तथा दोनों से नीति-विषयक निष्कर्ष भी भिन्न निकलते हैं।**

लगाने के बारे में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण।

(1) लगान उत्पादन लागत का भाग है और इसलिए कीमत निर्धारित करता है।

(2) लगान कीमत द्वारा निर्धारित होता है।

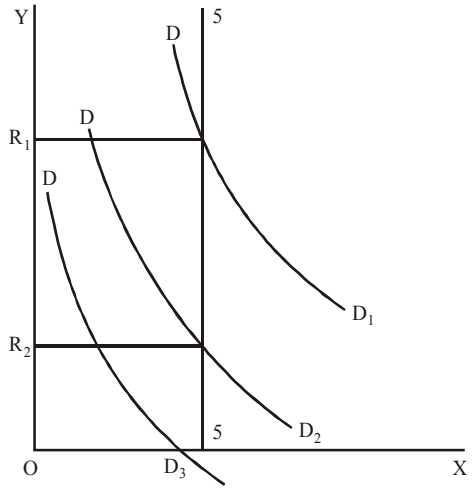
भूमि की पूर्ति के विषय में रिकार्डो की मान्यता यह थी कि पूरी अर्थ-व्यवस्था के दृष्टिकोण से भूमि की पूर्ति प्रर्णतया बेलोच है और उसका केवल एक ही प्रयोग है– अनाज उगाना। अन्य शब्दों में, भूमि की अन्तरण आय शून्य है और इसलिए जो भी आय भूमि के प्रयोग के एवज में प्राप्त होती है, वह उस न्यूनतम आवश्यक आय से ऊपर है जो भूमि को उसके वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए आवश्यक है। भूमि की पूर्ति पूर्णतया बेलोच होने के कारण, उसकी कीमत (अर्थात् लगान) केवल माँग पर ही निर्भर करती है। भूमि के लिए माँग अनाज की कीमत पर निर्भर करती है। नीचे रेखाचित्र 8.16 की सहायता से रिकार्डो के अर्थ का चित्रण किया गया है।

रिकार्डो की मान्यता के अनुसार भूमि की पूर्ति पूरी अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से पूर्णतया बेलोच थी।

पूर्णतया बेलोच पूर्ति का अर्थ है कि साधन की अन्तरण आय शून्य है।

नीचे दिए गए रेखाचित्र में X अक्ष पर भूमि की मात्रा (माँग तथा पूर्ति, दोनों के सन्दर्भ में) तथा Y अक्ष पर भूमि की कीमत (लगान) और MRP को दिखाया गया है। लगान की दर चाहे जो भी हो, भूमि की पूर्ति OS ही रहता है। अर्थात् भूमि की पूर्ति को पूर्णतया बेलोच माना गया है। D_1, D_2 और D_3 भूमि के तीन माँग वक्र हैं जो कि अनाज की तीन भिन्न कीमतों पर आधारित हैं। ह्रासमान प्रतिफल नियम के कारण ये दायीं ओर नीचे को झुके हुए होते हैं। भूमि का माँग वक्र D_1 होने की स्थिति में लगान की दर OR_1 होगी, D_2 होने की स्थिति में OR_2 और D_3 होने की स्थिति में लगान की दर शून्य होगी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भूमि की पूर्ति बेलोच होने की स्थिति में (अर्थात् जब अन्तरण आय शून्य हो), लगान की दर पूर्णतया भूमि की माँग पर निर्भर करती है और भूमि की माँग अनाज की कीमत पर निर्भर करती है। जितनी अधिक अनाज की कीमत होगी, उतना ही ऊँचा भूमि का माँग वक्र होगा। ($D_1 > D_2 > D_3$) और उसके अनुरूप लगान की दर भी उतनी ही ऊँची होगी। भूमि की अन्तरण आय शून्य होने पर जो भी उसे लगान के रूप में प्राप्त होता है, वह एक शुद्ध अतिरेक है तथा आर्थिक अर्थ में लगान है।

रेखाचित्र 2.1



पूरी अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से भूमि की अन्तरण आय शून्य है। इसलिए भूमि के प्रयोग के लिए दी गई सारी कीमत ही लगान है।

ऐतिहासिक दृष्टि से लगान की अवधारणा उन साधनों से गहरी जुड़ी है जिन्हें 'प्राकृतिक देन' कहा जाता है। प्राकृतिक साधनों में मुख्य भूमि है और इसी कारण सभी प्राकृतिक साधनों की भूमि का नाम दिया गया। इन प्रकृति प्रदत्त साधनों की मूल विशेषता यह है कि अन्य उत्पादन साधनों के विपरीत, इनका उत्पादन मानवीय प्रयास से नहीं होता। ये प्रकृति की मुफ्तदे न होते है। दीर्घकाल में भी, मानवीय प्रयास द्वारा उनकी मात्राओं (पूर्ति) को तनिक भी प्रभावित नहीं किया जा सकता। पूरे समाज की दृष्टि से ऐसे साधनों की पूर्ति कीमत शून्य होती है और इसी कारण जो भी अदायगी उनके प्रयोग के लिए की जाती है, वह शुद्ध लगान है।

बाद में यह अनुभव किया गया कि भूमि के अलावा अन्य उत्पादन-साधन भी कई बार इस न्यूनतम आय से अधिक आय प्राप्त करते हैं जो उन्हें उनके वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए एक संगीतज्ञ को उसकी सेवाओं की माँग अधिक होने के कारण काफी ऊँची आय प्राप्त होती है। परन्तु यदि किसी कारणवश उसकी सेवाओं की माँग गिर जाए और उसे एक अप्रशिक्षित श्रमिक का काम करना पड़े, तो उसकी आय अपेक्षाकृत बहुत कम होगी। इसलिए उसे वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए जो न्यूनतम आवश्यक आय है, उससे कहीं अधिक आय वह संगीतज्ञ के रूप में प्राप्त कर रहा है। दूसरी बात यह महसूस की गई कि उस स्थिति में भी जबकि किसी साधन की कुल पूर्ति पूर्णतया बेलोच है, किसी एक प्रयोग के दृष्टिकोण से उनकी पूर्ति लोचदार होगी (यहाँ तक कि यह पूर्णतया लोचदार भी हो सकती है)। परिणामस्वरूप, ऐसे साधन के प्रयोग के लिए की गई पूरी अदायगी या उसका एक भाग उसे वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक आय (अर्थात् उसकी अन्तरण आय) होगा और शेष आर्थिक लगान होगा। अतः यह समझा गया कि इस लिहाज से, अन्य साधन भी ठीक भूमि जैसे ही हैं। उनकी आय का एक भागउनकी अन्तरण आय और शेष भाग लगान हो सकता है। इसलिए लगान को, जिसका प्रयोग पहले भूमि (अर्थात् प्राकृतिक साधनों) के प्रयोग के लिए की गई अदायगी के सन्दर्भ में ही किया जाता था, बाद में अर्थशास्त्रियों ने उसे अतिरिक्त आय का सूचक माना जो किसी भी साधन को उसके वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक आय से अधिक होती है। अन्तरण आय के अलावा प्राप्त अतिरेक को, चाहे वह भी उत्पादन साधन को भी प्राप्त हो, अब 'आर्थिक लगान' कहा जाता है।

यदि हम भूमि के विकल्पित प्रयोगों पर ध्यान दें तो उसकी आय का एक भाग ही आर्थिक लगान होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से लगान की अवधारणा उन प्राकृतिक साधनों के संदर्भ में उत्पन्न हुई जिनकी उत्पत्ति मानवीय प्रयास से नहीं होती। रिकार्डो ने लगान का विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से किया। उसकी यह मान्यता थी कि भूमि की पूर्ति प्रर्णतया बेलोच है तथा अन्न उगाने के अलावा उसका कोई वैकल्पिक प्रयोग भी नहीं है। दूसरे शब्दों में, रिकार्डो के अनुसार भूमि की अन्तरण आय शून्य थी। इसलिए भूमि के प्रयोग के लिए की गई सारी अदायगी को लगान (अर्थात्- अन्तरण आय पर एक अतिरेक) माना गया। परन्तु

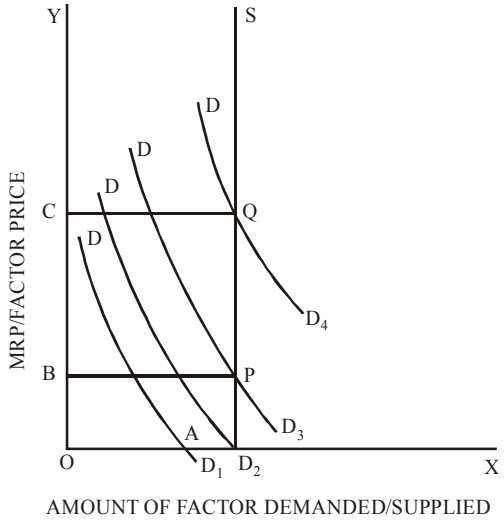
MRP पर निर्भर करती है और MRP उस वस्तु की बाजार-कीमत पर निर्भर करती है जिसके उत्पादन में वह साधन प्रयुक्त होता है। जितनी अधिक उस वस्तु की कीमत होगी, उतनी ही अधिक उस उत्पादन-साधन की माँग होगी तथा इसके विपरीत भी। जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोच होती है, तो उसका पूर्तिवक्र लम्बवत् (अर्थात् Y अक्ष के समानान्तर) होता है जिसका अर्थ है कि वस्तु की पूर्ति उसकी कीमत में परिवर्तन के प्रति पूर्णतः असंवेदनशील है। साधन की दी हुई मात्रा उत्पादन के लिए उपलब्ध है, चाहे उसके प्रयोग के लिए कोई कीमत दी जाए या नहीं। उदाहरण के लिए, चाहे उसके प्रयोग के लिए कोई कीमत दी जाए या नहीं। उदाहरण के लिए, नीचे रेखाचित्र 8.17 में साधन की पूर्ति OS पर ही स्थिर रहती है चाहे कीमत शून्य हो या OB या फिर OC।

साधन पूर्ति पूर्णतया बेलोच होने का अर्थ है अन्तरण आय का शून्य होना। इसलिए उसकी परी कीमत ही लगान होगी।

DD_1 माँग वक्र X अक्ष को बिन्दु A पर काटता है जिसका अर्थ है कि साधन की केवल OA मात्रा प्रयुक्त होती है, AS मात्रा अप्रयुक्त रहती है और साधन की कीमत शून्य होती है। DD_2 माँग वक्र पूर्ति वक्र को बिन्दु S पर काटता है जिसका अर्थ है कि साधन की कुल मात्रा प्रयुक्त होती है, किन्तु साधन की कीमत शून्य होती है। जब माँग वक्र DD_3 होता है, तो साधन को OB के बराबर कीमत मिलती है। साधन की माँग में वृद्धि के कारण जब माँग वक्र DD_4 होता है तो उसकी कीमत OB से बढ़कर OC हो जाती है। निष्कर्ष स्पष्ट है कि जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोच होती है (अर्थात् साधन की अन्तरण आय शून्य है), तो साधन की पूरी कीमत एक शुद्ध अतिरेक, अर्थात् आर्थिक लगान होता है। दूसरे, साधन की कीमत का स्तर उसके माँग की ऊँचाई पर निर्भर करता है। साधन माँग वक्र की ऊँचाई उस वस्तु की कीमत पर निर्भर करती है जिसके उत्पादन में वह साधन प्रयुक्त होता है। अतः जितनी अधिक वस्तु की कीमत होगी, उतना ही ऊँचा साधन का माँग वक्र होगा और उतनी ही अधिक साधन की कीमत भी होगी। लगान के सम्बन्ध में रिकार्डो का दृष्टिकोण यही था।

इस स्थिति में साधन की कीमत उत्पादित वस्तु की माँग द्वारा निर्धारित होती है। जितनी अधिक वस्तु की माँग होगी, उतनी ही अधिक साधन की कीमत होगी।

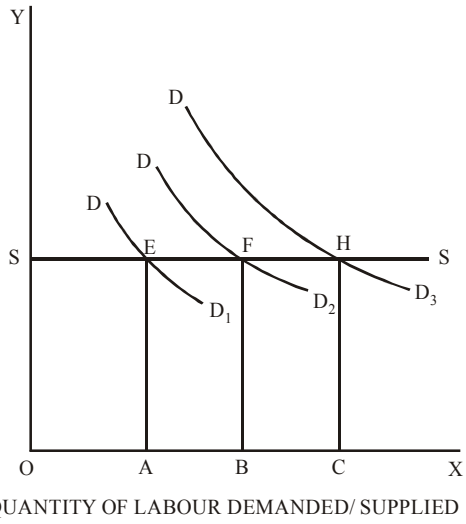
रेखाचित्र 2.2



2.

X अक्ष के समानान्तर होता है जैसा कि नीचे रेखाचित्र 2.3 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 2.3



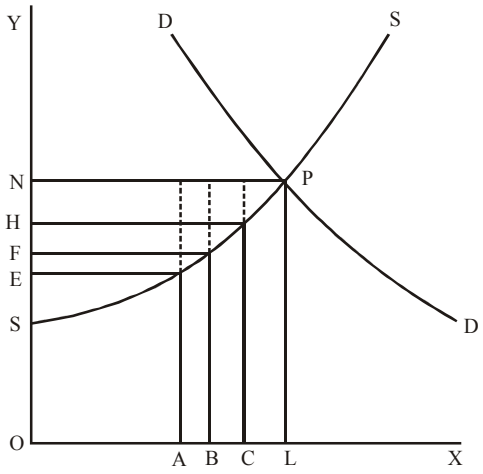
OS पर स्थिर रहती है, माँग वक्र चाहे DD_1 हो DD_2 हो या DD_3। इस स्थिति में साधन को अपनी अन्तरण आय (= OS) के बराबर ही कीमत मिलती है, अधिक नहीं तथा साधन को कोई लगान प्राप्त नहीं होता। अतः जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है, तो उसका लगान शून्य होता है।

साधन की पूर्णतया लोचदार पूर्ति का अर्थ है सभी प्रयोगों में उसकी कीमत का समान होना। इसलिए इस स्थिति में साधन को कोई लगान प्राप्त नहीं होता।

3. पूर्णतया से कम लोचदार पूर्ति का लगान पर प्रभाव

पूर्णतया से कम लोचदार पूर्ति वक्र का अर्थ है कि साधन की अधिक मात्राएँ अधिकाधिक ऊँची कीमतों पर ही खरीदी जा सकती है। ऐसा पूर्ति वक्र दायीं ओर ऊपर उठता है जैसा कि नीचे रेखाचित्र 2.4 में दिखाया गया है।

रेखाचित्र 2.4



रेखाचित्र SS के अनुसार साधन की OA मात्रा OE कीमत पर खरीदी जा सकती है, OB मात्रा OF कीमत पर, OC मात्रा OH कीमत पर, इत्यादि। माँग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS के कटान बिन्दु P पर संतुलन निर्धारित होता है जिसके अनुसार ON संतुलन कीमत तथा इस कीमत पर मांगी गई तथा पूर्ति की गई साधन की मात्रा OL के बराबर होती है। साधन की प्रत्येक इकाई की कीमत ON के बराबर होती है तथा साधन को प्राप्त कुल आय आयत OLPN के क्षेत्रफल के बराबर होती है।

साधन की पूर्ति पूर्णतया से कम लोचदार होने की दशा में उसकी आय का एक भाग अन्तरण आय और दूसरा भाग आर्थिक लगान होगा।

साधन की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी उतनी ही कम उसकी कीमत में लगान का अंश होगा।

इस स्थिति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि साधन की केवल सीमांत इकाई (अर्थात् खरीदी गई अन्तिम इकाई) को ही अपनी पूर्ति कीमत के बराबर कीमत प्राप्त होती है। शेष सभी सीमांतर्गत (सीमांत से पहले की) इकाइयाँ अपनी-अपनी पूर्ति कीमत से अधिक कीमत प्राप्त करती है। उदाहरण के लिए, साधन की OA मात्रा की पूर्ति कीमत केवल OE के बराबर है जबकि वास्तव में उसे ON के बराबर कीमत मिली है, OB मात्रा की पूर्ति कीमत केवल OF है तथा वास्तविक कीमत ON है, तथा इसी प्रकार OC मात्रा की पूर्ति कीमत तथा वास्तविक कीमत क्रमशः OH व ON है, इत्यादि। इस प्रकार सीमांत इकाई को छोड़कर उसके पहले की सभी इकाइयाँ अपनी पूर्ति कीमत से अधिक कीमत प्राप्त करती हैं। पूर्ति वक्र SS तथा कीमत वक्र NP के बीच बीच लम्बवत दूरी (जो रेखाचित्र में टूटी रेखाओं में दिखाई गई है) उस अतिरेक का सूचक है जो साधन की विभिन्न इकाइयों को अपनी पूर्ति कीमतों के ऊपर प्राप्त होता है। प्रत्येक इकाई को अपनी पूर्ति कीमत से ऊपर प्राप्त होने वाला अतिरेक आर्थिक लगान है। सीमांत इकाई को कोई लगान प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसकी कीमत पूर्ति कीमत के केवल बराबर होती है, उससे अधिक नहीं। ऊपर दिए गए रेखाचित्र के अनुसार OLNP क्षेत्रफल साधन को प्राप्त होने वाली कुल आय को व्यक्त करता है तथा क्षेत्रफल OLPS उसकी अन्तरण आय पूर्ति कीमत को। इस प्रकार इस स्थिति में क्षेत्रफल SPN आर्थिक लगान को दर्शाता है। आर्थिक लगान (क्षेत्रफल SPN) साधन को प्राप्त कुल आय (क्षेत्रफल OLPN) और उसकी अन्तरण आय अर्थात् साधन की उपयुक्त मात्रा प्राप्त करने के लिए न्यूनतम आवश्यक कीमत (क्षेत्रफल OLPS) के अन्तर के बराबर होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि इस स्थिति में, सीमांत इकाई को छोड़कर, साधन की इकाई को प्राप्त होने वाली कीमत का एक भाग उसकी अन्तरण आय है और शेष आर्थिक लगान।

साधन-पूर्ति की लोच तथा आर्थिक लगान के बीच सम्बन्ध के विषय में उपरोक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:

1. आर्थिक लगान साधन-पूर्ति की लोचहीनता से उत्पन्न होता है। जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है, तो उसे कोई लगान प्राप्त नहीं होता। इस स्थिति में साधन को अपनी अन्तरण आय के बराबर ही कीमत मिलती है।
2. जब किसी साधन की पूर्ति, पूर्णतया बेलोच होती है, तो उसकी अन्तरण आय शून्य और सम्पूर्ण आय आर्थिक लगान होती है।
3. जब किसी साधन की पूर्ति कुछ लोचदार अर्थात् न तो पूर्णतया लोचदार और न ही पूर्णतया बेलोच होती है, तो उसकी कीमत का एक भाग अन्तरण आय और शेष आर्थिक लगान होता है।

अतः जितनी अधिक किसी साधन की पूर्ति लोचदार होगी, उसकी कीमत का उतना ही कम भाग आर्थिक लगान होगा तथा इसका विपरीत भी।

पिछले उप-खण्ड के विवेचन से यह निष्कर्ष निकला था कि लगान के उत्पन्न होने का मूल कारण साधन-पूर्ति की लोचहीनता है। साधन पूर्ति जितनी अधिक बेलोच होगी, उतनी ही अधिक साधन-कीमत में लगान का अंश होगा। यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोच हो, तो उसकी अन्तरण आय शून्य होगी और परिणामस्वरूप उसकी साारी आय लगान होगी। दूसरी ओर, यदि किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार हो तो उस साधन को केवल अपनी अन्तरण आय के बराबर कीमत मिलती है, कोई लगान प्राप्त नहीं होता। परन्तु साधनों की लोचहीनता एक अल्पकालीन लक्षण भी हो सकता है और दीर्घकालीन भी।

पूर्ति की लोचहीनता लगान उत्पत्ति का कारण है।

कुछ साधनों की पूर्ति की लोचहीनता इस अर्थ में उनका स्थाई लक्षण हो सकता है कि दीर्घकाल में भी मानवीय प्रयास से उनकी मात्रा घटाई या बढ़ाई नहीं जा सकती। उदाहरण के लिए, भूमि (अर्थात् प्राकृतिक साधनों) की पूर्ति दीर्घकाल में भी पूर्णतया बेलोच होती है। इसी प्रकार लोगों को प्रकृति ने असाधारण उपहार प्रदान किए हैं जिनती मात्रा दीर्घकाल में भी मानवीय प्रयास द्वारा प्रभावित नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, कुछ गायक, अभिनेता, कवि, लेखक, आदि, ऐसी अनुपम प्राकृतिक प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं जिसका जोड़, चाहने पर भी शिक्षा व प्रशिक्षण द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जब ऐसे लोागें की सेवाओं की माँग बढ़ती है, तो उनको प्राप्त होने वाला लगान भी उसी प्रकार बढ़ता है। पूर्ति पक्ष की ओर से ऐसी कोई शक्ति नहीं होती जो दीर्घकाल में भी इस लगान को कम या समाप्त कर सके। दीर्घकाल में भी ऐसे साधनों की पूर्ति को मानवीय प्रयास से घटाया या बढ़ाया जा सकता, अतः ऐसा लगान समाप्त नहीं हो सकता। हाँ, साधन की माँग में कमी या वृद्धि के अनुरूप ऐसा लगान घट या बढ़ सकता है।

परन्तु पूर्ति की लोचहीनता साधन पूर्ति का एक दीर्घकालिक या अल्पकालिक लक्षण हो सकता है।
प्राकृतिक साधनों की पूर्ति की लोचहीनता उनका एक दीर्घ-कालिक लक्षण होता है।
मानव-कृत साधनों की पूर्ति अल्पकाल में बेलोच हो सकती है, दीर्घकाल में नहीं।
इसलिए मानव-कृत साधनों को अल्पकाल में ही लगान प्राप्त हो सकता है, दीर्घकाल में नहीं।

इसके विपरीत कुछ ऐसे उत्पादन-साधन भी है जिनकी पूर्ति अल्पकाल में तो बेलोच है, किन्तु दीर्घकाल में नहीं। यह बात मनुष्य द्वारा बनाये गये उपकरणों तथा मानवीय पूंजी पर लागू होती है। उदाहरण के लिए, रिहाइशी मकानो की माँग में वृद्धि के कारण दीर्घकाल में नई रिहाइशी इमारतें बनाई जाती हैं। या फिर मानवीय पूंजी में निवेश को उदाहरण ले लीजिए। इन्जीनियरों की माँग में वृद्धि के फलस्वरूप दीर्घकाल (उनकी शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिए पर्याप्त समयावधि) में उनकी पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। परन्तु अल्पकाल में उनकी पूर्ति पूर्णतया या लगभग पूर्णतया बेलोच होगी क्योंकि (1) ऐसी टिकाऊ पूंजी के निर्माण में काफी समय लगता है और (2) उनसे प्राप्त होने वाले प्रतिफल उनके पूरे उपयोगी जीवनकाल पर फैले होते हैं, जिनके कारण उनमें निवेश तभी किया जाता है जब उनके पूरे उपयोगी जीवनकाल में उनसे सामान्य प्रतिफल मिलने की आशा हो। माँग में अल्पकालिक उतार-चढ़ाव के आधार पर ऐसी टिकाऊ पूंजी में निवेश नहीं किया जाता। इन सीमाओं के कारण, ऐसे उत्पादन-साधनों की पूर्ति अल्पकाल में लगभग पूर्णतया बेलोच होती है, परन्तु उनसे प्राप्त होने वाले प्रतिफलों के बारे में अनुकूल प्रत्याशा और उनके निर्माण के लिए पर्याप्त समयावधि मिलने पर उनकी पूर्ति मांग के अनुरूप घटाई-बढ़ाई जा सकती है। किन्तु अल्पकाल में यह सम्भव नहीं होता। अतः अल्पकाल में ऐसे साधनों से जब तक परिवर्ती लागतों के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त होता है, उन्हें प्रयोग किया जाता है। कोई वैकल्पिक प्रयोग न होने के कारण, अल्पकाल में ऐसे साधनों की अंतरण आय शून्य होती है तथा परिवर्ती लागतों के अतिरिक्त प्राप्त होने वाली सारी आय आर्थिक लगान की प्रकृति की होती है। दीर्घकाल की दृष्टि से, उनमें निवेश तभी वांछित होता है जब उनके पूरे उपयोगी जीवन काल से उनसे सामान्य प्रतिफल (सब प्रकार की लागतें निकाल कर) प्राप्त होने की आशा हो। इसलिए ऐसे साधनों की प्राप्त होने वाली आय अल्पकालिक दृष्टि से आर्थिक लगान दिखाई पड़ती है, यद्यपि दीर्घकालिक दृष्टि से उसका एक भाग पूँजीगत वस्तुओं की केवल अन्तरण आय होता है जो उन्हें वर्तमान प्रयोग में रखने के लिए न्यूनतम आवश्यक अदायगी होता है। **अतः ऐसी साधन-आय जिसकी प्रकृति अल्पकाल में आर्थिक लगान जैसी होती है आभास लगान कहलाती है। संक्षेप में, जिस प्रकार भूमि का लगान उसकी दीर्घकालिक माँग पर निर्भर करता है, आभास लगान मनुष्य-निर्मित साधनों की अल्पकालिक माँग पर निर्भर करता है तथा दीर्घकाल में इसकी प्रवृत्ति प्रायः लुप्त होने की होती है।**

वे साधन कीमतें जो अल्पकाल में लगान की प्रकृति की होती है, अर्थशास्त्र में आभास लगान कहलाती है। मार्शल ने आभास लगान की अवधारणा के प्रयोग को पूंजीगत वस्तुओं की अल्पकालिक आय तक ही सीमित किया।

सैद्धांतिक रूप से यह अवधारणा मानव-कृत साधनों की अल्पकालीन आय पर लागू होती है।

अर्थशास्त्र में आभास लगान की अवधारणा सबसे पहले मार्शल ने प्रस्तुत की थी। उसने इस अवधारणा का प्रयोग केवल पूँजीगत वस्तुओं के संदर्भ में ही किया। परन्तु ऐसा कोई तर्क दिखाई नहीं पड़ता जिसके कारण इस अवधारणा का प्रयोग उन सभी साधनों की अल्पकालिक आय पर लागू न किया जा सके जिनकी पूर्ति दीर्घकाल में मानवीय प्रयास से प्रभावित की जा सकती है। उदाहरणार्थ, डॉक्टरों, इंजीनियरों, नर्सों तकनीशियों आदि की पूर्ति किस प्रकार अन्य पूंजीगत वस्तुओं की पूर्ति से भिन्न है? वास्तव में दोनों की प्रकृति एक ही है। शिक्षा, प्रशिक्षण तथा शिक्षुता (अप्रेन्टिसशिप) के लिए पर्याप्त समयावधि में ऐसे विशेषज्ञों की पूर्ति माँग के अनुरूप परिवर्तित की जा सकती है। इसलिए ऐसे प्रशिक्षित श्रम की अल्पकालिक आय तथा पूँजीगत वस्तुओं की अल्पकालिक आय की प्रकृति एक ही है अतः आभास लगान की अवधारणा उन सभी साधनों की अल्पकालिक आय पर सामान्य रूप से लागू की जा सकती है। जिनकी पूर्ति अल्पकाल में तो बेलोच है, किन्तु दीर्घकाल में जिसकी मात्रा को मानवीय प्रयास से घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

आधुनिक अर्थशास्त्री लगान की परिभाषा किसी साधन इकाई द्वारा अपनी अन्तरण आय पर प्राप्त होने वाले अतिरेक के रूप में करते हैं। जो आय कोई साधन इकाई अपने दूसरे सर्वोत्तम प्रयोग में प्राप्त कर सकती है, वह उसकी अन्तरणआय कहलाती है। विभिन्न उद्योगों या व्यवसायों के दृष्टिकोण से या किसी एक उद्योग के दृष्टिकोण से भी, किसी उत्पादन-साधन की विभिन्न इकाइयों की कार्यकुशलता समान नहीं होती। प्रत्येक साधन-इकाई के सम्भव वैकल्पिक प्रयोगों का एक उच्चक्रम होता है जिनमें से उसके अधिकतम लाभदायक प्रयोग में लगाये जाने की प्रवृत्ति होती है। किसी साधन की वर्तमान आय का कितना भाग उनकी अन्तरण आय है और कितना भाग आर्थिक लगान, इस बात पर निर्भर करता है कि किस वैकल्पिक प्रयोग के दृष्टिकोण से हम इस समस्या का अध्ययन करना चाहते हैं, एक ही उद्योग में विभिन्न फर्मों के दृष्टिकोण से, एक अन्य उद्योग के दृष्टिकोण से या एक भिन्न व्यवसाय अथवा क्षेत्र के दृष्टिकोण से।

साधन कीमत में लगान का अंश उसकी अन्तरण आय पर निर्भर करता है।

पूर्ण प्रतियोगी उद्योग में साधन को कोई लगान प्राप्त नहीं होता।

यदि विचाराधीन अन्तरण आय एक अन्य उद्योग में प्राप्त होने वाली आय है तो साधन को लगान प्राप्त हो सकता है।

भूमि की आय पर भी वही तर्क लागू होता है।

एक प्रतियोगी उद्योग में सभी फर्मों को एक साधन इकाई के लिए एक ही कीमत देनी पड़ेगी। इसलिए किसी एक फर्मके दृष्टिकोण से किसी साधन इकाई को आर्थिक लगान प्राप्त होने की संभावना नहीं है। उदाहरण के लिए, एक कपड़ा मजदूर को सभी कपड़ा मिलों में एक ही आय मिलेगी। परन्तु यदि किसी साधन इकाई की वर्तमान आय का विश्लेषण उसकी किसी अन्य उद्योग में मिल सकने वाली आय (अर्थात् अन्तरण आय) के संदर्भ में करें, तो परिणाम भिन्न निकलता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि एक डॉक्टर के लिए दूसरा सर्वोत्तम व्यवसाय अध्यापन है। स्पष्ट है कि एक अध्यापक के तौर पर उसकी आय डॉक्टर की आय से बहुत कम होगी। इस स्थिति में, डॉक्टरी में प्राप्त होने वाली आय का अध्यापन में प्राप्त आय का आधिक्य आर्थिक लगान होगा। अब डॉक्टर की तुलना एक अप्रशिक्षित श्रमिक की आय से कीजिए। स्पष्ट है कि अप्रशिक्षित श्रमिक के रूप में एक व्यक्ति की आय उसकी डॉक्टर के रूप में आय से बहुत कम होगी तथा डॉक्टरी की आय का एक बहुत बड़ा भाग (अध्यापन से प्राप्त आय की तुलना में अधिक बड़ा भाग) आर्थिक लगान होगा। **इसलिए हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि एक साधन-इकाई की वर्तमान आय का अमुक भाग अपने आप में आर्थिक लगान है।** एक साधन इकाई के बहुत से सम्भव वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं और प्रत्येक वैकल्पिक प्रयोग में भिन्न आय होगी। साधन इकाई की वर्तमान आय का कितना भाग आर्थिक लगान है, इस बात पर निर्भर करता है कि किस वैकल्पिक प्रयोग के संदर्भ में हम प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। यदि किसी साधन-इकाई का कोई भी वैकल्पिक प्रयोग नहीं है, तो स्पष्ट है कि उसकी अन्तरण आय शून्य होगी और उसकी पूरी वर्तमान आय आर्थिक लगान होगी।

श्रम की आय पर लागू होने वाला तर्क भूमि के प्रयोग के लिए की गई अदायगियों, पँजीगत वस्तुओं तथा उद्यमकर्त्ताओं की आय पर भी समान रूप से लागू होता है। पहले हम भूमि के प्रयोग के लिए दी गई अदायगी का विश्लेषण करेंगे। रिकार्डो के विश्लेषण में पूरी अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से भूमि की पूर्ति पूर्णतया बेलोच है तथा अनाज उगाने के अतिरिक्त उसका कोई वैकल्पिक प्रयोग भी नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि पूरी अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से भूमि की अन्तरण आय शून्य है। इसलिए इस तर्क के अनुसार, जो भी अदायगी भूमि के प्रयोग के लिए की जाती है वह शुद्ध आर्थिक लगान है। रिकार्डो ने इसी दृष्टिकोण से लगान की समस्या का अध्ययन किया था। परन्तु भूमि की पूर्ति जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए पूर्णतया बेलोच है, किसी एक उद्योग के दृष्टिकोण से लोचदार होगी। उदाहरण के लिए, कपास के उत्पादन में जो कीमत भूमि के लिए दी जाती है, गेहूँ के उत्पादकउससे कुछ अधिक कीमत देकर वह भूमि ले सकते हैं तथा उसका प्रयोग गेहूँ के उत्पादन के लिए कर सकते हैं। भूमि की एक इकाई को कपास के उत्पादन में जो आय प्राप्त होती है, वह गेहूँ उत्पादन के दृष्टिकोण से उसकी अन्तरण आय है। गेहूँ-उत्पादन में भूमि के प्रयोग के लिए दी गई कीमत का कपास-उत्पादन में भूमि की कीमत पर आधिक्य-आर्थिक लगान है। इस समस्या पर हम एक ऐसे किसान के दृष्टिकोण से भी विचार कर सकते हैं जो भूमि के बहुत से प्रतियोगियों में से एक है। एक छोटा किसान भूमि की प्रचलित कीमत पर जितनी

भूमि चाहे खरीद सकता है तथा प्रचलित से कम कीमत पर कोई भूमि नहीं ले सकता। अतः प्रचलित कीमत पर भूमि की पूर्ति उसके लिए पूर्णतया लोचदार है तथा उसकी व्यक्तिगत मांग का भूमि की कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस स्थिति में प्रचलित कीमत ही भूमि की अन्तरण आय है तथा उसे कोई आर्थिक लगान प्राप्त नहीं होता। अतः जो अदायगी पूरी अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से आर्थिक लगान है, वही एक छोटे से किसान के दृष्टिकोण से साधन की अन्तरण आय दिखाई पड़ती है और एक उद्योग-विशेष के दृष्टिकोण से साधन-आय का कुछ भाग अन्तरण आय तथा शेष आर्थिक लगान हो जाता है। इस सबसे निकलने वाला महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि किसी साधन इकाई को प्राप्त होने वाले आर्थिक लगान की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि हम समस्या पर किस दृष्टिकोण से विचार कर रहे हैं।

यही तर्क पूँजीगत वस्तुओं तथा उद्यमकर्ताओं की आय पर भी लागू होता है। स्थिर पूँजीगत वस्तुओं के प्रतिफल आंशिक रूप से उनकी अन्तरण आय और आंशिक रूप से आर्थिक लगान हो सकते हैं। अल्पकाल में स्थिर पूँजी की पूर्ति दो कारणों से पूर्णतया बेलोच होती है। एक तो इसके निर्माण में बहुत समय लगता है। इसलिए थोड़े समय में इसकी पूर्ति घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। दूसरे, टिकाऊ पूँजीगत वस्तुओं से प्राप्त होने वाले प्रतिफल उनके पूरे उपयोगी जीवन काल पर फैले होते हैं। इसलिए उनमें निवेश तभी किया जाता है जब उनके पूरे उपयोगी जीवनकाल से एक न्यूनतम औसत प्रतिफल मिलने की प्रबल आशा हो। माँग में केवल अल्पकालिक उतार-चढ़ाव के प्रत्युत्तर में उनमें निवेश नहीं किया जा सकता। इन सीमाओं के कारण, स्थिर पूँजी की पूर्तिअल्पकाल में पूर्णतया बेलोच होती है। इसलिए अल्पकाल में इन पूँजीगत वस्तुओं की अन्तरण आय शून्य होती है। अतः परिवर्ती लागतों के ऊपर जो भी आय इन्हें प्राप्त होती है उसकी प्रकृति आर्थिक लगान की होती है जिसे अर्थशास्त्रियों ने आभास लगान का नाम दिया है। जो अल्पकाल में आर्थिक लगान दिखाई पड़ता है, दीर्घकालिक दृष्टिकोण से उसका एक भाग पूँजीगत वस्तु की अन्तरण आय होती है क्योंकि जब तक ऐसी टिकाऊ वस्तुओं से दीर्घकाल में सभी लागतों के अतिरिक्त एक सामान्य प्रतिफल प्राप्त होने की आशा न हो तो वर्तमान प्रयोग में उनमें निवेश नहीं किया जाएगा। स्पष्ट है कि पूँजीगत वस्तुओं की आय में भी आर्थिक लगान का अंश हो सकता है।

पूंजीगत वस्तुओं को भी विकल्पित प्रयोगों के दृष्टिकोण से लगान प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार उद्यमकर्ताओं की आय का विश्लेषण भी किया जा सकता है।

जो तर्क पूँजीगत वस्तुओं से प्राप्त होने वाली आय पर लागू होता है वही समान रूप से उद्यमकर्ताओं की आय पर भी लागू होता है। दीर्घकालिक दृष्टि से एक उद्यमकर्ता की न्यूनतम आय वह आय है जो उसे मजदूर वर्ग में शामिल होने से रोकने के लिए आवश्यक है। स्पष्ट है कि अधिकांश उद्यमकर्ता दीर्घकाल में इस न्यूनतम आवश्यक आय से अधिक आय प्राप्त करते हैं। इसलिए, दीर्घकालिक दृष्टि से उद्यमकर्ताओं की वास्तविक आय का उनकी न्यूनतम आवश्यक आय पर आधिक्य आर्थिक लगान है। परन्तु अल्पकालिक दृष्टिकोण से, जबकि एक उद्यमकर्ता ने अपने साधन किसी उत्पादन-प्रक्रिया में प्रतिबद्ध कर दिए हैं, जो भी आय उसे प्राप्त होती है, आभास लगान की प्रकृति की है क्योंकि अल्पकाल में वह उस उद्योग को नहीं छोड़ सकता। अन्य शब्दों में, अल्पकाल में उद्यमकर्ता की अन्तरण आय शून्य होती है और उसे प्राप्त होने वाली सारी आय आर्थिक लगान होती है। बहरहाल, दीर्घकालिक दृष्टि से, इस आय का एक भाग उद्यमकर्ता की अन्तरण आय होगा।

Topic-8

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

''व्यापार'' शब्द से अभिप्राय वस्तुओं तथा सेवाओं के लेन-देन से होता है। जब यह लेन-देन विभिन्न देशों के बीच होता है तो इसे 'अंतर्राष्ट्रीय व्यापार' कहा जाता है। सभी देश अपने आप में आत्म-निर्भर नहीं होते है। प्रकृति ने विभिन्न देशों को विभिन्न संसाधनों से सम्पन्न किया है। सामान्यतः एक देश के पास यदि कुछ संसाधन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, तो वही कुछ अन्य साधनों की दुर्लभता भी पाई जाती है।

उदाहरण के लिए, खाड़ी देशों के पास खनिज तेल उनकी आवश्यकता से बहुत अधिक पाया जाता है। किन्तु औद्योगिक वस्तुओं तथा खाद्यान्न की दुर्लभता से पीड़ित रहती है। इस परिस्थिति में सीमा पार व्यापार द्वारा अपनी वस्तुओं के अधिक्य के बदले उन वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं जो उनके देश में या तो उपलब्ध नहीं है या बहुत दुर्लभ हैं। अतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अभिप्राय अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण है।

एक अर्थव्यवस्था जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित है उसे **'खुली अर्थव्यवस्था'** कहा जाता है। वही अर्थव्यवस्था जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में शामिल नहीं है उसे 'बंद अर्थव्यवस्था' कहा जाता है तथा वह परिस्थिति जिसमें एक देश कोई विदेशी व्यापार नहीं करता है उसे **Antasky व्यापार-विहीन** कहा जाता है। वह लाभ जो दूसरे देशों के साथ व्यापार से प्राप्त किया जाता है उसे 'व्यापार लाभ' कहा जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, अंतरक्षेत्रीय तथा अंतरव्यक्तित्व के बीच अंतर

हर व्यक्ति व्यापार के बिना आत्म-निर्भर हो सकते हैं यदि वे सारे खाद्यान्न, कपड़ा रहने का मकान, डॉक्टरी सेवाएँ, मनोरंजन तथा विलासित वस्तुएँ आदि उत्पादन करे। लेकिन यह किसी व्यक्ति के लिए असंभव है। इसलिए व्यापार विभिन्न लोगों के बीच उन क्षेत्रों में विशिष्ट बनाता है जिसे वे लोग सापेक्षिक रूप से अच्छा कर सकते हैं तथा उन वस्तुओं को दूसरे लोगों से खरीद सकते हैं जिसका उत्पादन वे स्वयं नहीं कर सकते हैं। इस परिस्थिति को अंतरव्यक्ति व्यापार कहा जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अंतरक्षेत्रीय व्यापार पर भी निर्भर करता है। प्रत्येक क्षेत्र को आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश की जाती है। यदि व्यापार इन क्षेत्रों के बीच प्रचलित नहीं होता है। लेकिन व्यापार उन क्षेत्रों में उत्पन्न होता है जहाँ क्षेत्र उन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने में निपुण होंगे जिस वस्तु का उत्पादन करने में उनके पास पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन हैं। समतलक्षेत्र उन विशिष्ट वस्तुओं का उत्पादन कर सकते हैं जिनमें उनकी प्राकृतिक संसाधन की बहुलता है। उदाहरण के लिए समतल क्षेत्र विभिन्न प्रकार के अनाज का उत्पादन कर सकते हैं जबकि पहाड़ी क्षेत्र खनन तथा वन उत्पादन में विशिष्ट हो सकते हैं। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र को उन वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में कुशल होना चाहिए जिनके उत्पादन में उनके पास अत्याधिक प्राकृतिक संसाधन है तथा व्यापार द्वारा उन वस्तुओं को उपभोग कर सकते हैं इस प्रकार सभी क्षेत्र अपने आप में आत्म-निर्भर की ओर अग्रसर हो जाएगा।

यदि अंतरव्यक्तित्व तथा अंतरक्षेत्रीय सिद्धांत को यदि देशों के बीच लागू किया जाता है तो उससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है। लगभग सारे देश उन सभी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जो उनके निवासियों द्वारा माँगी जाती है तथाइसी दौरान इस देश के निवासी उन वस्तुओं का अधिक उपभोग करने लगते हैं जितना कि वह देश उत्पादन नहीं कर रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से उस लाभ को प्राप्त करना आवश्यक है जिसे अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण इसे संभव बनाती है। अतः व्यापार प्रत्येक क्षेत्र व्यक्ति तथा देशों के बीच उन वस्तुओं के उत्पादन में अत्याधिक कुशल बनाता है जिसे उत्पादन में वे देश कम लागत में दूसरे देशों की अपेक्षा उत्पादन कर सकते हैं।

प्रश्न 1 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार या विशिष्टीकरण से क्या समझते हैं?

प्रश्न 2 व्यापार के क्या आधार हैं? देशों के बीच व्यापार क्यों होता है?

प्रश्न 3 अंतर्राष्ट्रीय तथा अंतरक्षेत्रीय व्यापार के बीच मुख्य अंतर क्या है?

प्रश्न 4 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन का क्या उद्देश्य है?

व्यक्तिगत विचार के अनुसार, विशिष्टीकरण से अभिप्राय, किसी कार्य विशेष में या वस्तु विशेष के उत्पादन में विशिष्ट कौशल

या दक्षता की प्राप्ति से है। लेकिन किसी देश की स्थिति में विशिष्टीकरण से अभिप्राय किसी वस्तु के उत्पादन में देश के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग से है जिसमें कोई देश विश्व के अन्य देशों की तुलना में निरपेक्ष या तुलनात्मक लागत लाभ अर्जित कर रही है। जब किसी देश के संसाधन किसी विशिष्ट वस्तु के उत्पादन में लगाये जाते हैं तो उस वस्तु का उत्पादन देश की आवश्यकता से किया जाता है। इस परिस्थिति में आधिक्य उत्पादन को निर्यात किया जाता है।

दूसरी ओर, जब संसाधनों को विशिष्ट क्षेत्रों से हटाकर किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन में लगाया जाता है तो उस वस्तु के उत्पादन में कमी हो जाती है तथा आयात की परिस्थिति उत्पन्न होती है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अर्थात् आयात तथा निर्यात अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का परिणाम है। चूँकि अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण कुछ सिद्धांतों पर निर्भर है जिसे विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दिया गया है। अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का महत्त्व व्यापार से लाभ में समाहित है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के निर्धारक तत्त्व

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार या विशिष्टकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्व निम्नलिखित हैं:

(1) प्राकृतिक निधि (Natural Indowment)– प्राकृतिक निधि अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का आधार है। इससे अभिप्राय इस देश के उस संसाधन आधार से है जो प्रकृति के निःशुल्क उपहार के रूप में प्राप्त होता है। प्राकृतिक निधियों में प्रकृति और भूमि का उपजाऊपन तथा जलवायु संबंधी स्थितियाँ भी शामिल होती हैं। इसलिए भारत और श्रीलंका ने चाय के लिए उपयुक्त जलवायु स्थितियों के कारण चाय के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त की हुई है।

(2) तकनीकी ज्ञान (Technical Knowledge)– अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का एक निर्णायक निर्धारक तत्त्व तकनीकी ज्ञान है। अपनी प्रौद्योगिकी विकास के द्वारा विश्व के विकसित देशों ने प्राकृतिक निधि की सभी रुकावटों पर नियंत्रण पा लिया है। उदाहरण के लिए, जापान एक तटीय देश है जिसके पास प्राकृतिक संसाधन नगण्य है, परन्तु इसकी तकनीकी वरिष्ठता ने मोटरगाड़ी उत्पादन के क्षेत्र में एक बहुत ही विकसित देश की विशिष्टता प्राप्त कर ली है।

(3) लागत-अंतर– उत्पादन की लागत में अंतर, अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण का वास्तव में मुख्य आधार है। विभिन्न देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं जिनमें निरपेक्ष अथवा तुलनात्मक लागत अंतर होता है।अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पधर्ात्मकता का मुख्य मापक उत्पादित वस्तुओं के लागत में अंतर से है।

(4) नई आर्थिक प्रणाली– बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम तथा नई आर्थिक प्रणाली के उदय होने से विश्व बाजार में वैश्वीकरण ने विभिन्न राष्ट्रों को शेष विश्व के साथ समन्वित होने के लिए बाध्य कर दिया है जिसने विशिष्टीकरण और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्त्व बढ़ गया है।

अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण अथवा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं:

(1) प्राकृतिक संसाधनों का पूर्ण उपयोग– अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण प्राकृतिक संसाधनों के सम्पूर्ण उपयोग में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अल्पविकसित देश अपने खनिज पदार्थों का स्वयं उपयोग करने का स्थिति में नहीं है। ये देश अपने कच्चे माल का निर्यात विकसित देशों में करते हैं, जहाँ इनका पूरी तरह से उपयोग किया जाता है।

(2) सस्ती वस्तुएँ: अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के कारण सभी देशों को कम कीमतों पर वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती हैं। इसका कारण है कि प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनके बनाने में तुलनात्मक लागत कम आती है। अतः अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण उपभोग के स्तर को उच्च स्तर पर ले जाता है तथा जीवन के स्तर को उत्तम बनाता है।

(3) अतिरिक्त उत्पादनः अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के कारण प्रत्येक देश को अपने अतिरिक्त उत्पादन को बेचने का अवसर मिलता है। कुछ देश वस्तुओं का उत्पादन अपनी आवश्यकताओं से अधिक कर लेते हैं। इन अतिरिक्त वस्तुओं को अन्य देशों में बेचकर कीमतों में होने वाली कमी को रोका जा सकता है। इसके फलस्वरूप वस्तुओं का निर्यात करने वाले देशों को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

(4) अत्यधिक उत्पादन तथा बचतें: सामान्यतः अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण से, विभिन्न देशों ने उन वस्तुओं के उत्पादन में अधिक दक्षता हासिल की है जिसमें उन देशों की उत्पादन शर्तों उनके पक्ष में होती है। परिणामस्वरूप, वस्तुओं को निम्न लागतों पर उत्पादित किया जाता है। जिससे आर्थिक बचतें प्राप्त होती हैं। मेकोनैल के शब्दों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एक ऐसा साधन है जिसमें

राष्ट्र विशिष्टता प्राप्त कर सकते हैं साधनों की उत्पादकता को बढ़ा सकते हैं और इस प्रकार इसके अभाव में होने वाले उत्पादन की तुलना में अधिक उत्पादन कर सकते हैं।

(5) आर्थिक विकास की संभावनाः किसी देश का आर्थिक विकास अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर निर्भर करता है। अल्पविकसित देश विकसित देशों से मशीनरी, तकनीकी ज्ञान तथा अन्य सहायक उपकरणों का आयात करके उपलब्ध प्राकृतिक साधनों तथा कच्चे माल का इष्टतम अथवा अनुकूलतम उपभोग कर सकते हैं। इस प्रकार उत्पादन के क्षेत्र में वे सक्षम हो सकते हैं और आर्थिक विकास की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। रॉबर्टसन के अनुसार 'अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संवृद्धि का इंजन है।''

(6) अंतर्राष्ट्रीय सहयोगः अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण विभिन्न देशों में परस्पर सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देता है। यह व्यापारिक देशों के बीच सद्भावना, सौहार्दपूर्णता और मित्रता की भावना का जागृत करता है। ये सभी गुण विश्वशांति के लिए महत्त्वपूर्ण है। हेनरी गोयल के शब्दों में 'अंतर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण लोगों को समय बनाने का सबसे बड़ा माध्यम है।''

व्यापार से लाभ विभिन्न सिद्धांतों पर निर्भर करता है। इन सिद्धांतों के अनुसार, विभिन्न देशों के बीच विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन लागतों में अंतर, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल आधार को प्रस्तुत करता है। उत्पादन में लागतों के अंतर तीन प्रकार के हैं जो निम्नलिखित हैं:

(1) लागतों में निरपेक्ष अंतर– लागतों में निरपेक्ष अंतर सिद्धांत की व्याख्या एडम स्मिथ द्वारा की गई है। एडम स्मिथ के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य आधार लागतों में पाया जाने वाला निरपेक्ष अंतर है। लागतों में निरपेक्ष अंतर उस समय पाया जाता है जबकि कोई एक देश किसी देश को दूसरे देशों की तुलना में, काफी कम लागत पर उत्पन्न कर लेता है या दूसरा देश किसी अन्य वस्तु को उस देश की तुलना में काफी कम लागत पर उत्पन्न कर लेता है। यह तब संभव होता है, जबकि एक देश में विशेष प्रकार की भूमि, जलवायु परिस्थितियाँ तथा सुविधाएँ पाई जाती है। इस प्रकार एक देश एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करके उसका अधिक उत्पादन करता है और इसका निर्यात करता है तथा दूसरी वस्तु का दूसरे देश से आयात करता है जिसमेंकि दूसरा देश विशिष्टता प्राप्त करता है। इसे निम्न तालिका द्वारा दिखाया जा सकता है–

तालिका 1: लागतों में निरपेक्ष अंतर

देश	दो देशों	का उत्पादन
भारत	2	4
नेपाल	4	2
कुल	6	6

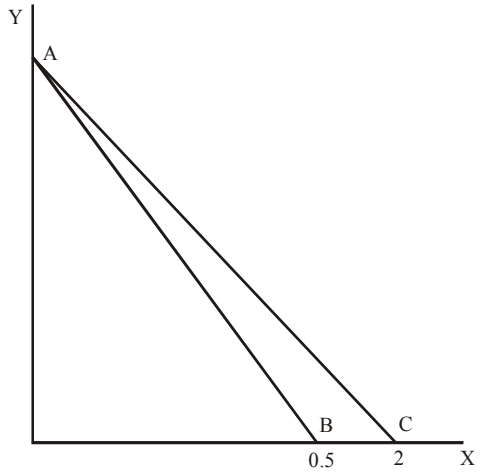
उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में श्रम की 1 इकाई द्वारा 2 इकाइयाँ चावल या 4 इकाइयाँ, गेहूँ उत्पादित किया जाता है, जबकि नेपाल में श्रम को 1 इकाई द्वारा 4 इकाइयाँ चावल या 2 इकाइयाँ गेहूँ उत्पादित किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि

भारत में 1 इकाई चावल = 2 इकाइयाँ गेहूँ

नेपाल में 1 इकाई चावल = 0.5 इकाई गेहूँ

ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत को गेहूँ के उत्पादन में और नेपाल को चावल के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की एक आवश्यक शर्त है कि दो देशों के बीच वस्तुओं की उत्पादन लागत का अनुपात भिन्न होना चाहिए। भारत में गेहूँ के लिए चावल का लागत अनुपात 1:2 है और नेपाल में यह 1:05 है। यदि ये दोनो देश दोनों वस्तुओं का ही उत्पादन करें और परस्पर व्यापार न हो तो दोनों देशों में दो दिन के श्रम के फलस्वरूप गेहूँ का कुल उत्पादन 6 इकाइयाँ और चावल का कुल उत्पादन 6 इकाइयाँ ही होगा। मान लीजिए कि भारत गेहूँ में तथा नेपाल चावल में विशिष्टता प्राप्त करते हैं और व्यापार करते हैं। इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।

चित्र



ऊपर के चित्र में **AB** नेपाल की और **AC** भारत का उत्पादन संभावना वक्र है। उत्पादन संभावना वक्र से यह ज्ञात होता है कि उत्पादन के साधनों की एक निश्चित मात्रा का उपभोग करने से किसी वस्तु की एक इकाई का अधिक उत्पादन करने के लिए दूसरी वस्तु की कितनी इकाइयों का त्याग करना पड़ेगा। इन रेखाओं के ढलान द्वारा विभिन्न वस्तुओं की अवसर लागत स्पष्ट हो जाती है। अवसर लागत से अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु की एक अधिक इकाई प्राप्त करने के लिए दूसरी वस्तु की कितनी इकाइयों का त्याग करना पड़ेगा। यह चित्र समान लागत के नियम पर आधारित है। इसलिए उत्पादन संभावना रेखाएँ सीधी रेखाएँ हैं। **AB** रेखा से ज्ञात होता है कि यदि भारत चावल की 1 इकाई का उत्पादन करता है तो उसे गेहूँ की 0.5 इकाई का त्याग करना पड़ेगा। इसलिए यदि उसे चावल को एक इकाई देकर गेहूँ की 0.5 इकाई से अधिक प्राप्त हो जाती है तो उसे लाभ होगा। इसी प्रकार **AC** रेखा से ज्ञात होता है कि यदि भारत चावल की 1 इकाई का उत्पादन करेगा तो उसे गेहूँ की 2 इकाई का त्याग करना पड़ेगा। इसलिए यदि भारत को गेहूँ की 2 से कम इकाई देने पर चावल की 1 इकाई प्राप्त हो जाती है तो भारत को गेहूँ का उत्पादन करने से लाभ होगा। उपरोक्त चित्र में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों का **ABC** क्षेत्र की सहायता से प्रदर्शित किया गया है। इन दोनों देशों में लाभ बंटवारा दोनों देशों के बीच स्थापित व्यापार की शर्तों के आधार पर होगा। व्यापार की शर्तें प्रत्येक वस्तु के लिए सम्बन्धित देशों में अनुवर्त्ती माँग द्वारा निर्धारित होती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि दो देशों के बीच व्यापार निरपेक्ष लागतों का अंतर होने पर होता है।

प्रश्न 1. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के निरपेक्ष लाभ सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. एडम स्मिथ के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के निरपेक्ष लाभ सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत

तुलनात्मक लागत सिद्धांत की सर्वप्रथम व्याख्या डेविड रिकार्डो ने अपनी पुस्तक "Principles of Political Economy and Taxation" में किया था। इस सिद्धांत को तुलनात्मक लागत सिद्धांत भी कहा जाता है। लागतों में तुलनात्मक अंतर से अभिप्राय यह है कि एक देश दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन अन्य देश की तुलना में कम लागत पर कर सकता है, परन्तु उसे दोनों में से एक का उत्पादन करने में तुलनात्मक लाभ अधिक होगा, जबकि दूसरी वस्तु के उत्पादन से तुलनात्मक लाभ कम है।

रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धांत निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है:

(1) केवल दो देश हैं और वे दो वस्तुओं का उत्पादन करते हैं।

(2) उत्पादन का एक भाग साधन श्रम है और उत्पादन लागत को श्रम की इकाइयों में मापा जाता है।

(3) श्रम की सब इकाइयाँ एक समान हैं।

(4) उत्पादन पर समान प्रतिफल का नियम लागू होता है।

(5) उत्पादन के साधन देश के अन्तर पूर्णतया गतिशील हैं परन्तु दो देशों के बीच पूर्णतया गतिहीन हैं।

(6) यातायात की कोई लागत नहीं है।

(7) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सभी सरकारी नियंत्रणों से मुक्त है।

(8) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में लगे सभी देशों में पूर्ण रोजगार है।

(9) वस्तु बाजार तथा साधन बाजार दोनों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

रिकार्डो के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य कारण लागतों का तुलनात्मक अंतर है। लागतों के तुलनात्मक लागत अंतर से अभिप्राय यह है कि एक देश दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन अन्य देश की तुलना में कम लागत पर कर सकता है, परन्तु उसे दोनों में से एक का उत्पादन करने में तुलनात्मक लाभ अधिक है, जबकि दूसरी वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ कम है। दूसरा देश दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन अधिक लागत पर करता है, परंतु उसको दोनों में से एक वस्तु का उत्पादन करने में तुलनात्मक हानि कम है जबकि दूसरी वस्तु का उत्पादन करने में तुलनात्मक हानि अधिक है।

तुलनात्मक लाभ से अभिप्राय उस लाभ से है जो एक देश अन्य देश की तुलना में एक वस्तु के उत्पादन में प्राप्त करता है जबकि अन्य वस्तुओं के रूप में उस वस्तु का उत्पादन अन्य देश की तुलना में कम लागत पर किया जा सकता है।

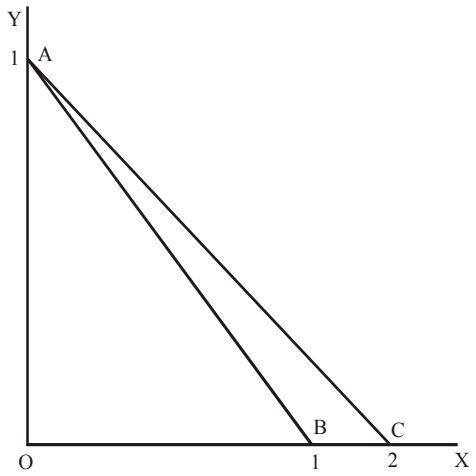
उदाहरण के लिए मान लीजिए दिल्ली में एक सबसे उत्तम वकील है जो एक बहुत अच्छा टाइपिस्ट भी है। उसका एक मुन्शी टाइप जानता है, परन्तु उसे वकालत का ज्ञान बहुत कम है। बेशक वकील दोनों कार्यों में योग्य एवं निपुण है, परन्तु टाईप की तुलना में वकालत में अधिक समय लगाने से उसे तुलनात्मक लाभ अधिक होगा। मुंशी दोनों कार्यों में ही उससे अयोग्य है, परन्तु टाइप करने में उसकी तुलनात्मक हानि कम है। वकील को स्वयं वकालत करने तथा मुंशी से टाइप करने में अपेक्षाकृत लाभ अधिक होगा।

संक्षेप में एक देश दो A तथा B वस्तुओं के उत्पादन से निरपेक्ष लागत लाभ अधिक पा सकता है। परनतु वह देश B की तुलना में A के निपुणता प्राप्त करने में विचार कर सकता है, क्योंकि उसे A से B की तुलना में अधिक तुलनात्मक लागत लाभ मिल सकता है। इसे निम्न तालिका द्वारा दिखाया जा सकता है।

देश	कपड़ा (मीटर)	गेहूँ (किलोग्राम)
भारत	0.60 मीटर कपड़ा	1.67 किलोग्राम गेहूँ
नेपाल	2.00 मीटर कपड़ा	0.50 किलोग्राम गेहूँ

हम जानते हैं कि भारत में 1 किलाग्राम गेहूँ के उत्पादन की अवसर लागत कपड़े के उत्पादन के 0.60 मीटर के बराबर है। जबकि नेपाल में यह 2 मीटर कपड़े के बराबर है। तालिका का दूसरा कॉलम यह बताता है कि नेपाल में 1 मीटर कपड़ा उत्पादन करने की अवसर लागत 1.07 किलोग्राम गेहूँ के बराबर है जबकि नेपाल में 0.50 किलोग्राम गेहूँ के बराबर है। अतः इस परिस्थिति में भारत को गेहूँ के उत्पादन में तथा नेपाल को कपड़े के उत्पादन करने से तुलनात्मक लागत लाभ प्राप्त होता है। इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।

चित्र



उपरोक्त चित्र में AB भारत की उत्पादन संभावना रेखा तथा AC नेपाल की उत्पादन संभावना रेखा है। इसका अर्थ है कि भारत को 1 इकाई चावल प्राप्त करने के लिए 4 इकाई गेहूँ का त्याग करना पड़ता है। नेपाल 1 इकाई चावल का त्याग करके 2 इकाइयाँ गेहूँ प्राप्त कर सकता है। स्पष्ट है कि भारत को चावल के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है तथा नेपाल को गेहूँ के उत्पादन में तुलनात्मक हानि कम है। भारत नेपाल को चावल की 1 इकाई देकर गेहूँ की 1 इकाई से अधिक इकाई प्राप्त कर सकता है तथा

नेपाल भारत को गेहूँ की 2 से कम इकाई देकर चावल की 1 इकाई प्राप्त कर सकता है। दोनों देशों को होने वाला लाभ त्रिभुज ABC द्वारा दिखाया गया है। इस लाभ का वितरण दोनों देशों के बीच विद्यमान व्यापार की शर्तों के आधार पर होगा। व्यापार की शर्तों का निर्धारण प्रत्येक देश की वस्तु की अनुवर्त्ती भाग के आधार पर होगा।

सिद्धांत की आलोचनाएँ

रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत का सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। सैम्युलसन के अनुसार, तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत में सच्चाई क एक महत्त्वपूर्ण झलक दिखाई देती है। इस सिद्धांत के तर्कपूर्ण दृष्टि से युक्ति संगत होने पर भी इसके कई दोष हैं–

(1) केवल आदर्शात्मक सिद्धांत– रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धांत केवल एक आदर्शात्मक सिद्धांत है। इससे यह ज्ञात होता है कि देश के साधनों का कुशलतम प्रयोग कैसे किया जा सकता है परन्तु यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की रचना अथवा निर्यातों एवं आयातों की व्याख्या करने में असमर्थ है तथा इनकी समस्याएँ कौन सी हैं इसको बतलाने में भी असमर्थ है। यह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की एक वास्तविक विवेचना नहीं है।

(2) श्रम के मूल्य सिद्धांत पर आधारित– तुलनात्मक लागत का सिद्धांत श्रम के लागत सिद्धांत पर आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु की लागत इसके निर्माण के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा पर निर्भर करती है, परन्तु वास्तव में किसी वस्तु की लागत पर श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों जैसे भूमि पूँजी आदि की कीमत का प्रभाव पड़ता है। अतएव इस सिद्धांत के आलोचक श्रम लागत के स्थान पर मुद्रा लागत के रूप में इसकी विवेचना करना पसंद करते हैं।

(3) परिवहन लागतों की अवहेलना– तुलनात्मक लागत सिद्धांत का प्रमुख दोष यह है कि इसमें परिवहन लागतों पर विचार नहीं किया गया है। कुछ वस्तुओं की परिवहन लागत उत्पादन लागतों से भी अधिक होती है। इसलिए वस्तुओं का आयात अथवा निर्यात करते समय उत्पाद, लागत तथा यातायात लागत दोनों को मिलाकर कुल लागतों पर विचार किया जाना चाहिए। यातायात लागतें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को काफी प्रभावित करती हैं, इसलिए इन लागतों की अवहेलना नहीं की जा सकती।

(4) स्थिर लागतों के नियम पर आधारित– इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि उत्पादन में कमी या वृद्धि करने पर प्रति इकाई उत्पादन लागत समान रहती है, अवास्तविक ही नहीं बल्कि अवैज्ञानिक भी है। सामान्यतया यह देखा गया है कि उत्पादन पर बढ़ती लागत का नियम या घटती लागत का नियम लागू होता है। स्थिर लागत के नियम के लागू होने की संभावना कभी-कभी और वह भी थोड़े समय के लिए होती है।

(5) पूर्ण विशिष्टीकरण की असंभावना– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले देशों का कुछ वस्तुओं में पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण प्राप्त करना संभव नहीं है। मान लीजिए भारत और नेपाल व्यापार करते हैं। भारत सूती कपड़े के उत्पादन में तथा नेपाल ऊनी कपड़े के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है। नेपाल एक बहुत छोटा सा देश होने के कारण भारत के ऊनी कपड़ों की माँग को पूरा नहीं कर सकता और न ही नेपाल में भारत से निर्यात हो सकने वाले कुल सूती कपड़े की माँग हो सकती है। अतएव इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तभी संभव है, यदि दो समान मूल्य वाली वस्तुओं का दो समान आकार वाले देशों में व्यापार हो।

(6) स्वतंत्र व्यापार पर आधारित– परम्परावादी अर्थशास्त्री यह मानकर चलते थे कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सब प्रकार के प्रतिबन्धों से स्वतंत्र है, परन्तु आधुनिक युग में स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। आज के युग में कोई भी देश दूसरे दूसरे देश पर निर्भर नहीं रहना चाहता और अनिश्चिततओं से बचना चाहता है। इसके अतिरिक्त बहुत सी अन्य परिस्थितियों जैसे अपूर्ण प्रतियोगिता, व्यापार प्रतिबन्ध, राज्य व्यापार, आयात-निर्यात कर तथा आर्थिक नियोजन के कारण स्वतंत्र अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की संभावना कम है।

(7) स्थिर दशाएँ– इस सिद्धांत में यह मान्यता भी निहित है कि दो देशों में लोगों की रुचियों तथा उत्पादन क्रियाओं में परिवर्तन नहीं आता। इसके अतिरिक्त भूमि, पूँजी तथा श्रम की पूर्ति स्थिर है। परन्तु वास्तव में संसार में इस प्रकार के परिवर्तन समय-समय पर होते रहते हैं। इसलिए यह मान्यता निराधार है।

(8) एक पक्षीय– रिकार्डो का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धांत एक पक्षीय है। यह सिद्धांत व्यापार के पूर्ति पक्ष को ध्यान में रखता है परन्तु मांग पक्ष की अवहेलना करता है। इस सिद्धांत से यह तो ज्ञात होता है कि एक देश कौन सी वस्तुओं का आयात या निर्यात करता है परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि व्यापार की शर्तों तथा विनिमय की दर कैसे निर्धारित होती है।

प्रश्न 1. अंतर्राष्ट्रीय व्यपार के सम्बन्ध में तुलनात्मक लागत लाभ सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. तुलनात्मक लागत लाभ तथा निरपेक्ष लागत लाभ सिद्धांत में अंतर स्पष्ट करें तथा दिखाऐं कि व्यापार करने वाले सभी देश व्यापार से लाभ किस प्रकार प्राप्त करते हैं?

अवसर लागत सिद्धांत

अवसर लागत सिद्धांत की व्याख्या प्रो. हैबरलर ने की थी। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अवसर लागत की सहायता से विश्लेषण करने की कोशिश की है। लिप्से के अनुसार y के रूप में x की अवसर लागत y की इकाइयों की वह संख्या है जिसका कि हमें x की एक अधिक इकाई का उत्पादन करने के लिए अवश्य ही त्याग करना पड़ता है। उदाहरण के लिए 1 टन गेहूँ का उत्पादन करने के लिए यदि 2 टन चने का त्याग करना पड़ता है तो 1 टन गेहूँ की अवसर लागत 2 टन चने हैं जिन्हें त्याग दिया गया है। हैवरलर का मत है कि उत्पादन के साधनों के वैकल्पिक उपयोग होते हैं। इसलिए वस्तुओं की विनिमय दर उनकी अवसर लागत के बराबर होती है।

एक इकाई गेहूँ तथा एक इकाई चावल की अवसर लागत

देश	एक इकाई गेहूँ की अवसर लागत	एक इकाई चावल की अवसर लागत
भारत	चावल की 0.6 इकाई	गेहूँ की 1.67 इकाई
नेपाल	चावल की 2.0 इकाई	गेहूँ की 0.5 इकाई

उपरोक्त टेबल से स्पष्ट है कि भारत में साधनों की 1 इकाई 6 क्विंटल चावल या 10 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न कर सकती है। इसलिए भारत में 1 इकाई गेहूँ की अवसर लागत 0.6 इकाई चावल तथा 1 इकाई चावल की अवसर लागत 1.67 इकाई गेहूँ होगी। दूसरी ओर नेपाल में साधनों की 1 इकाई 8 क्विंटल चावल या 4 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न कर सकती है। इसलिए नेपाल में 1 इकाई गेहूँ की अवसर लागत 2 इकाइयाँ चावल तथा 1 इकाई चावल की अवसर लागत 0.5 इकाई गेहूँ होगी।

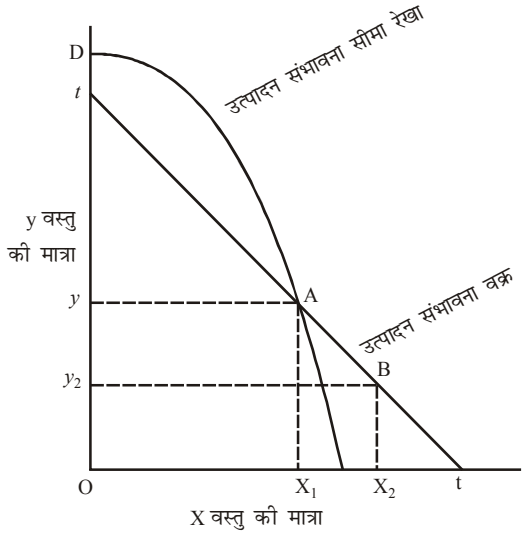
उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में 4 इकाई चावल का उत्पादन करने के लिए गेहूँ की एक से अधिक इकाइयों का त्याग करना पड़ता है और नेपाल में 1 इकाई गेहूँ का उत्पादन करने के लिए चावल की एक से अधिक इकाइयों का त्याग करना पड़ता है। इसलिए दोनों देशों को उस समय लाभ होगा जब भारत गेहूँ तथा नेपाल चावल के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करे और परस्पर व्यापार करें।

परिवर्तित अवसर लागत की स्थिति में व्यापार से लाभ

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तुओं के समुह को विस्तार करने की सुविधा प्रस्तुत करता है जिसे दो प्रकार से अर्थव्यवस्था में उपभोग किया जा सकता है। (1) उत्पादित संयोगों से उपभोग की गई वस्तुओं के संयोग से विभिन्नता की आज्ञा द्वारा तथा (2) उत्पादन के संयोग में लाभदायक परिवर्तन की आज्ञा द्वारा। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में विशेष वस्तुओं के संयोग को उपभोग किया जाएगा जो उस देश में उपस्थित होता है। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार देश के उत्पादकता तथा जीवन स्तर को बढ़ाता है। इसे चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।

(1) स्थिर उत्पादन

चित्र



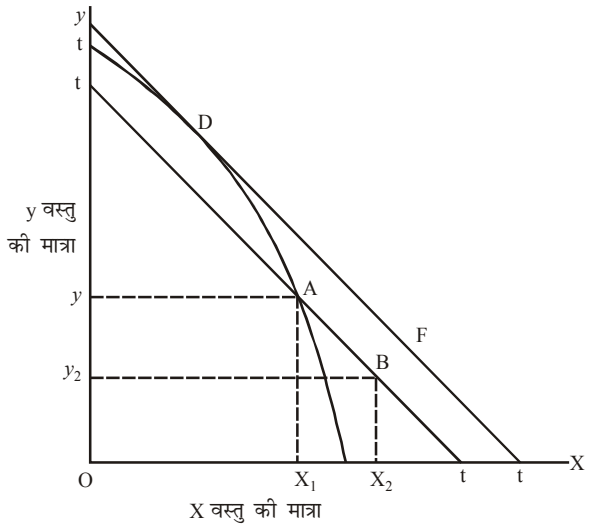
उपरोक्त चित्र में DE उत्पादन संभावना सीमा रेखा तथा tt उपभोग संभावना रेखा है। यदि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति है तो अर्थव्ययवस्था को वस्तुओं के समान संयोग का उपभोग अवश्य करना चाहिए जो इसे उत्पादन करती है। अतएव उत्पादन संभावना सीमा रेखा उपभोग संभावना सीमा रेखा भी है। माना कि अर्थव्यवस्था बिन्दु A पर x वस्तु को x_1 तथा y वस्तु को y_1 मात्रा का उपभोग तथा उत्पादन करती है। वक्र tt का ढाल y की मात्रा को दर्शाता है कि जिसे अंतर्राष्ट्रीय बाजार में x की एक इकाई के लिए विनिमय किया जाता है। माना कि बिन्दु A पर वस्तु y को वस्तु x के लिए अंतर्राष्ट्रीय बाजार में विनिमय किया जा सकता है।

यद्यपि उत्पादन A बिन्दु पर स्थिर है, उपभोग tt रेखा पर किसी बिन्दु पर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपभोग बिन्दु B पर हो सकता है। इस स्थिति को y के $y_1 - y_2$ निर्यात द्वारा तथा x की $x_2 - x_1$ को आयात करके प्राप्त किया जा सकता है। चूँकि बिन्दु B उत्पादन संभावना सीमा के बाहर पड़ता है यहाँ व्यापार से क्षमता लाभ है। यहाँ उपभोक्ता को अपने देश के उत्पादन संभावना वक्र पर कायम रहने की कोई बाधा नहीं है। माना कि उपभोक्ता A की अपेक्षा B को पसंद करता है। अतः उपभोक्ता अपने द्वारा उत्पादिता वस्तु को x वस्तु की कुछ मात्रा के विनिमय द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ प्राप्त करता है। तथा अपने देश में उत्पाद्ति वस्तु की तुलना में अधिक उपभोग किए हैं।

परिवर्तनशील उत्पादन

कोई भी देश वस्तु के उस समूह को उत्पादित कर सकता है जो विश्व बाजार में अत्याधिक मूल्यवान है। यहाँ भी देश के उपभोग संभावनाओं के विस्तार के लिए संभावना है। उत्पादन संयोग को दूसरे देशों के साथ व्यापार की स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय कीमतों की परिस्थिति में परिवर्तन किया जा सकता है। इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।

चित्र



उपभोग को संभावना समूह में tt_1 रेखा द्वारा परिवर्तन किया जाता है तो उत्पादन बिन्दु A से D पर परिवर्तित हो जाता है और देश y वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है। परिवर्तित रेखा t^1t^1 दोनों वस्तुओं के अत्यधिक उपभोग को दर्शाती है जैसे बिन्दु D तथा F नयी उपभोग संभावना समूह उत्पादन संभावना वक्र के ऊपर शून्य व्यापार वक्र के साथ D बिन्दु के अलावा कहीं भी हो सकता है। व्यापार में लाभ को व्यापार नहीं होने की स्थिति A से व्यापार होने की स्थिति जैसे B या F में परिवर्तन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जब Y वस्तु के उत्पादन को बढ़ाया जाता है तथा X वस्तु के उत्पादन को घटाया जाता तो देश Y वस्तु की अधिक मात्रा द्वारा जैसे F बिन्दु की ओर परिवर्तित होने योग्य होती है जिसमें देश को तुलनात्मक लाभ होता है तथा X वस्तु के अतिरिक्त उत्पादन को व्यापार किया जाता है।

प्रश्न 1. अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. दो वस्तुओं के उत्पादन में स्थिर तथा परिवर्तनशील उत्पादन के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलन की व्याख्या कीजिए।

व्यापार की शर्तें

व्यापार की शर्तों से अभिप्राय उस दर से है जिस पर एक देश की वस्तुओं का दूसरे देश की वस्तुओं के साथ विनिमय किया जाता है। यह एक देश के निर्याताओं की आयतों के रूप में क्रय शक्ति की माप है तथा इसे वस्तुओं की निर्यात कीमतों तथा आयात कीमतों के संबंध के रूप में व्यक्त किया जाता है। जब एक देश के निर्यातों की कीमतें आयातों की कीमतों की तुलना में बढ़ती है तब यह कहा जाएगा कि उसकी व्यापार की शर्तों में सुधार हुआ है। इसके विपरीत जब देश के आयातों की कीमतें निर्यातों की कीमतों की तुलना में बढ़ जाती हैं तब उसकी व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं। एक देश की व्यापार की शर्तें तब प्रतिकूल हो जाती हैं जब अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ घट जाता है क्योंकि अब उसे निर्यातों की एक निश्चित मात्रा के बदले में आयातों की पहले से कम मात्रा प्राप्त होती है।

व्यापार की शर्तों से अभिप्राय वह भौतिक विनिमय अनुपात है जिस पर वस्तुओं का एक देश तथा दूसरे देश के बीच विनिमय होता है। जब दो खुली अर्थव्यवस्थाओं के बीच व्यापार होता है तब दोनों देशों द्वारा कुछ वस्तुएँ बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती हैं क्योंकि एक ही समय कई वस्तुओं का दोनों ओर से निर्यात तथा आयात होता है, इस कारण हम भौतिक मात्रा जैसेकिलोग्राम गेहूँ, मीटर कपड़ा आदि का प्रयोग नहीं कर सकते। इसके स्थान पर व्यापार की शर्तों को निर्धारित करने हेतु हम निर्यात कीमतेांका सूचकांक तथा आयात कीमतों का सूचकांक प्राप्त करते हैं तथा निम्नलिखित समीकरण का प्रयोग करते हुए व्यापार की शर्तें का अनुमान लगाते हैंः

$$\text{व्यापार की शर्तें} = \frac{\text{निर्यात कीमतों का सूचकांक}}{\text{आयात कीमतों का सूचकांक}} \times 100$$

इसे व्यापार की शर्तों का सूचकांक भी कहा जाता है।

सूचकांक के कहने का अर्थ व्यापार की शर्तों का अनुकूल होना है मान लीजिए कि निर्यात कीमतों में 15 प्रतिशत की वृद्धि होती है (अर्थात् निर्यातों का कीमत सूचकांक 100 से 115 हो जाता है) तथा आयात कीमतों में 5 प्रतिशत की वृद्धि होती है अर्थात् (आयातों की कीमत सूचकांक 100 से बढ़कर 105 हो जाता है) तो व्यापार की शर्तों का सूचकांक 100 से बढ़कर

$$109\left(\frac{115}{105}\times 100 = 109\right)$$

हो जाता है इसका अर्थ है कि नई व्यापार की शर्तों के अनुसार निर्यातों की एक इकाई पुरानी शर्तों की तुलना में 9 प्रतिशत अधिक आयात प्राप्त करेगी।

इसी प्रकार व्यापार की शर्तें प्रतिकूल तब होती हैं जब निर्यात कीमतों में प्रतिशत परिवर्तन आयात कीमतों में प्रतिशत परिवर्तन से कम होती है। इस स्थिति में व्यापार की शर्तों का सूचकांक 100 से कम होता है। मान लीजिए कि निर्यात कीमत सूचकांक 5 प्रतिशत बढ़ता है तथा आयात कीमत सूचकांक 10 प्रतिशत बढ़ जाता है। अतएव व्यापार की शर्तों का सूचकांक इस प्रकार होगाः

$$\text{व्यापार की शर्तें} = \frac{105}{100}\times 100 = 95 \text{ (लगभग)}$$

इस दशा में निर्यात की एक इकाई पुरानी शर्तों की तुलना में लगभग 5 प्रतिशत का आयात प्राप्त कर सकेगी।

प्रश्न. व्यापार की शर्तों से आप क्या समझते हैं?

व्यापारिक नीति का सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित सरकारी नीति को व्यापारिक नीति कहते हैं। एक देश या तो स्वतंत्र व्यापार नीति या संरक्षण नीति को अपनाता है। स्वतंत्र व्यापार नीति से अभिप्राय उस नीति से है जिसमें किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। निर्यातकों तथा आयातकों को अनुमति होती है कि वे बिना किसी प्रकार के निर्यात या आयात शुल्क के व्यापार करने में स्वतंत्र होते हैं।

इसके विपरीत संरक्षणवाद या संरक्षणावादी नीति से अभिप्राय स्थानीय उत्पादकों को विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण देने की नीति है। यह संरक्षण शुल्क लगाकर या गैर-कर रोकें लगातार प्रदान किया जाता है। गैर-कर रोकों में कोटा निर्धारित करना या सीमा शुल्क कार्य प्रणाली को जान-बूझकर जटिल बनाना जिससे आयातों को निरुत्साहित किया जा सके।

स्वतंत्र व्यापार का अर्थ

ऐसी व्यापार नीति, जिसके अन्तर्गत वस्तुओं तथा सेवाओं को दो देशों के बीच विनिमय पर कोई रोक नहीं लगायी जाती स्वतंत्र व्यापार नीति कहलाती है। एडम स्मिथ के अनुसार ''स्वतंत्र व्यापार की अवधारणा से अभिप्राय व्यापारिक नीति की वह प्रणाली है जिसमें

घरेलू तथा विदेशी वस्तुओं में कोई भेद नहीं किया जाता और इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं में कोई अतिरिक्त दबाव डाला जाता है और न ही घरेलू वस्तुओं को कोई विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। अत स्वतंत्र व्यापार नीति के अनुसार वस्तुओं तथा सेवाओं के अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह को किसी प्रकार की कृत्रिम रूकावटों से मुक्त रखा जाता है। अतः स्वतंत्र व्यापार का संसार एक ऐसा संसार होता है जहाँ वस्तुओं के आयात तथा निर्यात पर कोई सीमा-शुल्क या प्रतिबंध नहीं होता। ऐसे संसार में, एक देश उन सब वस्तुओं का आयात करता है जिन्हें वह विदेश से इस सुपुर्दगी कीमत पर खरीदता है जो उन्हें स्वदेश में उत्पादन करने की लागत से कम होती है।

स्वतंत्र व्यापार से लाभ

स्वतंत्र व्यापार से विभिन्न लाभ होते हैं जो निम्नलिखित हैं:

(1) उत्पादन का अधिकतमीकरण– तुलनात्मक लागत लाभ सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करेगा जिसके लिए वह अधिक उपयुक्त है या जिसके उत्पादन में उसे तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त होता है।

(2) संसाधनों का अनुकुलतम उपयोग– चूँकि उत्पादन तुलनात्मक लागत लाभ के सिद्धांत के अनुसार किया जाता है, इसलिए संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग किया जाता है। प्रत्येक देश आगतों के न्यूनतम लागत संयोग द्वारा वस्तुओं का उत्पादन करता है।

स्वतंत्र व्यापार से हानि

स्वतंत्र व्यापार की नीति को महामंदी के काल के दौरान त्याग दिया गया था। इसे त्यागने के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सैद्वान्तिक तथा व्यापारिक कारण थे।

(1) स्वतंत्र व्यापार के लिए अहस्तक्षेप की नीति तथा पूर्ण प्रतियोगी कीमत संयोग की प्रक्रिया का क्रियाशील होना आवश्यक है। किन्तु ये शर्तें वर्तमान समय के संसार में नहीं पायी जाती हैं। एकाधिकार, क्रेताधिकार, कार्टेल, अपूर्ण, श्रम बाजार तथा सीमा शुल्कों के प्रचलन में होने के कारण स्वतंत्र व्यापार को त्यागना पड़ा था।

(2) स्वतंत्र व्यापार की नीति के अन्तर्गत कुछ उद्योगों को तुलनात्मक लाभ प्राप्त होते हैं किन्तु अन्य उद्योग विकसित नहीं होते। अतः इस कारण अर्थव्यवस्था का एक-पक्षीय विकास ही हो पाता है।

(3) चूँकि स्वतंत्र व्यापार की व्यवस्था में अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया जाता था तथा राज्य द्वारा राष्ट्रों के बीच वस्तुओं के आने-जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते थे। इस कारण अनेक देशों के अनैतिक व्यापारियों ने हानिकारक वस्तुओं का बड़े पैमाने पर आयात प्रारंभ कर दिया। इनका देश के स्वास्थ्य तथा कल्याण पर बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ा।

(4) स्वतंत्र व्यापार के अन्तर्गत विश्व बाजार में गलाकाट प्रतियोगिता आरंभ हुई। इस नीति के चलते अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबंध लगाना अनिवार्य हो गया।

(5) स्वतंत्र व्यापार के कारण अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकारों तथा स्थानीय एकाधिकारों को बढ़ावा मिला। हैवरलर के अनुसार स्वतंत्र व्यापार के कारण ऐसे एकाधिकारों का विकास हुआ जो अन्य देशों तथा स्वदेशी हितों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इस कारण भी संरक्षण की नीति को अपनाना पड़ा।

(6) हैवरलर के इस विचार को स्वीकारा नहीं जा सकता कि स्वतंत्र व्यापार की नीति पिछड़े देशों के तीव्र आर्थिक विकास में सहायक होगी। अब सर्वथा मान्य है कि अल्पविकसित देशों का बेहतर विकास स्वतंत्र व्यापार की नीति की अपेक्षा संरक्षण की नीति द्वारा ही हो सकता है।

प्रश्न. व्यापारिक नीति से आप क्या समझते हैं? मुक्त व्यापार के लाभ तथा हानियों को स्पष्ट करें।

संरक्षण की स्थिति

संरक्षण शब्द से अभिप्राय ऐसी नीति से है जिसके द्वारा स्वदेशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से सुरक्षित रखा जाता है। इसका लक्ष्य निम्न कीमत वाली वस्तुओं के आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना है जिससे ऊँची -कीमतों वाली वस्तुओं को उत्पादित करने वाले स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहित किया जा सके। स्वदेशी उद्योगों को सुरक्षित करने के लिए विदेशी वस्तुओं पर इस दर से आयात कर लगाए जाते हैं। उनकी कीमतें स्वदेशी वस्तुओं की कीमतों से अधिक हो जाए, या इन्हें कोटा प्रणाली द्वारा सुरक्षित किया जाता है या अन्य गैर-प्रशुल्क प्रतिबंध लगाए जाते हैं जिनके कारण सस्ती विदेशी वस्तुओं का आयात कठिन या असंभव हो जाता है या स्वदेशी उद्योगों को वित्तीय सहायता दी जाती है जिससे वो सस्ती विदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता कर सकें। संरक्षण के लिए दो तर्क दिए जाते हैं जिसे प्रायः ही लागू किया जाता है। (1) आर्थिक तर्क। (2) गैर-आर्थिक तर्क

आर्थिक-तर्क

आर्थिक-तर्क सामान्यतः संरक्षण के पक्ष में लगाया जाता है। यहाँ प्रशुल्क के उपभोग के लिए महत्त्वपूर्ण तर्क दिये जाते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय आय को ज्यादा से ज्यादा करना होता है।

1. शिशु उद्योगों को संरक्षण देनाः

शिशु उद्योगों को संरक्षण की सर्वप्रथम व्याख्या एलेक्जेन्डर हमिलटन द्वारा की गई थी परन्तु इसकी विस्तृत व्याख्या एक लिस्ट द्वारा की गई। संरक्षण का मुख्य उद्देश्य देश में रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना होता है। यह स्थैतिक तथा गतिशील दोनों परिस्थिति में उत्पन्न होता है। स्थैतिक स्थिति में विश्व तकनीकी को दिया हुआ तथा स्थिर माना जाता है। यदि एक उद्योग की आर्थिक बचतें अधिक होती हैं तो लागतें अधिक लगती हैं जब उद्योग छोटे होते हैं लेकिन उद्योग के विकास के साथ लागतों में गिरावट आने लगती हैं। तर्क के अनुसार यदि उद्योगों को अनेक शैशव काल में सुव्यवस्थित विदेशी उत्पादकों से बचाया या सुरक्षित नहीं किया गया तो वह न तो विकसित हो पायेंगे ओर न कोई तुलनात्मक लागत लाभ प्राप्त कर सकेंगे। अतः इन उद्योगों को हर प्रकार की सुविधा देकर सुरक्षित किया जाता है। जैसे विदेशी वस्तुओं पर भारी आयात प्रशुल्क लगाकर। फलस्वरूप ऐसे उद्योगों का विस्तार होगा तथा उन्हें पैमाने की आन्तरिक बचतें प्राप्त होंगी।

विकासशील देश अपने उद्योगों के विकास के प्रारंभिक दौर में विदेशी प्रतियोगिता से सामना करने में असमर्थ होते हैं। व्यापार प्रतिबंध द्वारा इन उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से सुरक्षित किया जा सकता है। यदि ये उद्योग विकसित स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं तो विदेशी देशों के मुकाबले सस्ती वस्तुएँ उत्पादित करने योग्य होंगे तथा बिना संरक्षण के प्रतियोगिता का सामना कर सकेंगे।

तर्क की गतिशील स्थिति इस बात पर जोर देती है कि तकनीकी आंतरिक रूप से स्थिर गति से बढ़ रही है। वे उद्योग जो अपने उत्पादन के प्रारंभिक दौर में गतिहीन होते हैं वे तकनीकी अनुभव तथा विकास को प्राप्त करेगी। एक देश को विकास के प्रारंभिक दौर में अपने उद्योगों को संरक्षित करने की आवश्यकता है जब वे उद्योग तकनीकी का उपयोग कर रही है। संरक्षण के अन्तर्गत उद्योगों को गतिहीन बनाने से बचाता है जो विदेशी प्रतियोगिताओं से सुरक्षित करता है। संरक्षण के अन्तर्गत और दिये हुए समय के अन्तर्गत विदेशी बाजारों में सफलता प्राप्त करने पर अवश्य जो देना चाहिए। एक बार जब उद्योग कौशल को विकसित कर लेता है जिसे नयी तकनीकी के साथ विदेशी प्रतियोगिता में अपना दबदबा जमा लेता है तो संरक्षण को हटाया जा सकता है। अतः इस तर्क के आधार पर संरक्षण यह बताता है कि सभी अलौकिक रूप से विकसित देश अपने विकास के चरमोत्कर्ष को प्रशुल्क सरंक्षण के द्वारा विकसित हुए हैं।

2. करते-करते सीखने को प्रोत्साहन देना– शिशु उद्योगों के गतिशील तर्क करते-करते सीखने के विचार पर आधारित है। करते-करते सीखने या सुझाव देता है कि तुलनात्मक लाभ कि विचारधारा को परिवर्तित किया जा सकता है। यदि एक देश उत्पादित वस्तुओं के माध्यम से ज्यादा सीखता है। जिसमें यह वर्तमान समय में तुलनात्मक हानि होती है तो यह दीर्घकाल में उन वस्तुओं में विशिष्टीकरण को प्राप्त कर सकती है और सीखने की प्रक्रिया में अपने कम लागतों से तुलनात्मक लाभ को विकसित कर सकती है।

कुछ देशों ने अपने लक्षित उद्योगों में तुलनात्क लाभ को प्राप्त किया है तो बहुत सारे देश असफल हुए हैं। ऐसी नीतियाँ कभी-कभी असफल होने का मुख्य कारण हैं कि विदेशी प्रतियोगिता से घरेलू उद्योगों को और संरक्षण उद्योगों को अपरिवर्तनशील तथा गतिहीन बना सकता है। दूसरा कारण उद्योगों को पहचानना भी भिन्न है जो दीर्घकाल में सफल होने योग्य होगा।

3. रणनीति व्यापार लाभ को उत्पन्न करना या दोहन करना प्रशुल्क या दूसरा व्यापार प्रतिबंध के लिए हाल में दिए गए महत्त्वपूर्ण तर्क उत्पादन या बाजार में रणनीति लाभ को उत्पादन करने की आवश्यकता है। नए उत्पादनों से सामान्य लाभों को बढ़ाने की संभावना व्यक्त की जायेगी। कुछ वस्तुओं को उन उद्योगों में उत्पादन किया जाता है जो छोटे फर्म हैं जहाँ अधिक आर्थिक बचतें प्रवेश करने की प्राकृतिक प्रतिबंध को लगाती हैं इन उद्योगों में फर्म दीर्घकालीन समय में अत्याधिक अतिरिक्त लाभ को प्राप्त कर सकती हैं। जहाँ ऐसे उद्योग अच्छी तरह से स्थापित है वहाँ नयी फर्मों के द्वारा स्थान ग्रहण करने की बहुत ही कम संभावना है।

पहली फर्म जो नयी उत्पादन का सफलतापूर्वक उत्पादन तथा बाजार करती है तो अपने अवसर लागत के कारण महत्त्वपूर्ण शुद्ध लाभ प्राप्त कर सकती है। यदि घरेलू बाजार का संरक्षण उस परिस्थिति को बढ़ा सकता है कि घरेलू उद्योगों का संरक्षण अंतर्राष्ट्रीय बाजार में एक महत्त्वपूर्ण स्थापित उद्योग होगा तथा संरक्षण को समाप्त किया जा सकता है।

यहाँ बहुत सारे उच्च-तकनीक के उद्योग हैं जो गिरते हुए कुल औसत लागत को वहन कर रहे हैं क्योंकि उनके अत्याधिक स्थिर लागतों को विकसित होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए नागरिक उड्डयन को नयी तकनीक, कम्प्यूटर, सॉफ्टवेयर तथा

फारमसिउटीकल। यहाँ बाजार में प्रवेश करने पर स्थिर लागतें हैं। इन लगातों को बिना एक यूनिट उत्पादन के बेचने से पहले सहन करना पड़ता है। ऐसे उद्योगों में कुछ फर्में अपना स्थान बनाने को कोशिश करती हैं।

ऊपर के विवेचन के आधार पर अर्थशास्त्रीयों ने सुझाव दिया है कि सरकारों को रणनीतिक व्यापार नीतियों को अपनाना चाहिए जो सभी अपनाते हैं। इसका अर्थ है कि उच्च तकनीक उद्योगों के लिए उत्पादन के विकास के स्तर को घरेलू बाजारों में सरकारी संरक्षण तथा सरकारी सहायता चाहिए।

आलोचनाएँ– आलोचकों का मत है कि एक बार सभी उद्योगों को रणनीति की कोशिश करनी चाहिए इन उद्योगों को अधिक उत्पादन में सम्मिलित होना चाहिए। जहाँ अधिकतम उद्योग नहीं उत्पादन कर सकते हैं। रणनीति व्यापार नीति के समर्थक जवाब देते हैं कि एक देश अपना पैर नहीं जमा सकता जहाँ दूसरा देश रणनीतिक खेल खेलता है। तार्किकों के अनुसार जो तार्किक व्यापार नीति का समर्थन करते हैं वे महत्त्वपूर्ण उद्योग होते हैं जिनकी अर्थव्यवस्था का दूसरे देशों में महत्त्वपूर्ण दबदबा रहता है। यदि एक देश उच्च रहन-सहन के स्तर को चाहता है तो इसे अच्छे देशों के साथ अवश्य मुकाबला करना चाहिए। यदि एक देश अपने सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों को दूसरे देशों में ले जाते हैं तो बहुत सारे देश भी इसका अनुसरण करेंगे।

यद्यपि दूसरे ओर विपक्षी तर्क देते हैं कि रणनीतिक व्यापार नीति मात्र एक वाणिजवादिक का आधुनिक रूप है। जिसका मुख्य उद्देश्य परस्पर व्यापार से लाभ की अपेक्षा पड़ोसियों के लागत पर अपने आप को धनी बनने की रणनीति होती है। यहाँ एक वास्तविक संदेह है कि ऐसी उन्नति को प्राप्त किया जा सकता है। यदि व्यापार की मात्रा को संकुचित कर ले क्योंकि व्यापार प्रतिबंध बढ़ रहा है।

विदेशी फर्मों तथा सरकारों द्वारा अनुचित कार्यवाही से सुरक्षा प्रदान करना

प्रशुल्क को विदेशी उद्योगों द्वारा घरेलू उद्योगों के ऊपर लाभ प्राप्त करने से रोकने के लिये उपयोग किया जाता है जो घरेलू उद्योगों को हानि पहुँचाता है और निम्न राष्ट्रीय आय को प्राप्त करता है। सब्सिडी तथा शाशिपातन को विदेशी फर्मों तथा सरकारों द्वारा अनुचित कार्यवाही के विरुद्ध रोकने का उपयोग किया जाता है।

1. व्यापार की शर्तों को परिवर्तित करना– व्यापार प्रतिबंध को उन देशों के पक्ष में व्यापार की शर्तों को लागू किया जाता है जो विश्व पूर्ति के बहुत बड़े भाग को उत्पादन तथा निर्यात करती है। इसे उन देशों के पक्ष में भी लागू किया जा सकता है जो देश विश्व वस्तुओं को अत्याधिक मात्रा में माँग तथा आयात करती है।

माना कि एक देश जो कुछ वस्तुओं की बहुत बड़ी मात्रा को दूसरे देश को प्रदान करता है जो इसे आयात करता है। लेकिन प्रतिबंध को प्रशुल्क के जरिए वस्तुओं की मांग पर लगाया जाता है तथा यह उस उत्पादित वस्तु की कीमत को बढ़ाती है। यह व्यापार की शर्तों के पक्ष में होती है क्योंकि यह प्रति इकाई निर्यात की अपेक्षा आयात को पा सकती है।

गैर-आर्थिक तर्क

संरक्षण के पक्ष में महत्त्वपूर्ण गैर-आर्थिक तर्क हैं। ये कारक राष्ट्रीय आय को नहीं बढ़ा रहा है।

(1) सुरक्षा तर्क– सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी उद्योगों को संरक्षणता प्रदान करने की नीति अपनानी चाहिए। यदि एक देश अपनी औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी वस्तओं के लिए अन्य देशों पर आश्रित रहेगा तो युद्ध के समय ऐसी निर्भरता राष्ट्रीय हित के लिए बहुत अधिक हानिकारक सिद्ध होगी।

(2) विशाखन के गैर-आर्थिक लाभ– तुलनात्मक लागत लाभ यह बताता है कि एक देश को संकुचित उत्पादों के उत्पादन में विशिष्ट होना चाहिए। सरकार निर्णय करती है कि अर्थव्यवस्था को अत्यधिक फैलाने के प्रोत्साहन में महत्त्वपूर्ण सामाजिक लाभ है। नागरिकों को व्यवसाय के विस्तृत क्षेत्र को दिया जाना चाहिए। विशाखन के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक लाभ रहन-सहन के गिरावट में अत्यधिक सहयोग देंगे।

(3) विशिष्टीकरण से जोखिम – केवल कुछ उद्योगों के उत्पादन में विशिष्टीकरण जोखिम को सम्मिलित कर सकता है जिसे देश जोखिम उठाने की परिस्थिति में नहीं होगा। एक ऐसा जोखिम जो तकनीकी विकास हो सकता है। प्रारंभिक प्रशुल्क तर्क वह है जिसे सरकार अर्थव्यवस्था को अत्याधिक विस्तृत करने में प्रोत्साहन दे सकती है अन्यथा ये मुकाबला नहीं कर सकेंगी।

(4) विशिष्ट समूहों से सुरक्षा– यद्यपि मुक्त व्यापार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद को बढ़ायेगा लेकिन कुछ विशिष्ट समूह मुक्त व्यापार की अपेक्षा संरक्षण के अत्यधिक आय को प्राप्त कर सकती है। यदि एकाधिकार स्थिति में एक फर्म या उद्योग विदेशी प्रतियोगियों से मुकाबले के लिए प्रशुल्क का उपयोग कर सकते हैं। प्रशुल्क सापेक्षिक रूप से उन समूह

के लोगों की आय बढ़ाने में सहयोग कर सकता है जो घरेलू पूर्ति करने में कम हैं तथा उन समुहों की आय घटाते हैं जो घरेलू रूप से प्रचूर मात्रा में पूर्ति करती हैं। मुक्त व्यापार प्रतिकूल काम करता है।

संरक्षण की विधियाँ

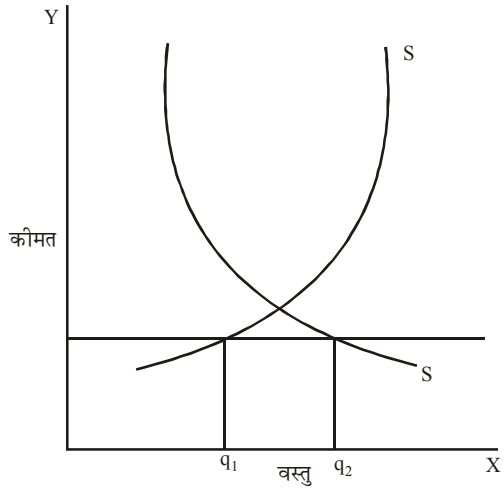
अभी तक जो अध्ययन हुआ है उससे यह स्पष्ट हुआ है कि क्यों सरकार अपने घरेलू उद्योगों को सरंक्षण देने की बात सोचती है। सरंक्षण नीति के उपकरणों को दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है, जैसे-

(1) प्रशुल्क रोकें तथा (2) गैर प्रशुल्क रोंकें।

(1) प्रशुल्क रोंके– अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए विश्व के सभी देश प्रशुल्क का प्रयोग करते है। जब कोई व्यापार वस्तु राष्ट्रीय सीमा को पार करती है तब उस पर लगाए जाने वाले कर को प्रशुल्क कहते हैं। आयात प्रशुल्क आयातित वस्तु पर लगाए जाने वाला कर है जबकि निर्यात प्रशुल्क निर्यातित वस्तु पर लगाए जाने वाला कर है। संरक्षण की नीति के संदर्भ में आयात प्रशुल्क निर्यात प्रशुल्क से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। वास्तव में, प्रशुल्क रोकों का सम्बन्ध आयात प्रशुल्कों से है। आयात प्रशुल्कों के कारण आयातित वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है। जिससे घरेलू उत्पादकों को अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में संरक्षण प्राप्त होता है।

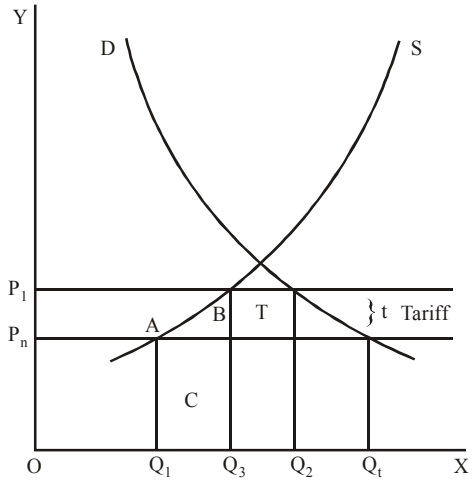
प्रथम प्रकार की संरक्षण नीति आयातित वस्तुओं की कीमतों को प्रत्यक्ष रूप से बचाती है और अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता से घरेलू उत्पादकों को संरक्षण प्रदान करती है। प्रशुल्क को प्रायः आयात शुल्क कहा जाता है सामान्य प्रकार की नीति है। इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।

मुक्त व्यापार की स्थिति में।



उपरोक्त चित्र में D तथा S घरेलू बाजार में माँग तथा पूर्ति वक्र है तथा q_2 अंतर्राष्ट्रीय कीमत है। मुक्त व्यापार की स्थिति में घरेलू उपभोग q_1 है, तथा घरेलू उत्पादन q_0 है और आयात $q_0 - q_1$ है।

प्रतिबन्ध व्यापार की स्थिति में



ऊपर का चित्र यह स्पष्ट करता है कि जब प्रशुल्क लगाया जाता है तो कैसे उपभोक्ता सरकार घरेलू उत्पादन तथा विदेशी उत्पादन लाभ या हानि को सहन करती है। उपरोक्त चित्र में D तथा S किसी वस्तु की क्रमशः माँग तथा पूर्ति को प्रकट करने वाला वक्र है। स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में Q_0 Q_1 इकाइयों का P_w कीमत पर आयात किया जाता है। (घरेलू उपभोक्ता के लिए Q_0 Q_1 अतिरिक्त माँग है)

अब प्रत्येक आयातित इकाई पर 't' के बराबर प्रशुल्क लगाया जाता है। परिणामस्वरूप कीमत में 't' के बराबर वृद्धि होती है तथा प्रत्येक घरेलू उत्पादक को उसके द्वारा बेची गयी इकाइयों की P_d कीमत प्राप्त होती है।

इस कीमत पर उपभोग की मात्रा में Q_2 Q_1 की कमी हो जाती है। उपभोक्ताओं को उपभोक्त की प्रत्येक इकाई की P_w की तुलना में ऊँची कीमत P_d चुकानी पड़ती है। प्रशुल्क के कारण उपभोक्ता की कुल हानि A, B तथा T क्षेत्र द्वारा दिखायी जाती है क्योंकि कीमत में 't' के बराबर वृद्धि हो जाती है। इसलिए उपभोक्ता को OQ_2 की प्रत्येक इकाई पर 't' के बराबर अतिरिक्त राशि चुकानी पड़ती है।

घरेलू उत्पाद अब अधिक इकाइयों की बिक्री कर सकते हैं और उनकी पूर्ति बढ़कर Q_0 Q_3 इकाइयाँ हो जाती है। फलस्वरूप, आयतों को Q_3 Q_2 इकाइयों तक ही सीमित रखा जाता है। घरेलू उत्पादकों को बेची गई प्रत्येक इकाई से Pd कीमत प्राप्त होती है इसलिए उनकी कुल आय (आगम) A, B तथा C क्षेत्रफल के बराबर बढ़ जाती है (स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में C आय का क्षेत्र वह आय है जो विदेशी उत्पादक को प्राप्त करनी थी) विदेशी उत्पादक P_w कीमत पर केवल Q_3 Q_2 इकाइयाँ बेच सकते हैं अतः उनकी कुल आय (आगम) की प्रवृत्ति घटने की होती है।

उपभोक्ता द्वारा खोया गया 'T' क्षेत्र सरकार को प्राप्त होता है। T क्षेत्र कुल आय को प्रकट करता है जो सरकार द्वारा प्रशुल्कों से तब एकत्र की जाती है, जब 't' प्रति इकाई आयात कर लगाया जाता है। (कुल सरकारी आय = $t \times Q_3$ Q_2) इस प्रकार प्रशुल्क रोकों (Tariff Barriers) से घरेलू कीमत में प्रशुल्क राशि के बराबर वृद्धि होती है, जिस कारण घरेलू उपभोक्ताओं तथा विदेशी उत्पादकों को हानि तथा घरेलू उत्पादकों को लाभ होता है। अतः सरकार को कर आय के रूप में लाभ प्राप्त होता है।

नीतियाँ जो प्रत्यक्ष रूप से वस्तु को कम करती है।

दूसरे प्रकार की संरक्षण नीति प्रत्यक्ष रूप से आयातित वस्तु की मात्रा को प्रतिबन्ध लगाती है। सभी प्रतिबन्ध जो प्रत्यक्ष रूप से आयातित वस्तुओं के कीमतों को नहीं बढ़ाती है उसे गैर-प्रशुल्क प्रतिबंध कहा जाता है। आयात कोटा एक महत्त्वपूर्ण गैर-प्रशुल्क रोक है। आयात कोटा के अन्तर्गत आयात करने वाला देश किसी वस्तु के आयात की विशेष सीमा निश्चित कर देता है, इस सीमा से अधिक निर्धारित समय अवधि में आयात की अनुमति नहीं दी जाती।

आयात कोटा के अतिरिक्त कई वर्षों से (स्वौधिधक) निर्यात प्रतिबन्ध भी प्रचलन में है। इसके अन्तर्गत व्यापार करने वाले देशों में एक समझौता हो जाता है, इस समझौते में निर्यात करने वाला देश इस बात के लिए राजी हो जाता है कि वह आयात करने वाले देश को एक निश्चित मात्रा में ही वस्तु को बेचेगा।

प्रश्न. संरक्षण की विधियों से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न. प्रशुल्क तथा गैर-प्रशुल्क के बीच अंतर स्पष्ट करें।

भ्रामक व्यापार-नीति तर्क

स्वतंत्र व्यापार तथा संरक्षणवाद के बारे में कई भ्रम पाए जाते हैं। अभी हम लोगों ने देखा कि किसी एक देश विशेष के लिए संरक्षण के माध्यम अंश के लिए कुछ वैध तर्क है। भ्रामक तर्क दोनों पक्षों की तरफ सुना जाता है और वे लोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण तर्कों के बारे में अपना विचार व्यक्त करते हैं। ऐसे तर्क युगों से चले आ रहे हैं। इन तर्कों का अभी तक जीवित रहना जरूरी नहीं कि उन्हें सच्चा सिद्ध करें। इनकी जाँच निम्न प्रकार से की जाती हैः

(A) स्वतंत्र व्यापार तर्क सम्बन्धी भ्रम

(I) स्वतंत्र व्यापार से सभी देशों को लाभ प्राप्त होता हैः यह स्तरीय जानकारी है अधिकांश विकसित अर्थव्यवस्थाएँ स्वतंत्र व्यापार में विश्वास नहीं रखती। वास्तव में, विकसित देशों का एक छोटा-सा ग्रुप गठ-बन्धन द्वारा प्रतिबन्धक व्यापार नीतियों पर चलते हुए व्याापार की शर्तों को अपने पक्ष में कर लेते हैं। यदि वे स्वतंत्र व्यापार को एकतरफा अपना लें तो उसे वे सभी लाभ खो देने पड़ेंगे जो उसने संरक्षण प्रशुल्क अवस्था में प्राप्त किए थे। अतएव स्वतंत्र व्यापार द्वारा जरूरी नहीं कि आय अधिकतम हो या प्रत्येक व्यावसायिक साझेदार को इसका लाभ प्राप्त हो।

(II) संरक्षण उद्योग अपना प्रशुल्क संरक्षण कभी नहीं छोड़ती– यह तर्क दिया जाता है कि शिशु उद्योगों को संरक्षण देना एक

गलती है क्यांकि ये उद्योग शायद ही विकास करते हैं और पूर्ण विकास के बावजूद भी अपने संरक्षण के लिए चिपके रहते हैं। लेकिन शिशु उद्योगों को तभी प्रशुल्क देना गलत नहीं होगा जब ये उद्योग कभी वृद्धि नहीं करते हैं। इस स्थिति में स्थायी प्रशुल्क संरक्षण को कमजोर उद्योगों के संरक्षण के लिए अपनाया जायेगा जो विश्व बाजार में कभी भी कदम-से-कदम मिलाकर चलने योग्य नहीं थे। फिर भी अनेक राष्ट्रों में शिशु उद्योगों ने आश्चर्यजनक विकास का प्रदर्शन किया है तथा निम्न वास्तविक उत्पादन लागत के साथ-साथ बड़े पैमाने की प्रत्याशित बचतें भी प्राप्त की है।

(III) मुक्त व्यापार वास्तविक विश्व शर्तों के अन्तर्गत विश्व आय को अधिकतम करती– विश्व आय के अधिकतमीकरण को मुक्त व्यापार द्वारा दिखाया जा सकता है जब तकनीकी तथा तुलनात्मक लागतें दी हुई थीं। फिर भी तकनीकी में आंतरिक परिवर्तन हो रहा है। परिणामस्वरूप फर्मों द्वारा किया गया महत्त्वपूर्ण निर्णय तथा परिवर्तन के अन्य एजेन्टों में भी परिवर्तन होता रहता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि पूर्ण रूप से मुक्त व्यापार समय के साथ आय को अधिकतम करेगा। यह संभव है कि सरकार की कुछ सरकार की खोजें या बाजार अपूर्णता पूर्ण रूप से मुक्त तथा प्रतियोगी निजारें की अपेक्षा तकनीकी परितर्वन को बढ़ायेगी।

सरंक्षणवाद के पक्ष में तर्क सम्बन्ध भ्रम

(1) शोषण पर रोकः इस तर्क के अनुसार, स्वतंत्र व्यापार की नीतियों से यदि एक देश को लाभ होता है तो दूसरे देश को हानि। अन्य शब्दों में स्वतंत्र व्यापार कभी भी पास्परिक लाभदायक सिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में, दुर्लभ राष्ट्रों के लिए जरूरी हो जाता है कि वो अपने आप को विभिन्न संरक्षणात्मक नीतियों द्वारा सुरक्षित करें, जैसे प्रशुल्क, आयात कोटा इत्यादि। किन्तु तुलनात्मक लागत का सिद्धांत इस तर्क को यह कह कर अस्वीकार करता है कि दोनों व्यापार करने वाले देशों को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ प्राप्त होता है बशर्ते कि उन देशों की अवसर लागत का अनुपात भिन्न हो। विशिष्टकीरण तथा व्यापार से उत्पादन तथा उपभोग में वृद्धि की आशा की जाती है।

(2) निम्न मजदूरी वाले विदेशी भ्रम से सुरक्षा– प्रायः तर्क दिया जाता है कि निम्न मजदूरों वाले राष्ट्रों से आने वाले सस्ते आयात औद्योगिक देशों के घरेलू उत्पाद को बाजार से बाहर निकाल देंगे। इससे औद्योगिक देशों का जीवन-स्तर घटकर उसी निम्न स्तर पर आ जाएगा जो निम्न मजदूरी वाले राष्ट्रों में पाया जाता है।

किन्तु यह तर्क सर्वथा सत्य नहीं है क्योंकि विकसित देशों को अपने अधिशेष घरेलू उत्पादन के निर्यात के बदले निम्न लागत पर आयात प्राप्त होंगे। पारस्परिक लाभप्रद व्यापार तुलनात्मक लाभ न कि निरपेक्ष लाभ पर, आधारित है। निम्न मजदूरी वाले राष्ट्र श्रम-प्रधान वस्तुओं के उत्पादन तथा निर्यात में विशिष्टता प्राप्त करते हैं तथा ऊँची-मजदूरी वाले राष्ट्र पूँजी-प्रधान वस्तुओं के उत्पादन तथा निर्यात में विशिष्टता प्राप्त करते हैं। यदि ऐसा नहीं भी होता, तो भी ऊँची घरेलू श्रम लागत को प्रभावपूर्ण ढंग से नीचे लाया जा सकता है। यदि श्रम की उत्पादकता को निम्न मजदूरी देशों की तुलना में उपर उठाया जाए।

तर्क का दूसरा पक्ष कहता है कि दीर्घकाल में धनी राष्ट्र को सस्ती वस्तुओं के आयात करने तथा निर्यात बिल्कुल नहीं करने से क्षति पहुँचती है। किन्तु आयात प्राप्त करने के लिए उस देश को मुद्रा खर्च करनी पड़ती है। किन्तु विदेशी विनिमय तभी प्राप्त होता है जब या तो वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात किया ताए या इसे उधार लिया ताए क्योंकि कोई भी देश दीर्घकाल तक ऋण नहीं ले सकता, इसलिए उसके लिए निर्यात करना आवश्यक हो जाता है। अतः व्यापार सदैव दो तरफ होता है अर्थात् आयातक उत्सुकता से निर्यात की प्रतीक्षा करते हैं।

(3) निर्यात की प्रचूरताः जीवन स्तर में सुधार एक अन्य तर्क के अनुसार, वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यात द्वारा घरेलू आय तथा रोजगार में वृद्धि होती है। अतः आर्थिक सहायता द्वारा निर्यातों को बढ़ावा देने तथा आयात कर लगा कर आयातो को निरुत्साहित करना लाभप्रद है।

यद्यपि स्पष्ट रूप से संरक्षणवाद के पक्ष में यह तर्क बहुत युक्तियुक्त है तथापित यह गलत है। निःसंदेह निर्यात घरेलू उत्पाद में मूल्य-वृद्धि करते हैं, किन्तु एक देश में जीवन-स्तर उपयोग के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं की उपलब्धता पर निर्भर करता है। निर्यात का महत्त्व इसलिए है क्योंकि इनसे आयात करना सरल हो जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं का भुगतान वस्तुओं से होता है। तथा मुद्रा का एक देश से दूसरे देश में चलन केवल भुगतान शेष के असंतुलन का समायोजन करने के लिए होता है। एक देश की मुद्रा दूसरे देश के लिए व्यर्थ होती है जब तक कि वह उसे पहले देश में वस्तुओं को खरीदने पर खर्च नहीं करता।

(4) रोजगार का सृजनः जिस देश में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी पायी जाती है वह संरक्षण सम्बन्धी नीतियों का समर्थन करता है। तर्क दिया जाता है कि ऐसे देश को स्थानीय उद्योगों में रोजगार के अवसरों का सृजन करने हेतु विदेशी वस्तुओं पर आयात कर

लगाने चाहिए या उनका कोटा निर्धारित करना चाहिए। किन्तु इससे केवल अल्पकाल में ही रोजगार का सृजन हो सकता है। दूसरी ओर, जब एक देश के आयात घटते हैं तो अन्य देशों के निर्यातों को क्षति पहुँचती है। इससे शेष विश्व में बेरोजगारी बढ़ती तथा आय घटती है। फलस्वरूप, संरक्षणवाादी देश की बनी वस्तुओं की मांग घट जाती है। इसका निहितार्थ देश के निर्यात उद्योग में रोजगार के अवसरों का घटना है। अतः जबकि कम प्रतियोगी संरक्षित उद्योगों में रोजगार बढ़ता है, उधर असंरक्षित निर्यात उद्योगों में रोजगार घटता है। इस से प्रकार दीर्घकाल में 'रोजगार की मात्रा में' वृद्धि नहीं होगी बल्कि इसका उद्योगों के बीच केवल पुनर्वितरण ही होगा।

प्रश्न. संरक्षण नीति तथा मुक्त व्यापार के पक्ष में विभिन्न भ्रामक तर्कों की व्याख्या कीजिए।

भूमण्डलीय व्यापारिक नीति

व्यावहारिक रूप से सभी देश अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से मुक्त प्रवाह पर कुछ प्रतिबंध लगाते हैं क्योंकि इन प्रतिबन्धों तथा नियमों का राष्ट्र के व्यापार से सम्बन्ध होता है। अतः इन्हें सामान्यतः व्यापार नीतियों के रूप में जाना जाता है। अब हम व्यापारिक नीतियों पर विभिन्न अधिराष्ट्र प्रभावों तथा अंतर्राष्ट्रीय समझौतों के प्रभावों का चिंतन करते हैं तब हमारे ध्यान में भूमण्डलीय व्यापारिक नीति आती है।

सन् 1930 के दशक के आरंभ में महामंदी के दौरान विश्व व्यापार में भारी गिरावट आयी। इसका कारण अनेक देशों द्वारा आयातों पर निर्बाध प्रशुल्कों का लगाया जाना था। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक गतिविधि में कमी हुई, कार्यकुशलताका स्तर गिरा तथा व्यापार में गिरावट आयी। रोजगार में कोई वृद्धि नहीं हुई। तब से ऐसी स्थिति की भविष्य में पुनरावृत्ति को रेाकने हेतु कई बहुपक्षीय तथा क्षेत्रीय समझौते किए गए हैं।

सीमा शुल्क और व्यापार पर सामान्यतः समझौते तथा विश्व व्यापार संगठन

विश्व युद्ध के बाद महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सीमा शुल्क तथा व्यापार पर सामान्य समझौते की उत्पत्ति की। यह एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन है जो 1947 में स्थापित किया गया जिसका मुख्यालय जेनेवा में है। जिसका मुख्य उद्देश्य बहुपक्षीय व्यापार वार्ता के वास्ते मुक्त व्यापार को बढ़ावा देना था। GATT का मुख्य सिद्धांत है कि प्रत्येक सदस्य देश को एक प्रशुल्क को बढ़ावा नहीं देना था। यह प्रशुल्कों के बीच प्रतियोगिता की स्थिति पर प्रतिबंध लगाता है जिसमें देशों में विशेष रूपसे अपने घरेलू उद्योगों को प्रशुल्क बढ़ाकर संरक्षण दिया जाता है तथा दूसरे देशों में प्रशुल्कों में वृद्धि के विरूद्ध विचार करती हैं।

GATT तीन आधारभूत सिद्धांतों पर टिका हुआ है।

(1) गैर-विभेदीकरण– इस सिद्धांत के अनुसार पारस्परिक प्रशुल्क घटाने सम्बन्धी कोई भी बातचीत जो एक देश तथा अन्य देशों के बीच होती है। उसे पूर्णतः स्वीकार करना है। इस सिद्धांत के कुछ अपवाद इस प्रकार है; आर्थिक एकीकरण जैसे प्रशुल्क संघ तथा एक राष्ट्र और उसके पूर्व उपनिवेशों तथा स्वतंत्र उपनिवेशों के बीच व्यापार।

(2) गैर-प्रशुल्क व्यापार रोकों का उन्मूलनः कृषि वस्तुओं तथा उन राष्ट्रों जिन्हें भुगतान शेष की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रशुल्क के प्रति विद्रोह जिसके परिणामस्वरूप व्यापार से होने वाले लाभ संकुचित हो जाते हैं को रोकने हेतु GATT ने प्रत्येक सदस्य को एक तरफा प्रशुल्क वृद्धि नहीं करने के लिए भी राजी कर लिया है।

(3) राष्ट्रों के बीच परामर्शः राष्ट्रों के बीच व्यापार सम्बन्धी विवादों का GATT के ढाँचे के अन्दर परामर्श द्वारा समाधान किया जाएगा। GATT के तत्वाधान के अन्तर्गत 1948 से लेकर अब तक भूमण्डलीय व्यापार सम्बन्ध बातचीत के आठ दौर पूरे हो चुके हैं। हॉल ही में पूरे हुए तीन GATT समझौते इस प्रकार है कैनेडी दौर जो 1967 में पूरा हुआ टोकियों दौर जो 1979 में पूरा हुआ तथा चुरूग्वे दौर जो 1993 में पूरा हुआ। प्रत्येक दौर के परिणामस्वरूप विश्व प्रशुल्कों में भारी कमी हुई है। पहले दो दौर से एक-तिहाई प्रत दौर तथा अंतिम दौर से लगभग 40 प्रतिशत की कमी हुई है।

युरूग्के दौर के पश्चात् GATT का स्थान सन् 1995 में विश्व व्यापार संगठन ने ले लिया है। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा है। इसके कार्य क्षेत्र में न, केवल औद्योगिक वस्तुओं के व्यापार को बल्कि कृषि वस्तुओं तथा सेवाओं के व्यापार को भी सम्मिलित किया गया है।

क्षेत्रीय समझौते के प्रकारः

WTO के अतिरिक्त राष्ट्रों के छोटे समूहों में व्यापार को उदार बनाने के लिए आज कई प्रकार के क्षेत्रीय आर्थिक संघ कार्यरत है। ऐसा आर्थिक एकीकरण को बढ़ावा देने के लिए किया गया है। आर्थिक एकीकरण से अभिप्राय केवल उन राष्ट्रों के बीच जो परस्पर इसके होते हैं, ऐसी व्यापारिक नीति को लागू करना है जिससे व्यापार पर लगी रोकों को कम किया जाए या उनका उन्मूलन कर दिया

जाए। आर्थिक एकीकरण का दर्जा क्षेत्रीय व्यापार उदारीकरण समझौतों पर निर्भर करता है जैसे स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र प्रशुल्क संघ तथा साझा व्यापार।

(1) एक स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र– एक स्वतंत्र क्षेत्र में प्रशुल्क मुक्त व्यापार पाया जाता है। सदस्य राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यापार पर लगी सभी रोकों को हटा दिया जाता है, किन्तु प्रत्येक राष्ट्र गैर-सदस्य राष्ट्रों से होने वाले व्यापार पर लगी रोकों को कायम रखता है। अतः सदस्यों को साझी सीमाओं पर प्रशुल्क केन्द्र स्थापित किये जाते हैं, जिससे स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र में सभी आयात उस सदस्य द्वारा प्रवेश नहीं पा सकेंगे जो सबसे कम प्रशुल्क लेता है इसके अतिरिक्त सीमा-शुल्कों, सदस्य देशों के बीच उत्पादित तथा आयातित वस्तुओं के लिए प्रशुल्क-मुक्त मार्ग, अन्य प्रशुल्कों इत्यादि सम्बन्धी नियमों का निर्माण किया गया है जिससेव्यापार को उत्साहित किया जा सके। इसके उत्तम उदाहरण इस प्रकार हैं – यूरोपियन स्वतंत्र व्यापार संघ(EETA) उत्तरी अमेरिका स्वतंत्र व्यापार संघ, (NAFTA), दक्षिणी साझा बाजार इत्यादि।

(2) सीमा-शुल्क संघः एक सीमा-शुल्क संघ सदस्य देशों के बीच व्यापार पर कोई प्रशुल्क अलावा रोक की अनुमति नहीं देगा और इसके अतिरिक्त यह व्यापार नीतियों में सामंजस्य स्थापित करता है क्योंकि बाहरी विश्व के प्रति उनकी प्रशुल्क दीवार खड़ी होती है इसलिए सदस्य देशों के बीच वस्तुओं के आने-जाने पर कोई नियंत्रण नहीं होता। उदाहरण यूरोपियन संघ अथवा यूरोपियन साझा बाजार तथा बड़ी संख्या में प्रभुता सम्पन्न जर्मन राज्यों के सीमा-शुल्क संघ।

(3) साझा बाजार– एक साझा-बाजार सीमा शुल्क संघ से भी एक कदम आगे है क्योंकि इससे व्यापार पर रोकों को हमने तथा व्यापार नीतियों में सामंजस्य स्थापित करने के अतिरिक्त सदस्य देशों के बीच श्रम तथा पूँजी के मुक्त आदान-प्रदान की अनुमति होती है। यूरोपियन संघ को 1933 के आरंभ में साझे बाजार की स्थिति प्राप्त हो गई थी।

व्यापार सृजन तथा व्यापार विपथन

क्षेत्रीय व्यापार उदारीकरण से संसाधनों के पुनः आवंटन पर प्रभाव पड़ता है, जिनका अध्ययन दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है, व्यापार सृजन तथा व्यापार विपथन।

व्यापार सृजन– व्यापार सृजन तब होता है जब किसी ऐसे राष्ट्र जो सीमा-शुल्क संघ का सदस्य होता है वे घरेलू उत्पादन का प्रतिस्थापन किसी दूसरे सदस्य राष्ट्र के निम्न-लागत आयतों द्वारा किया जाता है। इससे सदस्य राष्ट्रों के कल्याप में वृद्धि होती है क्योंकि इससे इस उत्पादन को अधिक विशिष्टीकरण के लिए बढ़ावा मिलता है जो तुलनात्मक लाभ पर आधारित होता है। एक व्यापार-सृजन सीमा-शुल्क संघ गैर-सदस्यों के कल्याण में भी वृद्धि करता है क्योंकि वास्तविक आय में वृद्धि का कुछ भागशेष विश्व से अधिक आयतों के रूप में खर्च किया जाता है।

व्यापार विपलन– व्यापार विपलन तब होता है जब सीमा-शुल्क संघ के बाहर के देशों से आने वाले सस्ते आयतों का प्रतिस्थापन सदस्य राष्ट्रों के अधिक महंगे आयतों जिसका कारण सदस्यों को प्राप्त होने वाला अधिमानी व्यापार व्यवहार के द्वारा किया जाता है। इससे कल्याण में कम वृद्धि होती है क्योंकि उत्पादन अकार्यकुशल सदस्य देश से कार्यकुशल गैर सदस्य देश की ओर खिसक जाता है। इस प्रकार संसाधनों का अंतर्राष्ट्रीय आवंटन बेहतर हो जाता है तथा उत्पादन का तुलनात्मक लाभ सिद्धांत से अपवर्तन हो जाता है।

व्यापार-विपलन सीमा-शुल्क संघ से सदस्य राष्ट्रों को पारस्परिक लाभ प्राप्त होता है क्योंकि इनके परिणामस्वरूप व्यापार-सृजन तथा व्यापार विपलन होता है। गैर-सदस्यों के कल्याण में घटने की प्रवृत्ति पाई जाती है क्योंकि उनके आर्थिक संसाधनों का कम कार्यकुशल ढंग से प्रयोग होने लगता है। जब व्यापार का कम कार्यकुशलता ढंग से प्रयोग होने लगता है तब व्यापार का उनसे अपवर्तन हो जाता है। इस प्रकार व्यापार सृजन सीमा-शुल्क संघ केवल, व्यापार का सृजन करता है तथा सदस्यों एवं गैर-सदस्यों के कल्याण में वृद्धि करता है। एक व्यापार विपलन सीमा-शुल्क संघ व्यापार सृजन तथा व्यापार-विपलन दोनों में सहायक होता है और जबकि यह सदस्यों के कल्याण में वृद्धि करती है यह निश्चित रूप से शेष विश्व के कल्याण में कमी लाता है।

EFTA, NAFTA FTAs

सन् 1960 में स्वतंत्र व्यपार क्षेत्र जिसे यूरोपियन स्वतंत्र व्यापार संघ कहा जाता है की स्थापना हुई। इसके सदस्य सात राष्ट्र के जैसे यू.के., आस्ट्रिया, डेनमार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन तथा स्वीजरलैंड। सन् 1961 में फिनलैंड इसका सह-सदस्य बना। सन् 1967 में EFTA ने औद्योगिक वस्तुओं में मुक्त व्यापार प्राप्त किया किन्तु कृषि वस्तुओं के व्यापार पर लगी रोकों को कम करने हेतु केवल कुछेक विशिष्ट प्रावधान किए गए। 1 जनवरी 1994 को EFTA तथा EU ने मिलकर Europeon Economic Area (EEA) का निर्माण किया। यह एक ऐसा सीमा-शुल्क संघ था जिसने अन्ततः अधिकांश वस्तुओं, सेवाओं, पूँजी तथा लोगों को 17 सदस्य राष्ट्रों के बीच स्वतंत्र रूप से आने जाने की अनुमति दी थी। सन् 1995 में ऑस्ट्रिया, फिनलैंड तथा स्वीडन ने EFTA को छोड़ा और EU में शामिल हो जा गए।

सितम्बर 1993 में यू.ए.स. कनाडा तथा मैक्सिको ने उत्तर अमेरिका स्वतंत्र व्यापार समझौते (NAFTA) पर हस्ताक्षर कर दिए। यह समझौता जनवरी 1, 1994 में लागू हुआ। NAFTA का मुख्य प्रभाव यू.ए.स तथा मैक्सिको के व्यापार पर पड़ा। परस्पर आर्थिक विकास की गति को तीव्र बनाने हेतु कई इसी प्रकार के संघ अस्तित्व में आए हैं जिनका उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के बीच व्यापार पर लगे प्रतिबंधों को दूर करना है। इनमें से अधिकांश प्रयत्नों को केवल सामित सफलता बल्कि विफलता प्राप्त हुई है। कुछ के उदाहरण इस प्रकार हैं

(i) केन्द्रीय अमेरिकान साफमा बाजार का 1960 में कौस्टारिका, सेल्वाडोर, ग्वारेमाला तथा निकारागुआ द्वारा निर्माण किया गया। सन् 1969 में इसे समाप्त कर दिया गया किन्तु 1990 में इसे पुनजीर्वित किया गया।

(ii) लैटिन अमेरिकन स्वतंत्र व्यापार संघ की स्थापना 1960 में मैक्सिको तथा दक्षिण अमेरिका द्वारा की गई। आशा की गई थी इससे आर्थिक विकास की दर बढ़ेगी तथा एक साझे बाजार की स्थापना होगी। 1980 में इसका स्थान Latin American Integration Association (LAIN) ने ले लिया।

(iii) सन् 1991 में अर्जेंटीना, ब्राजील, पैरूग्वे और युरूग्वे देशों ने The Southern in Common Market की स्थापना की सन् 1995 में इसने सीमा-शुल्क संघ का रूप धारण किया तथा 1966 में बोलीविया तथा चिली इसके सह-सदस्य बने।

(iv) दक्षिण-पूर्व एशियान राष्ट्रों का संघ – इसमें बुनेई, इंडोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर तथा थाइलैंड सम्मिलित हैं। यद्यपि यह एक राजनीतिक संघ है फिर भी इसने 1977 में एक साझे बाजार बनाने का निर्णय लिया है।

साझा बाजारः यूरोपियन संघ

यूरोपियन संघ की स्थापना 1957 में रोम की संधि द्वारा हुई (इस सन्धि पर पश्चिम जर्मनी, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड तथार लक्जमवर्ग के हस्ताक्षर हैं। यह सन्धि 1 जनवरी 1958 में लागू हुई। आरंभ में इसे यूरोपियन, इकनौमिक कम्यूनिटी का नाम दिया गया किन्तु 1993 के पश्चात् इसे यूरोपियन संघ कहा जाने लगा।

यू.के. डेनमार्क तथा आयरलैंड 1973 में ग्रीस 1981 में, स्पेन तथा पुर्तगाल 1980 में, ऑस्ट्रिया, फीनलैंड तथा स्वीडन 1995 में इस संघ में शामिल हुए। EU में 13 नए सदस्यों जैसे पौलंड, हंगरी, चेकगणराज्य, साइप्रस आदि को शामिल करने की बातचीत चल रही है।

सन् 1968 में सदस्यों के बीच औद्योगिक वस्तुओं में मुक्त व्यापार तथा सामान्य कृषिगत कीमतों के संबंधमें सहमति हुई। सामान्य कृषिगत नीति जिससे हस्तक्षेप द्वारा फार्म कीमतों की गारंटी तथा आयात उगाही के उल्लेख से केवल सीमित लाभ ही प्राप्त हुए। 1980 के दशक के मध्य तक इसके कई फार्म अधूरे पड़े थे जैसे गैर-प्रशुल्क, रोकें, क्रम की गतिशील, गुणवत्ता के मापदंडों की प्राप्ति, लाइसेंसिग की आवश्यकताओं को पूरा होना तथा अन्य नियामक प्रतिबंधों को हटाना आदि। अतः 1985 में साझे बाजार की प्राप्ति हुई कई कदम उठाए गए।

(क) एकल बाजार कार्यक्रम– सन् 1986 में रोम की संधि को संशोधित कर एकल बाजार अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के प्रावधान इस प्रकार थेः सभी बची हुई रोकों को दूर करके सदस्य देशों में वस्तुओं, सेवाओं तथा संसाधनों का मुक्त प्रवाह करना तथा एकल, सेवाओं तथा संसाधनों का मुक्त प्रवाह करना तथा एकल एकीकृत बाजार को सन् 1992 के अन्त में स्थापित करना। न्यूनतम गुणवत्ता मानकों को बनाए रखने क लिए गैर-प्रशुल्क रोकों पर एक-एक वस्तु के आधार पर विचार किया गया। इस अधिनियम ने प्रशासनिक कार्यविधि को भी सरल बनाया जिससे एकल बाजार विधान के लिए केवल भारित बहुमत का समर्थन ही

जरूरी था न कि सर्वसम्मति का साझे बाजार की प्राप्ति की दिशा में एक अन्य कदम सीमा की कुछ जाँच चौकियों को हटाना था। किन्तु यही केवल कुछेक-कदम हैं जिन्हें कार्यान्वित किया गया है कई अन्य कदम अभी उठाए जा रहे हैं। यह प्रक्रिया निरंतर आती है।

(ख) वित्तीय सेवाओं में एकल बाजार– एकल बाजार कार्यक्रम से वित्तीय सेवाओं को महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुआ है। पूँजी उदारीकरण निदेशक के क्रियान्वयन से विनिमय नियंत्रण जो एक देश के नागरिकों को दूसरे देश में निवेश करने से रोकने थे को हटा दिया गया है। इसका परिणाम यह निकला है कि थोक वित्तीय बाजारों का तुरंत भूमण्डलीय वित्तीय प्रणाली के साथ एकीकरण हो गया है क्योंकि परिष्कृत उधार लेने तथा उधार देने वाले भी उसी बाजार में जाते हैं जहाँ उन्हें बढ़िया शर्तों पर इच्छित पदार्थ अथवा सेवा प्राप्त थे। विनिमय नियंत्रण का यू.के. ने 1979 में, जापान ने 1980 में, फ्रांस, तथा इटली ने 1989 में, स्पेन ने 1991 में, पुर्तगाल आयरलैंड ने 1992 में तथा यूनान ने 1994 में उन्मूलन कर दिया। सन् 1999 में पूरो के प्रचलन ने भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया।

वित्तीय सेवाओं में एकमात्र बाजार को सिद्धांतों का एक दोहरा सेट प्रभावित करता है। इन सिद्धांतों का आधार है गृह देश का अनुमोदन तथा मेजबान देश में व्यापार नियमों का संचालन। इससे एक फर्म को पूरे संघ में व्यापार करने की गृह नियामक के अनुमोदन द्वारा अनुमति प्राप्त होती है किन्तु साथ ही व्यापार करते समय संबंधित राष्ट्र के स्थानीय कानूनों का पालन भी जरूरी होता है। इसके फलस्वरूप विदेशी फर्मों के साथ वैसा ही व्यवहार होता है जैसा स्वदेशी फर्मों के साथ। इस प्रकार, जबकि गृह देश फर्मों के प्रवेश को नियमित करते हैं, मेजबान देश निष्पादन को नियमित करते हैं।

(ग) मास्टरिच संधि– सन् 1992 में इच नगर मास्टरिच में हुई इस ऐतिहासिक संधि का लक्ष्य, समष्टि आर्थिक नीतियों का और अधिक केन्द्रीकरण करना, कीमत प्रणाली में पारदर्शिता लाना तथा सभी सदस्य राष्ट्रों के विनिमय दर के मार्जिन को कम करना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए एकल चलन मुद्रा तथा यूरोपियन केन्द्रीय बैंक की स्थापना 1999 में की गई। यह बैंक खुले बाजार की क्रियाएँ तथा विदेशी विनिमय बाजार में हस्तक्षेप करेगा। श्रम तथा अन्य सामाजिक क्षेत्रों संबंधी विभिन्न नीतियों को नरम करने हेतु इस संधि के एक सामाजिक अध्याय को भी जोड़ा गया है।

बहुपक्षीय व्यापारिक प्रणाली का भविष्य

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। भूमण्डलीकरण ने भी आर्थिक कार्यकुशलता तथा राष्ट्रों के विकास में वृद्धि की है। इसका अधिकार क्षेत्र बहुपक्षीय व्यापार समझौतों जैसे GATT, WTO, EFTA, NAFTA आदि को जाता है जिनके कारण सीमा-शुल्क की रोकों में निरंतर कमी हुई है तथा राष्ट्रों के बीच व्यापार में असाधारण वृद्धि हुई है।

किन्तु इन समझौतों को कई गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जैसे क्षेत्रीय व्यापारिक गुट जिनमें सदस्यों के बीच ही व्यापार को या राज्य द्वारा प्रबंधित व्यापार को प्रोत्साहित किया जाता है। बावजूद इस सच्चाई के इन समझौते से अनेक लाभ उत्पन्न हुए है फिर भी कई समस्याएँ निरंतर बनी हुई हैं, जैसे कृषि वस्तुओं पर ऊँची आर्थिक सहायता तथा सीमा शुल्क, कृषि तथा कपड़े के संबंध में उच्च संरक्षणवाद, उचित श्रम तथा पर्यावरण संबंधी मानक का अभाव, राशिपातन विरोधी तथा अन्य बचावों का दुरुप्रयोग इत्यादि। इसके अतिरिक्त, पूर्व साम्यवादी देशों की व्यापार तथा पुनः संरचनात्मक संबंधी समस्याओं का उपयुक्त सामधान नहीं हो सकता है। दीर्घकाल में सीमा-शुल्कों को बढ़ाना, रोजगार के अवसरों का कम होना, आय तथा तकनीकी गतिवाद तथा विश्वभर में समग्र संवृद्धि में बाधा उत्पन्न हो सकती है जिसका सबसे बुरा प्रभाव विकासशील तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं पर पड़ सकता है।

अतएव, 21वीं शताब्दी की चुनौती यह है कि कैसे इन बहुपक्षीय समझौतों का सहयोग प्राप्त किया जाए जिससे सभी राष्ट्र की सहायता, अंतर्राष्ट्रीय विषमताओं में कमी तथा पर्यावरण की सुरक्षा, भावी पीढ़ियों के हित में की जा सके।

प्रस्तावना, मुख्य विशेषताऐं एवं उत्पन्न होने के कारण

प्रस्तावना

अल्पाधिकार से अभिप्राय बाजार की उस अवस्था से है जब किसी उद्योग में सीमित फर्मों का आधिपत्य होता है। अल्पाधिकार शब्द की उत्पत्ति दो ग्रीक शब्दों से हुई है, Oligo मतलब सीमित तथा Polein मतलब विक्रेता। यह बाजार व्यवस्था एकाधिकार, जिसमें कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता है, पूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकारी प्रतियोगिता, जिसमें अनेक प्रतिद्वन्द्वी होते हैं, से भिन्न हैं। अल्पाधिकार में प्रतियोगिता सीमित फर्मों के बीच तीखी प्रतियोगिता होने के कारण गला-काट प्रतियोगिता के नाम से भी जाना जाता है। विकसित देशों में अनेक वस्तुओं के बाजार अल्पाधिकार बाजार के रूप में है। वर्तमान समय में विकासशील देशों में भी अल्पाधिकार बाजार व्यवस्था उभर रही है। इन अर्थव्यवस्थाओं में भी कई वस्तुओं का बाजार अल्पाधिकारी बाजार का रूप धारण कर रहा है। इसमें कुछ दूसरे फर्मों के उत्पादन एवं कीमत पर नजर रखती है तथा अपना उत्पादन एवं कीमत निर्धारण करते समय दूसरे के उत्पादन तथा कीमत को ध्यान में रखती है।

अल्पाधिकार बाजार के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं: (क) क्रेडिट कार्ड का बाजार (विजा, मास्टर कार्ड, अमेरिकन एक्सप्रेस एवं डिस्कवर आदि), (ख) साफ्ट ड्रिंक्स (पेप्सी, एवं कोका कोला), (ग) कार का बाजार (मारुति - सुजुकी टाटा, हुण्ड्ई, होण्डा, टोयोटा, जनरल मोटर इत्यादि।

अल्पाधिकार की मुख्य विशेषताएँ (Main Features of Oligopoly)

1. अधिक क्रेता किन्तु सीमत विक्रेता– अल्पाधिकार में विक्रेताओं की संख्या सीमित होती है। एकाधिकार एवं पूर्ण प्रतियोगिता से अलेक अल्पाधिकार में कुछ एक के बीच ही प्रतियोगिता होती है। कुछ ही फर्म बाजार में अपना आधिपत्य जमाए रहती है।

2. विभेदीकृत वस्तु– सभी फर्मों के उत्पादन एक दूसरे से किसी न किसी प्रकार भिन्न होते हैं। प्रचार के माध्यम से सभी फर्म अपने उत्पाद को दूसरे के उत्पाद से श्रेष्ठ बताने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए, मारूति-सुजुकी कारों की कई मॉडलों का उत्पादन करती है जो कि अन्य कम्पनियों की कारों से भिन्न होती है। सभी कार कम्पनियाँ भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न मॉडल बाजार में बेचती है तथा सभी अपने उत्पादों को दूसरों से अलग तथा अच्छा बताती हैं।

3. परस्पर निर्भरता– यह अल्पाधिकार की सबसे अलग विशेषता है जो कि अन्य बाजार व्यवस्था में नहीं पाई जाती है। अल्पाधिकार फर्म को इस बात का पता होता है कि अन्य फर्मों की कीमत तथा अन्य नीति क्या है। सभी फर्में अपनी नीति निर्धारण करते समय एक दूसरे की नीति का पूरा ध्यान रखती हैं। चूँकि सभी फर्म यह जानती हैं कि दूसरी फर्में भी उनकी कार्य विधि पर नजर रखती हैं इसलिए एक फर्म के लिए यह जरूरी है कि कोई भी निर्णय लेने से पहले दूसरी फर्मों की प्रतिक्रिया क्या होगी इसका आकलन करें।

4. एकरूपता का अभाव– अल्पाधिकार में सभी फर्में एक समान आकार की नहीं होती। कुछ फर्में अन्य फर्मों की तुलना में बड़ी हो सकती हैं। सभी फर्में एक समान वस्तुओं का उत्पादन भी नहीं करती है। कुछ फर्मों का बाजार में बोल-बोला होता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि बाजार में उसका हिस्सा क्या है।

5. विज्ञापन एवं विक्रय लागत– अल्पाधिकार फर्म विज्ञापन एवं विक्रय में बहुत ज्यादा पैसे खर्च करती हैं। विज्ञापन एवं विक्रय लागत कुल लागत का एक बड़ा हिस्सा होता है। बहुत अधिक प्रतियोगिता होने के कारण सभी फर्में बाजार की कुल माँग का बड़ा हिस्स अपनी ओर आकर्षित करना चाहती हैं। अल्पाधिकार फर्में विज्ञापन के जरिये अपने उत्पाद को दूसरे उत्पादों से श्रेष्ठ साबित करना चाहती है। विज्ञापन के साथ बिक्री बढ़ाने की अन्य विधियों पर भी अल्पाधिकार फर्में बहुत अधिक खर्च करती हैं।

6. कीमत जड़ता– अल्पाधिकार बाजार व्यवस्था में समान्यतः कीमत बदलने की प्रवृत्ति नही पाई जाती है। सभी फर्में एक दूसरे की नीतियों पर विचार करके एवं एक दूसरे की संभावित प्रतिक्रियाओं का आकलन करने के बाद ही अपनी कीमत नीति का निर्धारण करती हैं। अतः कीमत में बार बार बदलाव नही देखा जाता। अल्पाधिकार फर्में कीमत कम नही करती क्योंकि उन्हें पता होता है कि यदि वह कीमत कम करेंगी तो प्रतियोगी फर्म भी कीमत कम कर देगी तथा कीमत-युद्ध की स्थिति में आ सकती है। इसी प्रकार कीमत वृद्धि से उसकी वस्तुओं की मांग में कमी, इसलिए अल्पाधिकार फर्में बार बार अपनी कीमतों में परिवर्तन नही करती हैं।

7. निकट प्रतियोगिता– फर्मों की सीमित संख्या होने के कारण इनके बीच निकट प्रतियोगिता पायी जाती है। प्रत्येक फर्म अपने प्रतिद्धन्दी की कार्य-विधि पर प्रतिक्रिया करती है। सभी फर्में दूसरी फर्मों की नीति एवं आने वाले उत्पाद के बारे में जानने की कोशिश करती हैं। सभी अल्पाधिकारी फर्मों अपने उत्पाद को दूसरे उत्पादों से अलग एवं श्रेष्ठ बताती हैं। सभी फर्मों यह भी जानती हैं कि उनके द्वारा किये गये कीमत एवं उत्पादन में परिवर्तनों पर दूसरी फर्में प्रतिक्रिया करेंगी।

8. प्रवेश प्रतिबंध– अल्पाधिकार में नये फर्म के लिए प्रवेश कठिन है। उपस्थित फर्मों का बाजार में वर्चस्व होता है। नयी फर्मों के लिए दो प्रकार का प्रतिबंध होता है– प्राकृतिक प्रतिबंध एवं फर्म–निर्मित प्रतिबंध। बड़े फर्मों को पैमाने की मितव्ययिता का लाभ प्राप्त होता है। अल्पाधिकारी फर्में नयी फर्मों को रोकने के लिए अधिग्राही कीमत, स्थापना लागत तथा ब्रॉड की प्रभुता जैसी नीतियों का प्रयोग करती हैं।

स्व-अभ्यास हेतु प्रश्न

1. अल्पाधिकार बाजार व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इनके मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।
2. अल्पाधिकार बाजार किस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता एंव एकाधिकारी प्रतियोगिता बाजारों से भिन्न हैं?

अल्पाधिकार के अस्तित्व के कारण (Causes for the existence of oligopoly)

अल्पपाधिकार के अस्तित्व के कई कारण हैं। इनके प्रकृति के आधार पर इन्हे दो भागों में विभाजित कियाजा सकता है– प्राकृतिक एंव फर्म निर्मित कारण।

प्राकृतिक कारण (Causes for the existence of oligopoly)

(क) पैमाने की मितव्ययिता : पहले से उपस्थित बड़े फर्में बाजार में अपने वर्चस्व के कारण श्रम विभाजन का लाभ उठाती हैं। अधिक मात्रा में उत्पादन करने के कारण पैमाने की मितव्ययिता का भी लाभ होता है। पैमाने की मितव्ययिता प्राप्त होने के कारण इन फर्मों की औसत उत्पाद लागत गिरती रहती है। अतः नये फर्में के लिए अल्पाधिकार बाजार में प्रवेश करना कठिन हो जाता है। परिणामस्वरूप अल्पाधिकार बाजार में कुछ–एक फर्म के बीच ही प्रतियोगिता होती है।

(ख) स्थिर लागत : अल्पाधिकार बाजार में फर्में-बड़े आकार की होती हैं। बड़ी फर्में स्थापित करने के लिए अधिक स्थिर लागत चाहिए होता है। नई फर्म के लिए अधिकर स्थिर लागत वाला उद्योग शुरू करना लाभप्रद नही होता है क्योंकि उसका बाजार में हिस्सा कम या नहीं के समान होता है। बड़े स्थिर लागात के कारण कुल औसत लागत बढ़ने लगता है। ऐसी स्थिति में नई फर्म के लिए उपस्थित फर्मों से बराबरी करना संभव नही होता। अतः अल्पाधिकार में फर्मों की संख्या सीमित रह जाती है।

(ग) कार्यक्षेत्र की मितव्ययिता : बड़ी फर्मों को अवसर की मितव्ययिता का भी लाभ प्राप्त होता है। बड़ी फर्में कई वस्तु का उत्पादन करती हैं। अपने ऊचे स्थिर लागत को वे विभिन्न वस्तुओं के बीच वितरित कर सकती हैं जो कि नई फर्म के लिए संभव नही होता। उदाहरणार्थ– हिंदुस्तान लिवर लिमिटेट कई साबुन एवं अन्य साज-सज्जा के लिए उत्पादों को बनाता है। किसी नई फर्म के लिए इतने सारे उत्पादो के साथ बाजार में आना और अपना नाम स्थापित करना आसान नही होगा कार्यक्षेत्र की मितव्ययिता के लिए फर्म का आकार बड़ा होना जरूरी है। इससे वह अपने गैर उत्पादन लागत को विभिन्न उत्पादों में विभाजित कर सकता है। अतः सीमित संख्या में बड़ी फर्म ही बाजार में लंबे समय तक टिक सकती है। फलस्वरूप, बाजार अल्पाधिकार बन जाता है।

फर्म-निर्मित कारण (Firm-created Causes of Oligopoly)

एक अल्पाधिकार फर्म के लिए सटीक व्युह- रचना जरूरी है। जैसा कि हमने पहले भी कहा कि सभी फर्मों को एक दूसरे की नीति निर्धारण का ध्यान रखना होता है। जो फर्में इसमें असफल होती है उन्हें बाजार छोड़कर जाना पड़ता है। फर्मों की संख्या कम होने पर बाकी फर्मों का औसत आकार बढ़ता है। बड़ी फर्में जिनका बाजार में वर्चस्व होता है वे छोटी छोटी फर्मों को या तो खरीद लेती हैं या अपने मे उनका विलय कर लेती हैं। अल्पाधिकार फर्म जो बाजार में लम्बे समय तक रह पाती हैं वे असामान्य लाभ कमाती है। असामान्य लाभ बाजार में नई फर्मों को आकर्षित कर सकता है जब तक की उपस्थित फर्म आने वाली नई फर्मों को रोक नही पाती। नई फर्मों को रोकने के लिए कई बार अल्पाधिकारी फर्में अधिग्राही कीमतों जैसे नीति का प्रयोग करती हैं। नये फर्मों का प्रवेश प्रतिबंध करने का प्रमुख फर्में द्वारा निर्मित नीतियाँ इस प्रकार हैं– अधिग्राही कीमतें, ब्रॉड की प्रभुता, स्थापना लागत इत्यादि।

स्व-अभ्यास हेतु प्रश्न

1. अल्पाधिकार के अस्तित्व के क्या कारण है?
2. अल्पाधिकार के अस्तित्व के प्राकृतिक कारण क्या हैं? किस प्रकार उपस्थित फर्में नई फर्मों का प्रवेश प्रतिबंधित करती हैं?

अल्पाधिकार में कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण (Price and Output determination under Oligopoly)

अन्य बाजार व्यवस्थाओं की तरह अल्पाधिकार बाजार में कीमत तथा उत्पादन अनिर्धारणीय होता है। परस्पर निर्भरता एवं प्रतिस्पर्धा के कारण बाजार में हमेश अस्थिरता बनी रहती है। ऐसी स्थिति के कारण, दूसरे बाजारों की तरह संतुलन कीमत स्तर एवं उत्पादन स्तर के निर्धारण के लिए किसी स्थाई कीमत सिद्धांत का निर्माण संभव नही हो पाया है जो कि सभी अल्पाधिकारी परिस्थितियों में समान रूप से लागू हो सके। एक अल्पाधिकारी यह कभी नही मान सकता कि उसके प्रतिद्वंदी इनके द्वारा किये गये कीमत एवं उत्पादन परिवर्तन पर प्रतिक्रिया नही करेंगे। अल्पाधिकार फर्में अपने वस्तु की माँग का सही पूर्वानुमान नही लगा सकती अतः इनके माँग वक्र अनिर्धारणीय होते हैं। कीमत में परिवर्तन के साथ साथ इनके मांग वक्र में भी परिवर्तन होता है। एक स्थाई मांग वक्र (औसत आगत वक्र) के अभाव में संतुलन कीमत एवं उत्पादन का निर्धारण संभव नही हो पाता। इतनी अनिश्चितता के बावजूद अर्थशास्त्रियों ने अल्पाधिकारी फर्म के व्यवहार को समझने के लिए कई मॉडलों का प्रतिपादन किया है। इन मॉडलों को दृष्टिकोण के आधार पर निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

1. कुछ अर्थशास्त्री अल्पाधिकारियों के बीच परस्पर निर्भरता को नजरअंदाज करते हैं इनके अनुसार अल्पधिकारी अपने मांग वक्र का अनुमान लगा सकते हैं। माँग वक्र की उपस्थिति में संतुलन कीमत एवं उत्पादन का स्तर निर्धारित किया जा सकता है।

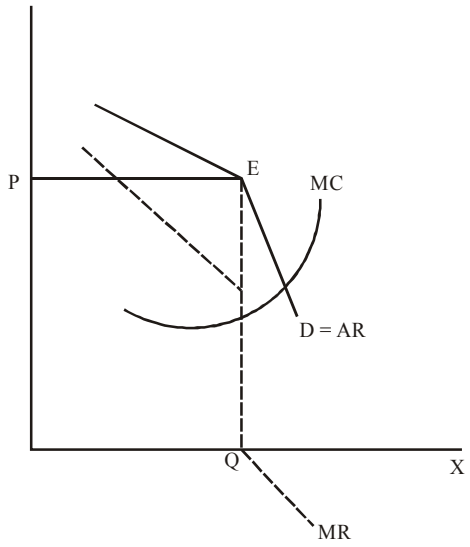
2. दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार अल्पाधिकार बाजार में फर्में औपचारिक साँठ-गाँठ के द्वारा समुह में काम करती हैं। औपचारिक साँठ-गाँठ यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो तो उसे कार्टल (Cartel) कहा जाता है। इसमें एक फर्म जिसका बाजार में अधिक हिस्सा होता है, नेतृत्व करती हैं। इन्हें कीमत नेतृत्व मॉडल भी कहा जाता है।

3. तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार एक अल्पाधिकारी अपने प्रतियोगी की नीति निर्धारण या प्रतिक्रिया का अनुमान लगा सकती है। इसी स्थिति में कीमत से उत्पादन के निर्धारण में अनिश्चितता की समस्या का समाधान हो जाता है। इस वर्ग में कुछ बहुचर्चित मॉडल हैं इनमें चेम्बरलिन मॉडल, कुर्नो मॉडल, एक स्वीजी मॉडल मुख्य हैं।

विकुंचित मांग वक्र विश्लेषण (Kinked Demand Curve Analysis)

स्वीजी का मॉडल (Sweezy's Model) विकुंचित मांग वक्र विश्लेषण पर आधारित है। स्वीजि के अनुसार अल्पाधिकार में प्रतियोगी कीमत में कमी पर प्रतिक्रिया करते हैं न कि कीमत में वृद्धि पर। सामान्यतः अल्पाधिकार में फर्में कीमत में परिवर्तन नही करती। अल्पाधिकार में कीमत जड़ता पायी जाती है। कीमत जड़ता को विकुंचित मांग वक्र की सहायता से समझा जा सकता है।

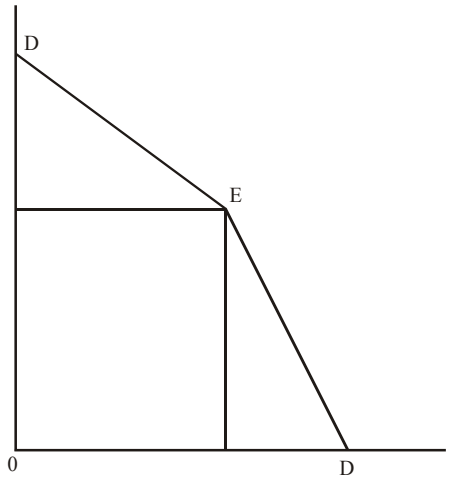
चित्र 1. स्वीजी का विकंचित मांग वक्र



चित्र 1 में मांग वक्र DED, एक विकुंचित मांग वक्र है जो कि बिंदु E पर विकुंचित है। मांग वक्र का ऊपरी हिस्सा DE ज्यादा लोचदार है। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी फर्म अपने प्रतियोगी द्वारा कीमत वृद्धि को अपनाये नहीं। कीमत वृद्धि पर प्रतिक्रिया का तात्पर्य अपने बिक्री एवं आगम को कम करना है। मांग वक्र का निचला हिस्सा अपेक्षाकृत कम लोचदार है, जिसका तात्पर्य यह है कि एक फर्म द्वारा कीमत में कमी से मांग में उस अनुपात में वृद्धि नही होगी, तत्पश्चात आगम में कमी होगी। विकुंचित मांग वक्र से यह

समझा जा सकता है कि कीमत वृद्धि या कमी दोनो ही स्थिति में फर्म को कोई लाभ नही है। अतः सभी के लिए अच्छा होगा कि वे विकुंचित बिंदु पर उत्पादन करें। जिसे अल्पाधिकारी के लिए संतुलन बिंदु माना जा सकता है। एकाधिकारी का संतुलन मांग अथवा औसत आगम वक्र की सहायता से भी दिखाया जा सकता है। जब तक कि एकाधिकारी के लिए संतुलन बिंदु पर औसत आगम औसत कम हो। ऐसी स्थिति में उन्हें लाभ होगा। ऐसे विश्लेषण के लिए सीमान्त लागत को शामिल भी करते हैं तो संतुलन बिंदु पर कोई असर नही होता अर्थात संतुलन तब भी विकुंचित बिंदु पर ही होगा। अगले चित्र में सीमांत आगम व सीमान्त लागत की सहायता से एकाधिकारी के संतुलन को दर्शाया जा सकता है।

चित्र 2. सीमांत एवं सीमांत लागत के द्वारा संतुलन



चित्र दो में सीमांत आगम एवं सीमांत लागत की सहायता से एकाधिकारी संतुलन को दर्शाया गया है। विकुंचित माँग वक्र ज्ञात होने के बाद अल्पाधिकारी का संतुलन स्थापित करना आसान है। ऊपर चित्र में बिंदु E संतुलन बिंदु है, जो कि स्थायी है। बिंदु E पर सीमांत लागत वक्र सीमांत आगत वक्र को विकुंचित बिंदु पर काटता है। सीमांत आगम एवं सीमांत लागत वक्र में संतुलन नही बदलता है। चित्र 2 में भी संतुलन बिंदु E है जो कि चित्र 1 में था। कीमत तथा उत्पादन में भी कोई बदलाव नही होता है।

विकुंचित मांग वक्र विश्लेषण में स्वीजी की व्यवहारिक मान्याताओं पर संदेह किया जाता रहा है। इस आधार पर कुछ अर्थशास्त्री विकुंचित मांग वक्र विश्लेषण की आलोचना भी करते हैं। इस विश्लेषण में यह पूर्णरूप से स्पष्ट नही है कि विकुंचित मांग वक्र निध ार्रण कैसे होता है। हालांकि मांग वक्र के निर्धारण के बाद साम्य का निर्धारण सहज है।

स्व-अभ्यास के हेतु प्रश्न

1. विकुंचित मांग वक्र की सहायता से कीमत जड़ता को समझाइये।
2. सीमांत आगत एवं सीमान्त लागत की सहायता से अल्पाधिकार बाजार के संतुलन दर्शाइए।

सहयोगपूर्ण-असहयोगपूर्ण व्यवहार एवं गेम सिद्धांत।

अल्पाधिकार में सहयोगपूर्ण व्यवहार उस अवस्था को कहा जाता है जब फर्में संयुक्त से अपना नीति-निर्धारण करती है तथा अपनी संयुक्त लाभ को अधिकतम बनाती हैं। ऐसी अवस्था को कपटपूर्ण समझौता कहा जाता है। ऐसे समझौतों में एक फर्म के लिए यह लाभदायक होगा यदि वह कपटपूर्ण तरीके से अपनी कीमत कम करके बाजार में वर्चस्व स्थापित करना चाहती है। यह तब तक संभव है जब तक उसके दूसरे सहयोगी अपनी कीमत कम नही करते। असहयोगपूर्ण व्यवहार वह अवस्था है जिसमें फर्मों के बीच कोई समझौता नही होता, वे अपनी कीमतें अलग अलग निर्धारित करते हैं तथा परस्पर प्रतियोगिता करते हैं। अल्पाधिकार में जब फर्में असहयोगपूर्ण व्यवहार से संतुलन पर पहुचती हैं उसे नैश संतुलन (Nash Eqniligbrium)कहा जाता है। ऐसे संतुलन का निर्धारण सबसे पहले अमेरिकन गणितज्ञ ज्ञान (John Nash) नेश ने किया।

अल्पाधिकार बाजार में फर्म हमेशा दुविधा की स्थिति में होती है। सहयोग एंव प्रतिस्पर्धा के बीच दुविधा बनी रहती है। अगर वे परस्पर सहयोग करते हैं तो अधिकतम लाभ कमा सकते हैं एवं प्रतिस्पर्धा को स्थिति में लाभ कम हो जाता है। गेम सिद्धांत के एक उदाहरण के द्वारा फर्मों के भ्रम की स्थिति का वर्णन किया जा सकता है। गेम से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जिसमें दो या अधिक

व्यक्ति या संस्था प्रतिस्पर्धा करते हैं। गेम सिद्धांत के अनुसार इस गेम में खिलाड़ी चाहे तो प्रतिस्पर्धा भी कर सकते है, या सहयोग भी। इस गेम में प्रत्येक चाल को रणनीति कहा जाता है। रणनीति से हमारा अभिप्राय उन सभी चालों से है, जो कि एक फर्म द्वारा विभिन्न संभावनाओं को ध्यान में रखकर चली जाती हैं। यहाँ हम ऐसे गेम की बात करेगें जिसमे सिर्फ दो फर्म हैं जो कि इस प्रकार हैं–

चित्र 3. एक एकाधिकारी फर्म का सहयोग एवं प्रतिस्पर्धा करने के बीच दुविधा

	फर्म A का उत्पादन	
	एकाधिकार का आधा उत्पादन	एकाधिकार का 2/3 उत्पादन
एकाधिकार का आधा उत्पादन	20, 20	15, 22
एकाधिकार का 2/3 उत्पादन	22, 15	17, 17

ऊपर चित्र 3 में एकाधिकारी फर्म का सहयोग एंव प्रतिस्पर्धा के बीच दुविधा को प्रदर्शित किया गया है। यह एक प्रतिफल मैट्रिक्स **(Payoff Matrix)** के रूप में है। प्रत्येक बाक्स में दाहिने तरफ का अंक फर्म A लाभ (करोड़ रूपये) तथा बाए तरफ का अंक फर्म B के लाभ को अंकित करता है। इस प्रतिफल मैट्रिक्स से यह ज्ञात होता है कि यदि दानों फर्म सहयोग करती हैं तो बराबर उत्पादन करेंगे तथा प्रत्येक फर्म को अधिकतम लाभ जो कि 30 करोड़ रुपये का होगा। यदि फर्म A धोखा देता है और दो तिहाई उत्पादन करता है एवं फर्म B आधा उत्पादन करता है तो फर्म A को 22 करोड़ रुपये तथा फर्म B को 15 करोड़ रूपये लाभ होता है। इसी प्रकार यदि फर्म B धोखा देकर दो तिहाई उत्पादन करता है और फर्म A आधा तो उसका उल्टा होगा यानी कि फर्म B को 22 करोड़ रुपये तथ फर्म A को 15 करोड़ रुपये लाभ होगा। यहाँ समझने वाली बात यह है कि यदि एक फर्म धोखा देकर दो तिहाई उत्पादन करके अधिक लाभ कमा सकती है। तो दूसरा आधा ही उत्पादन क्यों करेगी। यदि दोनों फर्म दो तिहाई उत्पादन करती हैं तो दोनों फर्मों को 17 करोड़ रूपये के बराबर लाभ प्राप्त होगा। अतः प्रतिस्पर्धा करने पर उनका लाभ घट जाता है कि सहयोग करने पर दोनों को 20 करोड़ रूपये का लाभ होता है। ऐसे गेम जहाँ फर्म असहयोगपूर्ण संतुलन प्राप्त करता है जबकि वे सहयोग कर सकते थे को कैदियों की दुविधा (Prisoner's Dilemma) कहा जाता है। प्रिजनर्स डिलेमा का वर्णन विस्तृत रूप से नीचे किया गया है।

चित्र 4. कैदियों की दुविधा (Prisoner's Dilemma)

	राम	
	स्वीकार	अस्वीकार
स्वीकार	6 6	15 22
अस्वीकार	9 0	1 1

दो कैदी राम और श्याम किसी जुर्म के लिए हिरासत में लिये जाते हैं। गवाह के अभाव में इन्हें दोषी साबित करना मुश्किल हो रहा है। उन्हें अलग-अलग जगह पर पूछताछ की जाती है एवं निम्नलिखित बातें बताई जाती हैं

(क) अगर दोनों अपने को निर्दोष बताते हैं तो दोनों को एक-एक साल की कैद होगी।

(ख) यदि एक जुर्म स्वीकार करता है और दूसरा नही तो स्वीकार करने वाले को छोड दिया जाएगा जबकि नहीं स्वीकार करने वाले को 9 वर्ष की सजा एवं

(ग) यदि दोनो जुर्म स्वीकार करते हैं तो, दोनों को 6 वर्ष की कैद होगी

ऊपर चित्र 4 में प्रतिफल मैट्रिक्स की मदद से इन दोनों कैदियों की भ्रम की स्थिति को प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रतिफल मैट्रिक्स से यह ज्ञात होता है कि यदि दोनो कैदियों में से कोई भी जुर्म स्वीकार नही करता है तो दोनों को एक-एक वर्ष की सजा होगी परन्तु यदि राम जुर्म स्वीकार करता हैं और श्याम जुर्म स्वीकार नही करता है तो राम को छोड़ दिया जाएगा एवं श्याम को 9 वर्ष की सजा होगी। इसके विपरीत यदि श्याम जुर्म स्वीकार करता है और राम स्वीकार नही करता तो श्याम को छोड़ दिया जाएगा एवं राम को 9 वर्ष की सजा होगी। यदि दोनों कैदी जुर्म को स्वीकार करते हैं तो दोनों को 6 वर्ष की सजा होगी। इस खेल में दोनों खिलाड़ियों के लिए सर्वोत्तम विकल्प जुर्म को स्वीकार नही करना होगा, इसे पेरिटो एफिशिइन्ट उपाय **(Pareto Effiient solution)** कहते हैं, परन्तु इससे किसी एक खिलाड़ी के लिए हमेशा अस्थिरता बनी रहती है। एक खिलाड़ी के द्वारा जुर्म अस्वीकार करने पर यदि दूसरा उसे स्वीकार कर लेता है तो पहले खिलाड़ी को 9 वर्ष की सजा एंव दूसरे को सजा नही होती है। इसलिए यह एक स्थाई संतुलन नही है। इस अस्थिरता के कारण यदि दोनों कैदी जुर्म स्वीाकर करते हैं तो दोनों को 6 वर्ष की सजा होगी, ऐसे संतुलन को

नैश संतुलन (Nash Equilibrium) कहा जाता है। ऊपर दोनों उदाहरण से यह स्पष्ट है कि एकाधिकार बाजार व्यवस्था में फर्म को सहयोग की स्थिति में लाभ होगा न कि प्रतिस्पर्धा से।

सहयोगी व्यवहार के प्रकार

अल्पाधिकार फर्में गला-काट प्रतियोगिता एवं कीमत युद्ध से बचने के लिए कई बार आपस में समझौता करती हैं। अल्पाधिकारी फर्मों के बीच दो प्रकार के समझौते होते हैं।

(क) औपचारिक समझौता– जब अल्पाधिकारी फर्में संयुक्त रूप से कीमत एंव उत्पादन का निर्धारण करती हैं तो उसे औपचारिक समझौता कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे समझौतों को कार्टल (Cartel) कहा जाता हैं। 1973 में अरब देशों ने ऐसे ही समझौता करके OPEC संगठन का निर्माण किया।

(ख) मौन सहयोग– औपचारिक समझौतों के नही होने की स्थिति में अल्पाधिकारी फर्में कई बार मौन सहयोग करती हैं। औपचारिक समझौते के बिना भी फर्में साम्य करके अपने लाभ को अधिकतम कर सकती हैं।

प्रतिस्पर्धा व्यवहार के प्रकार

(क) बाजार में हिस्सेदारी के लिए प्रतियोगिता– अल्पाधिकारी फर्में बाजार में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए प्रतिस्पर्धा करती हैं। विज्ञापन एवं प्रचार के माध्यम से अपने उत्पाद की बिक्री बढ़ाती हैं।

(ख) अति-दीर्घकालीन प्रतियोगिता– दीर्घकाल में अल्पाधिकारी फर्में अपने उत्पादों में परिवर्तन करती हैं। अपने उत्पादों की गुणवत्ता में वृद्धि करने के लिए वे नयी तकनीक से उत्पादन करते हैं। बाजार में अपने वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए कई बार अल्पाधिकारी फर्में अल्पकाल में अपनी कीमतों मे कमी भी लाती हैं। दीर्घकाल में उन्हें इसका लाभ होता है।

स्व-अभ्यास हेतु प्रश्न

1. दो कैदियों के बीच दुविधा का वर्णन करें।

दीर्घकालीन व्यवहार, प्रवेश प्रतिबंध का महत्त्व

किसी भी बाजार व्यवस्था में यदि फर्म दीर्घकाल में असामान्य लाभ कमाती है तो नई फर्म उस बाजार की ओर आकर्षित होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में चूँकि फर्मों का प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नही होता इसलिए दीर्घकाल में इस बाजार में फर्म को असामान्य लाभ नही हो सकता। अल्पाधिकार में नई फर्म के प्रवेश पर प्रतिबंध होता है। जैसा कि पहले भी हमने चर्चा की है ये प्रतिबंध दो प्रकार के होते हैं प्राकृतिक एंव फर्म-निर्मित प्रतिबंध। उपस्थित फर्मों के लिए यह जरूरी है कि वे नई फर्म के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाये यदि वे दीर्घकाल में असामान्य लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। प्राकृतिक प्रतिबंध के अतिरिक्त एकाधिकारी फर्म नये फर्मों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाती है जिन्हें फर्म-निर्मित प्रतिबंध कहते हैं। प्राकृतिक प्रतिबंधों के नहीं रहने पर एकाधिकारी फर्म नई फर्मों को रोकने के लिए कुछ प्रतिबंधों का निर्माण करती है। इनमें से कुछ प्रमुख फर्म निर्मित प्रतिबंध इस प्रकार होते हैं–

(क) ब्रान्ड की प्रभुता (Brand Poolitiration)– अल्पाधिकार बाजार में कई बार किसी फर्म की ब्राँड का इतना ज्यादा वर्चस्व हो जाता है कि नई फर्म के लिए अपने उत्पाद का नाम स्थापित करना कठिन हो जाता है। बड़ी-बड़ी अल्पाधिकारी फर्में एक ही वस्तु के अनेक प्रकार के उत्पाद बाजार में बेचते हैं। नई फर्म के लिए एक है ब्राँड के बहु-उत्पाद वाले फर्म के साथ प्रतिस्पर्धा करना संभव नही होता। उदाहरण के लिए हिंदुस्तान लीवन लिमिटेड के बाजार में अनेकों उत्पाद हैं तथा वो एक ब्राँड से जिससे नई फर्म प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। इसी प्रकार होरो-होण्डा का मोटरसाईकिल के बाजार में वर्चस्व है। किसी नई फर्म के लिए उस गुणवता एंव नाम के साथ बाजार में प्रवेश करना आसान नही होगा। हीरो-होण्डा के बाजार में कई सारे मॉडल हैं। उससे प्रतिस्पर्धा करने के लिए किसी फर्म को इतनी सारी मॉडल की मोटर साईकिल के साथ बाजार में आना होगा। अल्पाधिकार बाजार में ब्राँड की प्रभुता के कारण नई फर्मों का प्रवेश प्रतिबंधित होता है।

(ख) स्थापना लागत (Set-up Costs)– अल्पाधिकार फर्म नई फर्मों का प्रवेश स्थापना लागत बढ़ाकर प्रतिबंधित कर सकती है। सीमित फर्म होने के कारण अल्पाधिकार बाजार में फर्में बड़ी-बड़ी होती हैं। तीखी प्रतिस्पर्धा होने के कारण इन्हें विज्ञापन प्रचार इत्यादि पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ता हैं। सभी फर्में अपने वस्तु को सर्वोत्तम साबित करने में लगी रहती हैं। नई फर्म के लिए विज्ञापन, प्रचार इत्यादि पर इतना अधिक खर्च करना लाभदायक नही होता क्योंकि बाजार की कुल माँग का एक छोटा हिस्सा नई फर्म को मिलता है। परिणामस्वरूप ऊँची स्थापना लागत भी नई फर्मों को अल्पाधिकार बाजार में प्रवेश करने से प्रतिबंधित करती है।

(ग) अधिग्राही कीमतें (Predatory Priceng): नई फर्म के प्रवेश की संभावना होने पर एकाधिकारी फर्में अपने उत्पाद की कीमतें इतना कम कर देती है कि नई फर्म उस कीमत पर अपना उत्पाद नही बेच सकती। यदि एक नई फर्म को यह ज्ञात हो कि बाजार में प्रवेश करते ही उसे हानि होगी तो वे बाजार में प्रवेश नही करेगी। एकाधिकार फर्म के लिए ऐसा करना अल्पकाल में महंगा पड़ सकता है क्योंकि कई बार अपनी कीमत औसत परिवर्तनशील लागत से भी नीचे रखना पड़ती हैं ताकि नई फर्म बाजार में प्रवेश करने का साहस न करें। परन्तु दीर्घकाल में एकाधिकार फर्म लाभ कमाती है। जब नयी फर्म के प्रवेश की संभावना खत्म हो जाती है वे दोबारा अपने उत्पाद की कीमतें बढ़ा सकते हैं। अतः अल्पाधिकार में नई फर्म को रोकने के लिए अल्पाधिकारी फर्में अधि ाग्राही कीमतों का प्रयोग करती हैं।

प्रतिस्पर्धात्मक बाजार एवं संभावित प्रवेश (Contestable Market and potential Entry)

प्रतिस्पर्धात्मक बाजार का सिद्धांत यह बताता है कि अल्पाधिकार बाजार में दीर्घकाल में फर्मों को मिलने वाला असामान्य लाभ नई फर्म के प्रवेश की संभावना से खत्म हो सकता है। संभावित प्रवेश भी वास्तविक प्रवेश जैसा ही असामान्य लाभ को खत्म कर सकता है दीर्घकाल में एकाधिकारी फर्म को असामान्य लाभ तभी मिल सकता जब नई फर्म के प्रवेश की कोई संभावना नही हो। पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक बाजार में नई फर्म स्थापना लागत के बिना ही प्रवेश कर सकती है। बाजार में प्रवेश के लिए स्थापना लागत जितनी अधिक होगी उपस्थित फर्मों को लाभ उतना ही अधिक होगा क्योंकि नई फर्म बाजार में प्रवेश नही कर पायेगी।

अल्पाधिकार एवं बाजार तंत्र (Oligopoly and Market Mechanism)

पूर्ण प्रतियोगिता में मांग और पूर्ति की शक्तियाँ कीमत का निर्धारण करती हैं। ऐसे बाजार में सभी फर्में कीमतों का पालन करती हैं। अल्पाधिकारी फर्म अपने उत्पाद की कीमत स्वयं निर्धारित करती हैं। इस भिन्नता के बावजूद लिप्से का मानना है कि अल्पाधिकार में भी मांग एंव लागत संसाधनों का आवंटन उसी प्रकार होता है जैसे की पूर्ण प्रतियोगिता में। अतः यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि अल्पाधिकारी फर्में बाजार द्वारा दिए गए संकेतों की अनदेखी कर सकती हैं। एकाधिकारी फर्में भी इन संकेतों को मानती हैं और इनका पालन करती हैं।

अल्पाधिकार में लाभ (Profits Under Oligopoly)

अल्पाधिकारी फर्म सहयोग करके अपने लाभ को अधिकतम कर सकती है। प्रतिस्पर्धा की स्थिति में लाभ कम हो जाते हैं। दीर्घकाल में एकाधिकारी फर्में असामान्य लाभ कमा सकती हैं या नही, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वे नई फर्मों के प्रवेश को किस सीमा तक प्रतिबंधित कर पाते हैं।

दीर्घकालीन प्रतियोगिता (Long-run Competition)

अल्पाधिकार बाजार में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए एकाधिकारी फर्म को नयी एवं गुणवत्तापूर्ण वस्तुओं का अस्वीकार करते रहना पड़ता है। उन्हे अपनी उत्पादन लागत कम करने के लिए नए नए तकनीक से उत्पादन करना पड़ता है। अपने उत्पाद की बिक्री बढ़ाने के नये नये तरीके अपनाने पड़ते हैं। दीर्घकाल में वे अपने उत्पाद की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए शोध पर भी काफी पैसा खर्च करते हैं। समय के बदलाव के साथ-साथ वे नये उत्पाद बाजार में प्रस्तुत करते रहते हैं। दीर्घकाल में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए एकाधिकारी फर्म के लिए ऐसा करना आवश्यक होता है।

स्व-अभ्यास हेतु प्रश्न

1. अल्पाधिकारी फर्मों के दीर्घकालीन व्यवहार का वर्णन करें।
2. दीर्घकाल में एक अल्पाधिकारी फर्म के लिए प्रवेश प्रतिबंध का क्या महत्त्व है?